गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (सप्तमोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

अंक ७, मार्च २००७

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-शोध-भारती

षाणमासिकी शोधपत्रिका (सप्तमोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

अंक ७, मार्च २००७

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक-मण्डल

एक प्रति का मूल्य — रु० ७५.००

वार्षिकमूल्य — रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये

पञ्चवार्षिकमूल्य — रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा पुस्तकालयाध्यक्ष के नाम धनादेश प्रेषित करें।)

विषयानुक्रमणिका

सांख्यदर्शन की वेदमूलकता

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री

आचार्य मनु का स्पष्ट मन्तव्य है कि वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूल है,[१] वह सर्वज्ञानमय है[२]। कहने का आशय यह है कि वेद में सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है। वेद भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो भी सुविज्ञान है, वह लोगों के जानने के लिये है, सत् और असत् परस्पर विरोधी हैं। इनमें से सत् अर्थात् ऋजु अर्थात् जो सरल है, उसकी प्रभु रक्षा करते हैं, जबकि असत् का वह नाश करते हैं।[३] यहाँ सत् और असत् का प्रतिपादन किया गया है। वेद की दृष्टि में सत् वह है, जिसका कभी अभाव नहीं होता है। सांख्य में भी सत् वह है, जिसका रूपान्तरण भले ही हो जाए, परन्तु अभाव न हो, वह सत् है। इसी तथ्य को सांख्य में सत्कार्यवाद के नाम से अभिहित किया गया है।[४]

सृष्टिपूर्वस्थिति का वर्णन करता हुआ नासदीयसूक्त का ऋषि कहता है कि उस समय न '**असत्**' था और न '**सत्**'।"[५] असत् और सत् के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए योगसूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास कहते हैं कि प्रधान को '**असत्**' इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अभाव नहीं है और '**सत्**' इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक चिह्न नहीं है।[६] प्रकृति की सत्ता पुरुष के भोग और अपवर्ग में निहित है और सर्ग से पूर्व प्रलयावस्था में पुरुष का पुरुषार्थ सुप्त रहता है, इसलिये प्रकृति '**सत्**' होते हुए भी '**असत्**' है और '**असत्**' होते हुए भी '**सत्**' है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रकृति '**असत्**' इसलिये नहीं थी कि वह परमार्थ '**सत्**' है और '**सत्**' इसलिये नहीं थी कि उसका व्यवहार नहीं था।

वेद का ऋषि प्रलयकालीन अवस्था में असत् और सत् का निषेध करता है, जबकि छान्दोग्योपनिषद् में प्रलयकालीन स्थिति का वर्णन '**असत्**' से किया है।[७] आचार्य शङ्कर प्रस्तुत स्थल पर '**असत्**' को स्पष्ट करते हुए

---

१. मनु०२.६ वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

२. मनु०२.७.

३. अथर्व०८.४.१२; ऋ०७.१०४.१२. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्।।

४. सांख्यकारिका-९ असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

५. ऋ०,१.१२९.१.

६. योगदर्शन,२.१९. 'निस्सत्ता सत्त्वं निःसदसत् निरसत अव्यक्तमलिङ्गं प्रधानम्।'

७. छान्दो०,३.१९.१. 'असदेवेदमग्र आसीत्।'

कहते हैं कि प्रागवस्था में यह जगत् नामरूप वाला था, सर्वथा असत् अर्थात् शून्य नहीं था।[८] उनकी दृष्टि में जगत् असत् के समान असत् था अर्थात् शून्य की तरह निराकार था, न कि अभावरूप।[९] जिस प्रकार अन्धकार में यह जगत् होते हुए भी नहीं के समान हो जाता है, उसी प्रकार प्रलयकाल में यह सत् होते हुए भी असत् होता है।[१०] इसलिये आगे चलकर छान्दोग्य का ऋषि कहता है कि आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय असत् ही था। उस **'असत्'** से **'सत्'** की उत्पत्ति हुई है।[११]

आचार्य शङ्कर **'असत्'** और **'सत्'** के मध्य सङ्गति बैठाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सुषुप्ति में सत्ता का भाव तिरोहित हो जाता है और सुषुप्ति से उठने के बाद वह पुरुष सुषुप्तिकाल में भी वस्तु की सत्ता का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार **'सत्'** और **'असत्'** के बीच सम्बन्ध है।[१२] अत:, **'असत्'** अभाव का वाचक न होकर **'सत्'** की शून्य के समान सूक्ष्म और निराकार अवस्था का प्रतिपादक है। आचार्य सायण भी **'असत्'** और **'सत्'** को क्रमशः अव्याकृत और व्याकृत अवस्था का वाचक मानते हैं।[१३] लेकिन नासदीयसूक्त में वे **'असत्'** का अर्थ देवादि करते हैं।[१४]

तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार प्रलयावस्था में कुछ भी नहीं था, न द्युलोक था, न अन्तरिक्ष और न पृथ्वी। उस **'असत्'** ने ही 'मन' किया कि मैं **'अस्ति'** हो जाऊँ।[१५] उक्त ब्राह्मण-वचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रलयावस्था में असत्, सत् और मनस्- ये तीन तत्त्व विद्यमान थे। कहने का आशय यह है कि उस समय असत् सत्ता रूप में विद्यमान था तथा मनस् ईक्षण या सङ्कल्परूप होने से **'असत्'** का गुण है। ऋग्वेद में **'असत्'** और **'सत्'** को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ये दक्ष के जन्म के समय अदिति की गोद में विद्यमान थे और सृष्टि की अवस्था में सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला तत्त्व 'अग्नि' था।[१६] ऋग्वेद के ऋषि का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि अदिति अर्थात् अखण्ड सत्ता के दो रूप हैं, एक **'असत्'** और दूसरा **'सत्'**। इनमें **'असत्'** के प्रथम परिगणन का कारण यह है कि **'असत्'** सत् होते हुए भी **'सत्'** का मूल है या यह कह सकते हैं कि सत् का

---

८. आचार्य शङ्कर, छान्दो०भा०,३.१९.१. 'असदव्याकृतनामरूपमिदं जगदशेषमग्रे प्रागवस्थायामुपपत्तेरासीन्न त्वसदेव।'
९. आचार्य शङ्कर, छान्दो०भा०,३.१९.१. 'अव्याकृतनामरूपत्वादसदिवासीदिति।'
१०. आचार्य शङ्कर, छान्दो०भा०,३.१९.१. 'आदित्यनिमित्तो हि लोके सदिति व्यवहार:।'
११. छान्दो०,६.२.१.
१२. आचार्य शङ्कर, छान्दो०भा०,६.२.१. 'न हि प्रागुत्पत्तेः नामवद्रूपवद्वेद्यि ग्रहीतुं शक्यं वस्तु सुषुप्तकाल इव।'
१३. आचार्य सायण, ऋग्वेदभाष्य,१०.५.७.
१४. आचार्य सायण, ऋग्वेदभाष्य,१०.१२९.२-३.
१५. तै०सं०,२.२.९.१. 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न द्यौरासीन्न पृथिवी नान्तरिक्षम्, तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति।'

१६. ऋ०,१०.९०.४. 'असच्च परम व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। अग्निर्ह न प्रथमजा ऋतस्य।'

मूल स्वभाव असत् अर्थात् शून्य सदृश निराकार है और निर्विकारता **'सत्'** का धर्म है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि **'सत्'** अर्थात् व्याकृत रूप की अपेक्षा **'असत्'** अर्थात् अव्याकृत रूप असीमित है। सम्भवतः, इसी कारण पुरुषसूक्त में पुरुष के ३/४ भाग को ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर आश्रित बताया है,[१७] जबकि १/४ भाग को व्यक्तरूप में प्रकट होने वाला बतलाया गया है।[१८] यहाँ पर अव्यक्त में रहने वाले रूप का प्रथम तथा व्यक्त होने वाले रूप का बाद में उल्लेख किया है।

ऋग्वेद के १०.७२ सूक्त में **'असत्'** से **'सत्'** की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार लुहार अग्नि को गति देता है, उसी प्रकार ब्रह्मणस्पति भी **'असत्'** को **'सत्'** होने के लिये प्रेरित करता है।[१९] सृष्टि-पूर्व-अवस्था में ये सभी प्रकाशमान साकार सूर्यादि देव सलिल में सुसंरब्ध रूप से अवस्थित थे।[२०] कहने का आशय यह है कि उस समय **'सत्'** तत्त्व सम्यक् रूप से सम अवस्था में विद्यमान था अर्थात् सब कुछ अपने कारण में लीन था। नासदीयसूक्त का ऋषि इस सत्य का प्रतिपादन और स्पष्टता के साथ करता हुआ कहता है कि **'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्'**[२१] सत् असत् का बन्धु है अर्थात् **'असत्'** से **'सत्'** का कभी विच्छेद नहीं होता। असत् में सत् का अस्तित्व है, निराकार में साकार है। निराकार के विना साकार सम्भव नहीं है। साकार में भी निराकार है। निराकार व्यापक है और साकार व्यापि। असत् व्यापक है और सत् सीमित है। इन दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध है।[२२] असत् और सत् के मध्य में से सत् सर्वदा असत् के आश्रय से रहता है। इस प्रकार असत् और सत् मूलतः दो तत्त्व न होकर एक तत्त्व हैं। एक सिक्के दो पहलू हैं, लेकिन असत् उस मूल सत्ता का स्वभाव है, जबकि सत् विकार है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वेद और ब्राह्मण साहित्य में जहाँ कहीं असत् के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, सृष्टि को असत् से उत्पन्न होता हुआ दिखाया गया है, वहाँ निश्चित रूप से **'असत्'** अभाव का वाचक नहीं है, यह शून्य भी नहीं है। यद्यपि किसी भी अवस्था में शून्य अर्थशून्य नहीं होता है। शून्य की भी अपनी एक सत्ता होती है। गणित में शून्य एक मापक आधार का नाम है, उससे नीचे भी गणना का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार प्रलयावस्था के विषय में लोक की भाषा में कह सकते हैं कि उस समय कुछ भी नहीं होता है, जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में खेत खाली पड़े होते हैं, उस समय स्थूल लौकिक दृष्टि से

---

१७. निरु०,८.१५. 'ऊर्ध्व उच्छ्रितो भवति।'

१८. ऋ०,१०.९०.४. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।

१९. ऋ०,१०.७२.२. 'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।'

२०. ऋ०,१०.७२.६. यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥

२१. ऋ०,१०.१२९.४. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

२२. केशवमिश्र, तर्कभाषा, प्रमाणविवेचन।

उसमें कुछ भी नहीं हो रहा होता है, लेकिन कृषिशास्त्र की दृष्टि से वह क्षेत्र ऊर्जा का संचय कर रहा होता है। उसी प्रकार असत् का स्वरूप ऊपर से सत्तारहित प्रतीत होता है, लेकिन यह सत् की अव्यक्त स्थिति है, जो प्रलयावस्था में सृष्टि के लिये अपने को तैयार कर रही होती है।

सृष्टिकाल में सापेक्षता को हृदयङ्गम कर पाना अधिक सरल है, क्योंकि इस समय द्वन्द्व की स्थिति अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है, जबकि प्रलय में सापेक्षता को समझ पाना और समझकर शब्दों में अभिव्यक्त कर पाना अधिक कठिन है, सम्भवत: इस तथ्य को ध्यान में रखकर कहीं सृष्टि को असत् से उत्पन्न बताया गया है तो कहीं असत् और सत् दोनों का निषेध कर दिया गया है। यह सब प्रलयावस्था की अनिर्वचनीय स्थिति को अभिव्यक्त करने में होने वाली दुरूहता का परिणाम है। जिस स्थिति को हमने देखा है, भोगा है, उसको समझने और समझकर अभिव्यक्ति देने में अधिक कठिनाई नहीं है, लेकिन जिस स्थिति की कल्पना करना मनुष्य के लिये टेड़ी खीर हो, पहले उसको समझना ही कठिन है, यदि समझ भी लिया जाए तो उसको कह पाना और भी अधिक दुरूह है। इस विवशता के कारण कभी असत् से और कभी सत् और असत् दोनों का निषेध किया गया है।

वैदिक सिद्धान्तों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि सांख्य ने **'सत: सज्जायते'** के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वही वेद का मन्तव्य है और महर्षि कपिल ने वेद के मन्तव्य को समझने में किसी प्रकार की भूल नहीं की है।

सांख्यदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त साक्षिभाव है।[२३] उक्त सिद्धान्त के अनुसार पुरुष (जीव) प्रकृति के कार्यों का द्रष्टा और साक्षी है। पुरुष के द्रष्टा और साक्षी होने का कारण यह है कि वह अत्रिगुण (सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति के इन तीनों गुणों से रहित), विवेकी और चेतन है।[२४] कहने का आशय यह है कि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पुरुष प्रकृति के कार्यों का मात्र अवलोकन करता है। कर्ता न होते हुए अपने को कर्ता मान लेने का ही यह परिणाम है कि उसको पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में संसरण करना पड़ता है।[२५] जब पुरुष स्वस्थ (स्व में स्थित) हो जाता है, तब पुरुष **'मैंने प्रकृति को देख लिया है'**, यह सोचकर प्रकृति के प्रति उदासीन हो जाता है और प्रकृति **'मैं देख ली गयी हूँ'**, यह सोचकर जन्म-मरण के चक्र से उपरत हो जाती है।[२६]

---

२३. सांख्य०१९-तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

२४. सांख्य०११-त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

२५. सांख्य०२०-तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

२६. सांख्य०६६-दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या। सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥

वेद भी साक्षिभाव का प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी आश्रय लिये हुए हैं, इनमें से एक उस वृक्ष के फल को स्वाद लेकर खा रहा है, जबकि दूसरा उसके फल को न खाता हुआ केवल देख रहा है।[२७]

उक्त मन्त्र में ऋषि ने दो पक्षियों को एक वृक्ष पर बैठा हुआ चित्रित किया है और दोनों को एक-दूसरे का 'सखा' बताया है। मन्त्र की वर्णनशैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त मन्त्र में दो प्रकार के जीवों का वर्णन किया गया है। एक जीव वे हैं, जो प्रकृतिरूपी वृक्ष के फल का स्वाद ले रहे हैं अर्थात् संसार की मोह-माया में लिप्त हैं और दूसरे वे हैं जो प्रकृतिरूपी वृक्ष से उपरत हो गये हैं, अर्थात् संसार में द्रष्टाभाव से रह रहे हैं, जैसा कि ऊपर सांख्य सिद्धान्त के प्रतिपादन के अवसर पर निरूपित किया गया है। जो जीव साक्षिभाव का पालन करते हैं, वे जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं, जबकि सांसारिक आसक्ति से अपने को मुक्त न कर पाने वाले जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं।

पूर्वोक्त मन्त्र में पठित **'अश्नन्'** और **'अनश्नन्'** पदों से उक्त कथ्य की पुष्टि हो रही है। **'अश्नन्'** वे हैं जो भोक्ताभाव से जीवन जी रहे हैं[२८] और **'अनश्नन्'** वे हैं, जिनकी जीवनयात्रा अपने को कर्ता, भोक्ता आदि न मानते हुए मध्यस्थ या उदासीन के रूप में चल रही है। सांख्य के अनुसार प्रकृति ही कर्ता और भोक्ता है और उसीका बन्ध और मोक्ष होता है[२९] और वही ज्ञान हो जाने पर अपने से उपरत पुरुष को मुक्त कर देती है।[३०] इस प्रकार उक्त मन्त्र में सांख्य के द्विविध पुरुष का स्पष्ट उल्लेख होता हुआ दिखायी दे रहा है।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में भी कहा गया है कि जो सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में तथा अपनी आत्मा को समस्त भूतों में देखता है, फिर वह विचलित नहीं होता।[३१] सत्य का दर्शन कर लेने पर जिसके अन्तस् में सम्पूर्ण भूत आत्मा के समान हैं। इस प्रकार जो सबमें एकत्व का दर्शन करता है, उसके लिये न फिर कोई मोह है और न शोक।[३२] यह उचित ही है कि जब सब अपने हैं, तो किसके लिये मोह किया जाये और किसके न रहने पर शोक?

उक्त मन्त्र में जीवनमुक्त स्थिति का वर्णन किया गया है। पूर्वमन्त्र में **'अनश्नन्'** के माध्यम से जो वेद ने सन्देश दिया था, उसको अधिक स्पष्ट रूप से यजुर्वेद में प्रतिपादित किया गया है और यह बताया गया है कि

---

२७. ऋ०१.१६४.२० द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि ष्वस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

२८. सांख्य०२०. गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

२९. सांख्य०६२. तस्माच्च बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

३०. सांख्य०६३. रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥

३१. यजु०४०.६ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

३२. यजु०४०.७ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥

यह स्थिति तभी सम्भव है कि जब कोई सत्य का साक्षात्कार कर ले, इस आशय को प्रकट करने के लिये मन्त्र में **'विजानतः'** पद पठित है। जो सत्य को उपलब्ध हो जाता है, फिर वह किसी एक का होकर नहीं रह सकता। उसका प्रत्येक के साथ अद्वैतभाव हो जाता है। मन्त्र में पठित **'विजानतः'** पद यह संकेत कर रहा है कि जो जान रहा है, वही सबको अपनी आत्मा मान सकता है। कहने का आशय यह है कि जो निर्विकल्पक समाधि में पहुँच कर स्व-पर भेद को तिरोहित कर चुका है, उसके लिये वेद ने **'विजानतः'** पद का प्रयोग किया है। **'विजानतः'** पद के मन्तव्य को मन्त्र का **'एकत्वमनुपश्यतः'** यह वाक्य और अधिक स्पष्ट रूप से निरूपित कर रहा है। सबमें एकत्व का दर्शन ही सांख्य का साक्षिभाव है। वस्तुतः साक्षिभाव की साधना करने वाला ही मोह और शोक से छूट सकता है, क्योंकि उसके लिये न कोई अपना है और न पराया।

सांख्यदर्शन का स्पष्ट अभिमत रहा है कि लौकिक और आनुश्रविक उपायों से त्रिविध दुःखों का नाश नहीं हो सकता।[३३] सांख्य की दृष्टि में दुःखों से छूटने का एकमात्र मार्ग या उपाय है-व्यक्त प्रकृति, अव्यक्त प्रकृति और पुरुष- इन तीनों का ज्ञान है।[३४] यदि दूसरे शब्दों में कहा जाए तो कह सकते हैं कि सांख्य मुक्ति प्राप्त करने का उपाय केवल ज्ञान को मानता है। इसका कारण यह है कि सांख्य का पुरुष निष्क्रिय है, वह तो प्रकृति के संयोग से सक्रिय जैसा प्रतीत होता है।[३५] सामान्य रूप से दार्शनिक सम्प्रदाय आत्मा को अजर-अमर मानते हैं, जब वह अजर और अमर है, तब वह निर्विकार भी है और जो निर्विकारी है, उसे किसी भी प्रकार के विकार से प्राप्त नहीं किया जा सकता। समस्त कर्मकाण्ड, यहाँ तक कि योग भी, क्रियापरक होने के कारण त्रिविध दुःख की मुक्ति का हेतु नहीं हो सकता। इसलिये सांख्यों की मान्यता रही है कि मुक्ति केवल ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है।

वेद का मार्ग भी ज्ञान का मार्ग है। वेद शब्द स्वयं वेदना, संवेदना आदि के माध्यम से अनुभूतिपरक ज्ञान को संकेतित कर रहा है। श्रुति और वेद में बहुत भेद है। मन्त्रगत कोई भी सूचना श्रुति हो सकती है, जब वह सूचना प्रत्यक्ष हो जाती है अर्थात् अनुभव का विषय बन जाती है, तब वह वेद नाम से अभिहित होती है। इसलिये वेद में अनेकशः जानने के लिये, जागने के लिये उद्बोधन किया गया है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में उत्तरनारायण ऋषि कहते हैं कि अन्धकार से परे आदित्यवर्ण के महान् पुरुष को मैं जानता हूँ। उस पुरुष को जानने के बाद ही कोई मृत्यु के पार जा सकता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं

---

३३. सांख्य-१ दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्ततोऽत्यन्तताऽभावात्॥ सांख्य-२ दृष्टवदनुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

३४. सांख्य-१ तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥

३५. सांख्य०२०-तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ गीता-३.२७ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

है।[३६] उक्त मन्त्र का आशय यह है कि विना जाने अर्थात् विना ज्ञान के मृत्यु के पार नहीं जाया जा सकता है। सांख्य का भी यही मन्तव्य है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि ऋचा के अक्षर ही परम व्योम है, उसमें समस्त देवता निवास करते हैं। जो उस (परम तत्त्व) को नहीं जानता, उसके लिये ऋचा व्यर्थ है और जो उसको जानता है, उसका उसीमें समाहार हो जाता है।[३७] ज्ञान की परिणति ज्ञानरूपा होती है, जो ज्ञान को उपलब्ध होता है, वह ज्ञानस्वरूप हो जाता है। ब्रह्म के विषय में यह कहा जाता है-'**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**' समाधि अवस्था में ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्ममय हो जाता है। ऐतरेय आरण्यक कहता है कि यह 'ब्रह्म' महान् परमात्मा का नाम है, जो इस नाम को इस प्रकार जानता है, वह ब्रह्म हो जाता है।[३८] तैत्तिरीय आरण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्म को विज्ञान कहती हैं।[३९] एक अन्य स्थान पर तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्म को सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनन्त बतलाती है।[४०] इस प्रकार कहने का आशय यह है कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को ज्ञान से ही पाया जा सकता है। अतः सांख्य का सिद्धान्त अपने आप में अत्यन्त युक्तिसंगत है। प्रस्तुत प्रकरण में महर्षि दयानन्द कहते हैं-'जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्यज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके उस 'विपश्चित्' अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है। यही '**मुक्ति**' कहाती है।'[४१] इस प्रकार स्पष्ट है कि मुक्ति की उपलब्धि केवल ज्ञान से होती है।

'**य ईं चकार**'[४२] इस मन्त्र की परिव्राजक पक्ष के अनुसार व्याख्या करते हुए आचार्य दुर्ग कहते हैं कि गर्भ स्थापित करने वाला वास्तव में गर्भ के रहस्य को नहीं जानता, वह तो कामी या पुत्रार्थी होकर गर्भ स्थापित करता है। लेकिन जो इसका द्रष्टा है, उसीको उदर में स्थित गर्भ का यथार्थ रूप में प्रत्यक्ष होता है, जबकि गर्भ

---

३६. यजु०३१.१८ वेदाहमेतं पुरुषमहान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

३७. ऋ०१.१६४.३९; अथर्व०९.१०.१८ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तत् विदुस्त इमे समासते॥

३८. ऐ०आ०५.३.३ तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य (परमात्मनः) नाम भवति योऽस्यैतदेवं नाम वेद ब्रह्म भवति।

३९. तै०आ०९.५.१; तै०उ०३.५.१

४०. तैत्तिरीयोपनिषद्-२.१. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

४१. स०प्र०न०समु०

४२. ऋ०१.१६४.३२; अथर्व०९.१०.१० य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो ऽन्तः बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥

स्थापित करने वाला अनेक सन्तानों को उत्पन्न करके दुःख को प्राप्त करता है।[४३] उक्त मन्त्र में **'चकार'** और **'ददर्श'** क्रियाओं के द्वारा सांख्य के साक्षिभाव तथा ज्ञान के सिद्धान्त का स्पष्ट निरूपण किया गया है। जब तक जीव कर्ता की भूमिका में रहता है, तब तक वह यथार्थ का दर्शन नहीं कर सकता और जब वह कर्ता से द्रष्टा बन जाता है, तब सत्य ज्ञान हो जाने पर उस कर्म से अपने को मुक्त कर लेता है।

उक्त मन्त्र की नैरुक्तपरक व्याख्या करते हुए आगे आचार्य दुर्ग कहते हैं कि जो वर्षा करता है या जो वर्षा के जल का क्षेप्ता है, वह मेघ वर्षा के तत्त्व को नहीं जानता कि यह उदक मेरे में कहाँ से आता है या जो मैं उदक बरसा रहा हूँ यह उदक तत्त्व क्या है? वह तो केवल उदक का विसर्जन करता है और जो अन्तरिक्ष में छिपे हुए वर्षतत्त्व को देखता है, वह इन्द्र ही वर्षा के रहस्य को जानता है।[४४] इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार की व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है कि जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता और जो ज्ञाता है वह फिर कर्ता की भूमिका को स्वीकार नहीं करता है। सांख्य में भी इसी तथ्य को रेखाङ्कित किया गया है। जब तक पुरुष अपने को कर्ता मानता है, तब तक वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हो सकता। मुक्त होने के लिये उसको व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष का यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है। मन्त्र से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि हो रही है और ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य उक्त प्रकार के मन्त्रों से प्रभावित होकर ही (व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के) विज्ञान की अवधारणा को स्थापित कर रहा है और यही विज्ञान सांख्य में आगे चलकर साक्षिभाव का आधार बनता है।

वेद कहता है कि जो अविद्या से जागता है, उसको ऋचाओं की प्राप्ति होती है, जो अविद्या से जागता है, उसे ही साम की उपलब्धि होती है और जो जागता है, उससे सोम कहता है कि मेरी तुम्हारे साथ मित्रता है, मैं तुम्हारे पास रहूँगा।[४५] कौन जागता है? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ आगे वेद कहता है कि अग्नि

---

४३. निरुक्त दुर्गवृत्ति २.८ पृ०१५४ यः करोति गर्भं न सोऽस्य गर्भस्य तत्त्वं वेद। केवलं त्वसौ कामार्तः पुत्रार्थी वा करोत्येव गर्भम्। य ईं ददर्श यश्चैनं पश्यति हिरुग् अन्तर्हितमेतस्मिन् जठरे एतस्मिन् वा शरीरे जन्तुं तस्मात्तस्यैव एष गर्भो याथात्म्यतः प्रत्यक्षो भवत्यध्यात्मशास्त्रदृष्ट्या नेतरस्य गर्भकर्तुः।

४४. निरुक्त दुर्गवृत्ति २.८ पृ०१५४-५५ यः करोति वर्षं यो वा किरति वर्षार्थे पृथिवीत्यर्थः क्षिपति। कः पुनरसौ? मेघः। स हि वर्षस्य कर्ता विक्षेप्ता वा। मेघाद्धि वर्षं प्रवर्तते। किं तस्य। न सोऽस्य वर्षस्य वर्षस्य तत्त्वं वेद कुतोऽप्येतदुदकं मय्यागच्छति। यन्मया विसृज्यते किं वोदकस्य तत्त्वमिति। केवलं त्वसौ विसृज्यत एवोदकम्। य ईं ददर्श य एव पश्यत्येद्वर्षं हिरुगिन्नु तस्मादन्तर्हितमन्तरिक्षलोके तस्मात्तस्येत्यर्थः। तस्यैव प्रत्यक्षं तद्याथात्म्यतो वर्षं नेतरस्य मेघस्य मध्यस्थानस्य। स एव ह्यस्य वर्षस्य सतत्त्वं वेद यो ददर्श यः पश्यत्यादित्यरश्म्यन्तर्गतं वर्षमनभिव्यक्तम्। कश्चासौ? इन्द्रः।

४५. ऋ०५.४४.१४; सा०उ०९.२.५.१ यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति। यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।

जागता है, इसलिये ऋचायें अग्नि की कामना करती हैं, अग्नि जागता है, इसलिये उसके पास साम जाते हैं। अग्नि जागृत रहता है, इसलिये सोम उससे कहता है कि मैं तेरी मित्रता में हूँ और मैं तेरे पास रहूँगा।[४६]

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में जागने के लिये कहा गया और द्वितीय मन्त्र में अग्नि को जागने वाला बताया गया है। समस्त ऋचायें, समस्त साम और सोम की मित्रता अग्नि को ही प्राप्त होती है। यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि वह अग्नि है क्या? शतपथ-ब्राह्मण अग्नि के स्वरूप का प्रतिपादन करता हुआ कहता है- **'स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्'**[४७] कि यह सबसे पहले उत्पन्न हुआ, इस कारण इसका नाम **'अग्रि'** है, परोक्ष में इस **'अग्रि'** को **'अग्नि'** कहा जाता है। आचार्य यास्क अग्नि का निर्वचन करते हुए कहते हैं-**'अग्निः कस्माद्? अग्रणीर्भवति'**[४८] अग्रणी होने के कारण अग्नि को अग्नि कहा जाता है। आचार्य दुर्ग उक्त यास्क के वचन की व्याख्या करते हुए कहते हैं-'सम्पूर्ण अर्थों में जो अपने को आगे ले जाता है, सर्वत्र सबका ऐसा उपकार करता है, जिससे वह अग्रणी बन जाये, इस कारण यह **'अग्नि'** कहलाता है।'[४९] 'अग्र' शब्द प्रधानवाची है, सेना को आगे ले जाता है, इसलिये वह सेनापति पद पर अवस्थित है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है।[५०] कहा भी है:-**'अग्निर्वै देवानां सेनानीः।'**[५१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में प्रस्तुत स्थल पर अग्नि वह है, जो आगे ले जाए और यह कार्य चेतना रूपी अग्नि करती है तथा इसीको दर्शन की भाषा में ज्ञान कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो समस्त प्राणियों के लिये निशा होती है, उसमें संयमी जागता है और जिन विषयों में लौकिक जन जागते हैं, यथार्थ दर्शन करने वाले मुनि के लिये वह रात्रि है।[५२] इस प्रकार विषयों से जागना ही वास्तव में जागना है, जो इस प्रकार जागता है, समझ लो कि उसका अग्नि जाग गया है। जिसका अग्नि जागृत हो गया है, उसको ही ऋचाएँ, साम और सोम की मैत्री प्राप्त होती है। कहने का आशय यह है कि विषयों में शयन न करने वाला व्यक्ति ही समस्त कामनाओं को पूर्ण करके मुक्ति को उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करता हुआ स्पष्ट रूप से कहता भी है कि वह आप्तकाम, धीर, अमृत स्वरूप, स्वयम्भू (उसकी सत्ता अपने ही आश्रित), आनन्द से परिपूर्ण, सभी प्रकार की न्यूनताओं से

---

४६. ऋ०५.४४.१५; सा०उ०९.२.५.२ अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति। अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

४७. शत०ब्रा०६.१.१.११.

४८. निरु०७.४.

४९. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६८२. सर्वेष्वर्थेष्वसावात्मानमग्रं नयति। सर्वत्र तथोपकरोति यथाग्रं संपद्यत इत्यर्थः।

५०. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६८२.

५१. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६८२.

५२. गीता-२.६९ या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

रहित है। धीर, जरा-मरण से रहित, सदा युवा रहने वाली आत्मा को जानकर ही मनुष्य मृत्यु से नहीं डरता है।[५३] यहाँ मृत्युभय से मुक्त होने का उपाय जानना (विद्वान्) बताया गया है। जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है, उसके लिये जन्म और मृत्यु कोई अर्थ नहीं रखते हैं। जब तक आत्मस्वरूप का साक्षात् न हो जाये, तब तक जीव अमरता को समझ ही नहीं सकता। इसलिये वेद का स्पष्ट सन्देश है कि मुक्ति जब भी मिलेगी, वह करने से नहीं, जानने से मिलने वाली है। जानने के लिये क्रिया की आवश्यकता नहीं है, उसके लिये तो द्रष्टा बनना होता है, उसके लिये तो साक्षी की भूमिका में आना अपेक्षित है। जो द्रष्टा नहीं बन सकता, वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता भी नहीं हो सकता है। इसलिये सांख्यदर्शन की मूलभित्ति ज्ञान है, जिसको सांख्यकारिकार ने प्रारम्भ में स्पष्ट कर दिया है।[५४]

सांख्यदर्शन में ज्ञान का लक्षण निम्न है-**'गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्'**[५५] जिससे प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का बोध हो, वह ज्ञान है। सांख्य में स्वीकार्य उक्त लक्षण के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रकृति से अपनी भिन्नता का बोध हो जाना ही ज्ञान है। कहने का आशय यह है कि प्रकृति जड़ है, जबकि पुरुष चेतन। जड़ और चेतन का बोध जिससे हो, वह ज्ञान है। इसको दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चेतन का चेतन से पार्थक्य नहीं हो सकता, जिस प्रकार स्रोत भिन्न होते हुए भी प्रकाश अभिन्न होता है, उसी प्रकार भिन्न होते हुए भी चेतनता के स्तर पर उनमें एकता होती है।

अथर्ववेद कहता है कि बाल से भी अधिक सूक्ष्म प्रकृति है और एक तत्त्व (जीव) उससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म है, उससे भी अधिक सूक्ष्म तत्त्व उसे परिष्वक्त अर्थात् आलिङ्गन किये रहता है।[५६] उपर्युक्त मन्त्र में तीन तत्त्व निरूपित हैं-प्रथम-प्रकृति जो बाल से भी अधिक सूक्ष्म है, दूसरा-आत्मा आकार और व्यापकता में इतना सूक्ष्म है कि वह न के समान है, तृतीय-परमात्मदेवता है, जो आत्मा को परिष्वक्त अर्थात् आलिङ्गन किये रहता है। इस प्रकार एक अचेतन और दो चेतन तत्त्व हैं। इनमें से प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के पार्थक्य का बोध ही सांख्यों को अपेक्षित है, क्योंकि इनमें स्वभावभिन्नता है।

उक्त तथ्य को योगविज्ञान का आश्रय लेकर देखा जाए तब भी इसकी पुष्टि हो जाती है। प्रकृति और परमात्मा दोनों ही सर्वव्यापक हैं। केवल पुरुष (आत्मा) ही अल्पज्ञ होने के साथ-साथ अल्पशक्तिमान् भी है। अतः वह इन दोनों में से किसी एक के साथ जुड़कर सर्वव्यापकता आदि गुणों का अनुभव करना चाहता है।

---

५३. अथर्व०१०.८.४४ अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः आत्मानं धीरमजरं युवानम्॥

५४. सांख्य०२ व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

५५. वाचस्पति मिश्र, सांख्यतत्त्वकौमुदी-२३, अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विरागमैश्वर्यम्।

५६. अथर्व०१०.८.२५ बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते। ततः परिष्वजीयसी देवता सा मे प्रिया॥

लेकिन जड़ होने के कारण प्रकृति के साथ तादात्म्य करने में आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती है, अतः समाधि अवस्था में वह परमात्मशक्ति के साथ एकाकार होता है। सांख्य मानता है कि प्रकृति के पार्थक्य ज्ञान के विना होने वाले वैराग्य में साधक का प्रकृति में लय होता है।[५७] यद्यपि ऐसे साधकों को प्रकृति की असीम शक्तियाँ प्राप्ति होती हैं, एक सीमा तक दुःख भी न्यून हो जाता है, लेकिन उनको जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सांख्यदर्शन के सभी प्रमुख सिद्धान्त वेद से अनुमोदित हैं। यदि सांख्य में ईश्वर की चर्चा नहीं मिलती तो इसका कारण भी संभवतः यह है कि उसकी ज्ञान की परिभाषा में जड़ और चेतन का बोध ही ज्ञान माना गया है। सांख्य की दृष्टि में मानव के समस्त दुःखों का कारण स्व न होकर पर (प्रकृति) को स्व मानना है। अतः साधनापथ पर चलने वाले के लिये यह अपेक्षित है कि वह स्व-पर के भेद के यथार्थ को जाने, तभी वह मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ सकता है।

---

५७. सांख्यकारिका-४५- वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१२-१८)

वेदार्थ एवं वैदिक वाङ्मय

प्रो० (डॉ०) सत्यदेव मिश्र

वैदिक संहिताओं में सनातन भारतीय धर्म का मूल निहित है। वेदविहित कर्म को ही शास्त्रकारों ने धर्म माना है -**'वेदप्रतिपाद्यप्रयोजनवदर्थो धर्मः'**। श्रीमद्भागवत के अनुसार वेदों ने जिन कर्मों का विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान् के स्वरूप हैं। वेद परमेश्वर के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास हैं और स्वयं प्रकाश ज्ञान हैं, ऐसा हमने सुना है-

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

वेदो नारायणो साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥[1]

वेद परम पुरुष के निश्वास हैं, यह इस बृहदारण्यक श्रुति से भी प्रमाणित होता है-**अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽर्थर्वाङ्गिसः।**[2]

ऐतरेय ब्राह्मण के शब्दों में प्रजापति ने समस्त प्रजाओं के कल्याण के लिये वेदों की सृष्टि की है- **'प्रजापतिर्वा इमान् वेदान् असृजत्'**।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वरीय वेद या वेद ज्ञान मनुष्यों को कैसे प्राप्त हुआ? इसके उत्तर में निरुक्तकार यास्काचार्य का कहना है कि सृष्टि के आदिकाल में तपस्या करते हुये ऋषियों ने वेदों का प्रत्यक्ष दर्शन किया था-

ऋषिदर्शनात् ....स्तोमान् ददर्श'[3]

वेदों का साक्षात्कार ही ऋषियों का ऋषित्व है। दूसरे शब्दों में ऋषियों ने मन्त्रों को देखा है, इसीलिये उन्हें ऋषि कहा गया है। जो मन्त्रदृष्टा हैं, वही ऋषि हैं। कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमसूत्र' में लिखा है- **'द्रष्टा ऋषियः स्मर्तारः'**। इसका अभिप्राय यह है कि ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा या स्मर्ता हैं, उनके कर्ता नहीं है। मन्त्रदृष्टा ऋषि भी हैं और ऋषिकायें भी हैं। जिन ऋषियों ने मन्त्रों का साक्षात्कार किया है, उनमें उल्लेखनीय हैं, गृत्समद, विष्ववारा, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ तथा भारद्वाज आदि और जिन ऋषिकाओं ने मन्त्रों का दर्शन किया है, उनमें प्रमुख हैं, ब्रह्मवादिनी घोषा, वागाम्भृणी, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, सूर्या तथा जुहू आदि। इस प्रकार मन्त्र द्रष्टा ऋषियों एवं ऋषिकाओं ने जिस ईश्वरीय ज्ञान की धारा हमारे पास छोड़ी है, वही वेद है।

---

१. श्रीमद्भागवत, ६.१.४०

२. बृ. उ. ४.५.११

३. निरुक्त. २.३.११

जो वस्तु पहले से अस्तित्व में होती है या विद्यमान रहती है, उसी का प्रत्यक्ष होता है। वेद पहले से ही अस्तित्व में थे, अत: तपोनिरत ऋषियों को उनका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था।

'वेद' शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थों से वेद के स्वरूप एवं उसमें वर्णित विषयों का स्पष्ट ज्ञान होता है। 'वेद' शब्द अधोलिखित पाँच विभिन्न अर्थों वाली 'विद्' धातु से निष्पन्न हुआ है-

१-अदादिगणीय 'विद' ज्ञाने धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने से निष्पन्न 'वेद' शब्द के अनुसार -जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान होता है, वह वेद है-

'वेत्ति जानाति धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपायान् अनेन इति वेद:'

वस्तुत: प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से जिन उपायों का ज्ञान नहीं होता है, उन उपयों का ज्ञान वेद के द्वारा होता है, यही वेद का वेदत्व या वेद की अज्ञातार्थज्ञापकता है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

२-दिवादिगण में पठित 'विद सत्तयाम्' धातु से भावार्थक 'घञ्' प्रत्यय करने से व्युत्पन्न 'वेद' शब्द अपने सनातन अस्तित्व या अपनी नित्यता का बोधक है। महर्षि व्यास ने महाभारत में वेद के इस अर्थ को स्पष्ट करते हुये कहा है-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यत: सर्वा: प्रवृत्तय:।। [४]

३-तौदादिक 'विद्लृ लाभे' धातु से करणार्थक 'घञ्' प्रत्यय करने से निश्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ है- **'विन्दति अथवा विन्दते लभते धर्मादिपुरुषार्थान् अनेन इति वेद:'** अर्थात् जो धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टय का लाभ कराये, वह वेद है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद से केवल पुरुषार्थों या उनके प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान ही नहीं होता है, अपितु उन्हें प्राप्त भी करते हैं।

४-रुधादिगणीय 'विद' विचारणे धातु से करणार्थक 'घञ्' प्रत्यय के योग से बना 'वेद' शब्द सृष्टि-प्रक्रिया-विचार रूप अर्थ को व्यक्त करता है। **'विन्ते विचारयति सृष्ट्यादि प्रक्रियाम् अनेन इति वेद:।'** प्रलयोपरान्त जब विधाता नये सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया के विचार में उलझे रहते हैं, तब नारायण अपने वेद-स्वरूप से ही उनकी समस्या का समाधान करते हैं और विधाता उन वेद स्वरूप नारायण के निर्देशानुसार पूर्वकल्प के समान नई सृष्टि करते हैं-

---

४. महा०शान्तिपर्व,२३२.२४.

'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' [५]

महर्षि व्यास ने श्रीमद्भागवत में इस विषय को स्पष्ट करते हुये कहा है-

सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना।

प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥

अर्थात् परमात्मयोगी भगवान् नारायण ने अपने सर्ववेदस्वरूप से सृष्टि-प्रक्रिया में किंकर्तव्यविमूढ स्रष्टा को यह निर्देश दिया कि कल्पान्तकाल से मेरे स्वरूप में अवस्थित जो प्राणी हैं, उनकी पूर्व-पूर्व कल्पानुसार ही सृष्टि करें। इस प्रकार उपदेश देने के पश्चात् भगवान् के अन्तर्हित हो जाने पर लोकपितामह ब्रह्मा ने विभिन्न प्रकार की दैहिक तथा मानसिक प्रजाओं की सृष्टि की-

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः।

प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकी मानसीर्विभुः॥ [६]

५-चुरादिगणीय 'विद चेतनाख्याननिवासेषु' से कारण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'वेद' पद सृष्ट जगत् के चेतन (ज्ञान), आख्यान तथा निवास का बोध कराता है। दूसरे शब्दों में सृष्ट पदार्थों के कर्म, नाम आदि का आख्यान वेद के द्वारा ही संभव होता है। वेद शब्द के इस अर्थ को स्पष्ट करते हुये महर्षि मनु ने कहा है-

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ [७]

अर्थात् प्रलय के उपरान्त नई सृष्टि के आरम्भ में विधाता वेदाख्यान के अनुसार वस्तु-जगत् के नाम, कर्म, स्वरूप आदि का विधान करते हैं, जिससे पूर्वकल्प के अनुसार ही इस कल्प में उनके नामादि का व्यवहार होता है।

उपर्युक्त विभिन्न अर्थों वाले पाँच विद् धातुओं से निष्पन्न 'वेद' शब्द के अर्थों में वेद के सभी विषयों का समावेश हो जाता है। 'वेद' उस सनातन एवं अपौरुषेय वाङ्मय का नाम है, जिसमें न केवल परा (पारमार्थिक) और सभी प्रकार की अपरा (भौतिक) विद्यायें सन्निहित हैं, अपितु जगत्सृष्टि का गूढ़तम रहस्य भी समाहित है। सांसारिक वस्तुयें जो शंकराचार्य के शब्दों में प्रतिनियत देशादि में होती हैं,[८] उनका स्रष्टा वेदमय ईश्वर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है?

---

५. १०.१९०.३

६. श्रीमद्भागवत ३.९.१

७. मनुस्मृति १.२१

८. ब्रह्मसूत्र भाष्य १.१.२

वैदिक वाङ्मय के प्रकटीकरण के विषय में पुराणों में अनेक वृत्तान्त प्राप्त होते हैं। कूर्मपुराण के पूर्व विभाग के पचासवें अध्याय के अनुसार पराशरपुत्र महर्षि व्यास ने पार्वती के साथ भगवान् शिव की आराधना करके वेदमन्त्रों का दर्शन किया और बाद में उनका ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व के रूप में विभाजन करके अपने चार शिष्यों को ग्रहण कराया। महर्षि व्यास ने पैल को ऋग्वेद की, वैशम्पायन को यजुर्वेद की, जैमिनि को सामवेद की और सुमन्तु को अथर्ववेद की शिक्षा दी-

ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह स महामुनिः।
यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च॥
जैमिनिं सामवेदस्य श्रावकं सोऽन्वपद्यत।
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्॥[९]

इस पुराण में यह भी वर्णित है कि (प्रारम्भ) में केवल यजुर्वेद था, जिसे महर्षि व्यास ने चार भागों में विभक्त किया, उसी से चातुर्होत्र की उत्पति हुई और उससे महर्षि ने यज्ञ किया। उस यज्ञ में यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा अध्वर्यु का कर्म, ऋक्मन्त्रों से होता का कर्म, साम-मन्त्रों से उद्गाता का कर्म और अथर्वमन्त्रों के द्वारा ब्रह्मा का कर्म सम्पन्न हुआ।[१०] पुनः इन मन्त्रों को अध्वर्यु आदि पुरोहितों के लिये संकलित कर महर्षि ने उन्हें क्रमशः यजुः संहिता, ऋग् संहिता, साम संहिता तथा अथर्वसंहिता की संज्ञा प्रदान की। वेदों के संहिता नामकरण का यही रहस्य है।

वेदों से ब्राह्मणग्रन्थों का भी बोध होता है। अग्निपुराण में महर्षि पुष्कर के द्वारा पशुराम के प्रति वर्णित वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों एवं वेदों की शाखाओं तथा उनमें प्राप्त मन्त्रों की संख्या एक लाख बताई गयी है।[११] इस पुराण के अनुसार ऋग्वेद की 'शाङ्खायन' और 'आश्वलायन' दो शाखायें हैं। इन दोनों शाखाओं में एक सहस्र तथा ऋग्वेदीय ब्राह्मणभाग में दो सहस्र मन्त्र हैं। यजुर्वेद में उन्नीस सौ मन्त्र हैं। उसके ब्राह्मणग्रन्थों में एक हजार मन्त्र हैं और शाखाओं में एक हजार छियासी मन्त्र हैं। यजुर्वेद में मुख्यतया 'काण्वी', 'माध्यन्दिनी', 'कठी', 'माध्यकठी', 'मैत्रायणी', 'तैत्तिरीय' एवं 'वैशम्पायनी' शाखायें विद्यमान हैं। सामवेद की दो मुख्य शाखायें 'कौथुमी' और 'आथर्वणायनी' (राणायनीया) हैं। इसमें वेद, आरण्यक उक्था और ऊह - चार गार हैं। इस वेद में नौ हजार चार सौ पचीस मन्त्र हैं। अथर्ववेद के शाखा प्रवर्तक ऋषि सुमन्तु, जाजलि, श्लोकायनि, शौनक, पिप्पलाद और मुञ्जकेश आदि हैं। इसमें सोलह हजार मन्त्र और सौ उपनिषद् हैं।

---

९. श्लोक १३-१४
१०. वही, श्लोक १५-१६
११. अग्निपुराण अध्याय २७१

'महाभाष्य-पस्पशाह्निक' में भी वैदिक शाखाओं की संख्या का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनुसार यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १०००, ऋग्वेद की २१ तथा अथर्ववेद की ९ शाखायें हैं-

एकशतमध्वर्युशाखा: सहस्रवर्त्मा सामवेद:।

कविंशतिधा बाह्वर्च्यं नवधाऽथर्वणो वेद:।।[१२]

उपर्युक्त श्लोक से यह प्रमाणित होता है कि वेदों की उक्त सभी शाखायें, जिनकी संख्या ११३१ है, महाभाष्यकार पतञ्जलि के समय (२०० ई. पू.) तक उपलब्ध थीं।

आज न तो सभी वैदिक शाखायें प्राप्त हैं और न ही अग्निपुराण में उल्लिखित वेदों के एक लाख मन्त्र उपलब्ध हैं। सम्प्रति ऋग्वेद की एक मात्र 'शाकल' संहिता प्राप्त है। कृष्ण-यजुर्वेद की जो संहितायें प्राप्त हैं, वे निम्न हैं:-१.तैत्तिरीय, २. मैत्रायणी और ३. कठ। शुक्ल-यजुर्वेद की उपलब्ध संहितायें निम्न हैं:- 'काण्व' और 'वाजसनेय'। 'वाजसनेय' नाम से प्रसिद्ध शुक्ल यजुर्वेद की १. काण्व, २. माध्यन्दिन, ३. जाबाल, ४. बुधेय, ५. शाकेय, ६. तापनीय, ७. काणीस, ८. पौड्रवहा, ९. आवर्तिक, १०. परमावर्तिक, ११. पाराशरीय, १२. वैनेय, १३. बोधोय, १४. यौधेय तथा १५. गालव शाखायें हैं। कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाओं की मन्त्र संख्या १८००० है। 'वाजसनेय' के नाम से प्रसिद्ध शुक्ल यजुर्वेद की काण्वादि शाखाओं में 'चरणव्यूह' के अनुसार १९०० मन्त्र हैं- **'द्वे सहस्रे शतं न्यूना मन्त्रा वाजसनेयके'**। सामवेद की केवल तीन शाखायें उपलब्ध हैं - १. कौथुम, २. जैमिनीय और ३. राणायनीय। इन तीनों शाखाओं में 'कौथुम' सबसे प्रसिद्ध है। इसके दो भाग हैं- १. पूर्वार्चिक और २. उत्तरार्चिक। इन दोनों भागों में १८७५ (मतान्तर से १५४९ ऋचायें हैं) इन ऋचाओं में से केवल ७५ को छोड़कर शेष सभी ऋचायें प्राय: ऋग्वेद के अष्टम और नवम मण्डल से ली गयी हैं। अथर्ववेद की नौ शाखायें थीं- १. पैप्पलाद, २. शौनकीय, ३. दामोद, ४. तोत्तायन, ५. जामल, ६. ब्रह्मपालास, ७. कुनरवा, ८. देवदर्शी तथा ९. चरणविद्या। इन शाखाओं में अब केवल शौनक और पिप्लाद शाखाओं की दो संहितायें ही उपलब्ध हैं। २० काण्डों तथा ४८ पाठकों में विभक्त अथर्ववेद संहिता में ७६० सूक्त और ६००० मन्त्र हैं।

वेदों को 'त्रयी' भी कहा जाता है। एक मत के अनुसार 'त्रयी' केवल 'ऋक्', 'यजु:' और 'साम' संहिताओं का बोधक है। दूसरे मत के अनुसार 'त्रयी' से चारों संहिताओं का बोध होता है, क्योंकि इन सभी संहिताओं में ऋक् (पद्य), यजु: (गद्य) तथा साम (गीति) का सन्निवेश है। स्कन्दपुराण के 'ब्राह्मखण्ड' में महर्षि व्यास ने युधिष्ठिर के प्रति 'त्रयी' का इस प्रकार रूपकात्मक वर्णन किया है। वेदत्रयी यह धेनु है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है। वेदत्रयी रूप धेनु ही इस विश्व का कारण है। ऋग्वेद इस धेनु की पीठ है, यजुर्वेद मध्य भाग है तथा सामवेद कुक्षि एवं स्तन हैं। महर्षि ने इष्टापूर्त को इस धेनु के शृङ्ग और पुष्टि कर्म को उसके गोबर

---

१२. महाभाष्य-पस्पशाह्निक।

और मूत्र तथा अक्षरों को उसके चरणों के रूप में वर्णित किया है। यह धेनु पद, क्रम, जटा और घन पाठ के द्वारा जगत् के लिये उपजीव्य होती है। स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार और हन्तकार ये इस वेदत्रयी रूप धेनु के चार स्तन हैं, जिनका क्रमशः देवता, पितर देवता-भूत-ऋषि-मुनि देवगण, तथा पितर सदा पान करते रहते हैं, जो मनुष्य वेदों का उच्छेद करने वाला होता है, वह पापी होता है तथा अन्धतामिस्र नामक अन्धकारपूर्ण नरक में जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति देवतादि बछड़ों को इस गौ से मिलाकर दुग्धपान का अवसर देता है, वह स्वर्गलोक को जाता है।

वेद अपने आविर्भाव काल से निरन्तर श्रुति परम्परा से प्राप्त होता रहा है, अतः 'इसे श्रुति' या 'अनुभव' भी कहा जाता है। ऋषियों के द्वारा प्रदत्त विशाल वैदिक वाङ्मय के मन्त्रों को उनके शिष्यों ने सहस्रों वर्षों से अपनी जिस अनुपम स्मरण शक्ति के परिणामस्वरूप अविच्छिन्न एवं अपरिवर्तित स्वरूप में बनाये रखा है, उसकी प्रशंसा विदेशी विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से की है।[१३]

श्रुति परम्परा से समागत वैदिक मन्त्रें को सुरक्षित रखने के लिये ऋषियों ने १. जटा, २. माला, ३. शिखा, ४. रेखा, ५. ध्वज, ६. दण्ड, ७. रथ और ८. घन नामक आठ पाठों का विधान किया है

जटामाला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

उक्त आठ पाठों को आठ विकृतियों की संज्ञा प्रदान की गयी है। इनके कारण न केवल वेदों के पदों तथा वर्णों की रक्षा होती रही है, अपितु मात्रायें भी सुरक्षित रही हैं। जिन महर्षियों ने आठ प्रकार के पाठों का विधान किया है, उनमें महर्षि व्याडि का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने अपने 'विकृतिवल्ली' ग्रन्थ में इन आठ प्रकार की विकृतियों को पारिभषित किया है। भण्डारकर प्राच्य विद्या शोधसंस्थान में १४ पर्णों की एक पाण्डुलिपि 'जटाविकृतिलक्षण' उपलब्ध है, इसमें जटापाठ प्रतिपादति है। पाण्डुलिपि से इसके लेखक का नाम नहीं ज्ञात हो रहा है। एक अन्य पाण्डुलिपि 'विकृतिकौमुदी' की है, जो गंगाधर भट्टाचार्य के द्वारा रचित 'विकृतिवल्ली' की टीका है। सत्ताईस श्लोकों से युक्त व्याडि की 'विकृतिवल्ली' वैदिक महिलाओं के आठ प्रकार के विकृतिपाठों का प्रथम एवं प्राचीनतम ग्रन्थ है। दयाशंकर धरणीधर व्यवहार (व्होरा) ने 'जटापटलदीपिका' का प्रणयन किया है। यह बारह श्लोकों की टीका है। छप्पन श्लोकों से युक्त आठों विकृतियों के पाठनियमों से सम्बन्धित एक और ग्रन्थ 'मधुसूदन शिक्षा' है। इस पर एक बृहत् व्याख्या लिखी गयी है, जिसका नाम 'अष्टौ विकृतिविवरण' है। 'मधुसूदन शिक्षा' संभवतः उन मधुसूदन की ही रचना है, जिन्होंने अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्तबिन्दु' और 'अद्वैतसिद्धि' का प्रणयन किया है।

---

१३. द्रष्टव्य - ए. एल. बाशम - दी वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृ. ४१

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में यह कथन शायद ही अतिशयोक्तिपूर्ण हो कि शताधिक शाखाओं, विविध ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों, द्विशताधिक उपनिषदों, शिक्षादि, वेदाङ्गों, शौनकादि महर्षियों की अनुक्रमणियों तथा विकृतिपाठों के अनेक ग्रन्थों से परिबृंहित वैदिक वाङ्मय न केवल समस्त भारतीय भाषाओं तथा उनमें उपनिबद्ध साहित्य का उपजीव्य है, अपितु भारतीय धर्म एवं दर्शन तथा **'सह नौ भुनक्तु'** जैसे उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण भारतीय संस्कृति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों का सूत्रधार है। यह वाङ्मय भारत के वैज्ञानिक विकास तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष का मूलाधार रहा है। छान्दोग्य श्रुति को यदि प्रमाण मानें तो निःसन्देह ऐसा कोई विज्ञान का विषय नहीं है, जो इसकी चिन्तन-परिधि से परे हो।[१४] जब तक भारत स्वाधीन था, तब तक वैदिक साहित्य आ सेतु हिमाचल पर्यन्त विस्तृत राष्ट्र के शिक्षा मन्दिरों का एकमात्र पाठ्य विषय था। कालचक्र या विदेशियों के द्वारा भारतीय साहित्य और संस्कृति के ऊपर अपनी भाषा और संस्कृति के थोपने के कारण आज यह हमारे पाठ्यक्रम से बहिष्कृत हो गया है। अब हम स्वतन्त्र हैं, अतः हमारा, वैदिक विद्वानों, वेद के प्रचार-प्रसार में संलग्न संस्थानों का यह कर्तव्य है कि वैदिक साहित्य अपने समग्र रूप में भारतीय विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों को पाठयक्रम का अनिवार्य अङ्ग बने, प्रत्येक भारतीय को यह कम से कम मूल्य पर स्वाध्यायार्थ उपलब्ध हो और इसमें निहित ज्ञान-विज्ञान की उपयोगिता एवं समसामयिकता का मूल्यांकन हो।

---

१४. छान्दोग्य ७.१.२,४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१९-२२)

मनु द्वारा सप्तहोताओं के साथ यज्ञ

वेदाचार्य डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः।

त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥[१]

मन्त्र का शब्दार्थ है कि अग्नि को प्रदीप्त करने वाले मनु ने सात होताओं के साथ जिनके लिए सर्वप्रथम यज्ञ किया, वे आदित्य हमें अभय तथा सुख प्रदान करें तथा हमारे कल्याण के लिए उत्तम मार्गों को भली-भाँति गन्तव्य बनाएं।

इस मन्त्र के इस सरलार्थ के आधार पर कल्पना की जाती है कि मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ का प्रारम्भ किया। इस मन्त्र में सात होताओं के साथ मनु द्वारा यज्ञ करने का स्पष्ट विधान है। मन्त्र के पद सुस्पष्ट है - **'मनुः प्रथमम् आयेजे'** मनु ने सर्वप्रथम यज्ञ किया। इस प्रकार इस मन्त्र में मनु का इतिहास सिद्ध किया जाता है। इसकी परीक्षा की जाती है-

इस मन्त्र में इतिहास सिद्ध करने वाले यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि ये आदित्य कौन हैं तथा ये सात होता कौन हैं, जिनके साथ मनु ने यज्ञ किया। मनु भी एक नहीं, अपितु कई हुए हैं, यह सर्वग्राह्य तथ्य है। यथा-स्वायंभूः मनु, वैवस्वत मनु इत्यादि। मनु एक उपाधि है, न कि नाम। ये आदित्य कौन हैं, जिनका मन्त्र की द्वितीय पंक्ति में उल्लेख किया गया है, यह भी स्पष्ट नहीं किया जाता।

वस्तुतः इस मन्त्र में मनु पद संज्ञावाचक है ही नहीं। यह गुणवाचक है, यास्काचार्य ने इसकी निरुक्ति इसी रूप में की है-**मनुर्मननात्।**[२] वेद में अन्यत्र भी मनुपद गुणवाचक रूप में ही पठित है। यथा-**मनुर्भव जनय दैव्यं जनम्।**[३]

इस सूक्त में १७ मन्त्र हैं। सप्तम मन्त्र में पठित मनु के रहस्य को जानने के लिए सूक्त के सभी मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक है। यही नहीं, अपितु इससे पूर्व सूक्त ६२ भी इसी प्रकार का है। पहले सूक्त ६२ पर ही विचार किया जाता है-

इस सूक्त में ११ मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में ब्राह्मण का नाम लेकर सायणाचार्य ने इतिहास का संकेत दिया है।[४] इस सूक्त के मन्त्र ८६; ११ मन्त्रों में भी मनु पद पठित है। १०.६३.१ में **'मनुप्रीतासः'** पद पठित है।

---

१. ऋ० १०.६३.७

२. नि० १२.३३

३. ऋ १०.५३.६

सायणाचार्य इसका अर्थ '**मनुष्यैः प्रीताः**' करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनु व्यक्तिवाचक संज्ञा न होकर विशेषण मात्र है या मनुष्य अर्थ में आया है। सूक्त ६२ में ऐसे व्यक्तियों के विषय में कहा गया है कि यज्ञ तथा दक्षिणा के द्वारा जिन्होंने इन्द्र की मैत्री को प्राप्त कर लिया है। इन अङ्गिरसों=विद्वानों के लिए कल्याण हो।[५] यहाँ १-४ मन्त्रों में चतुर्थ चरण समान है, जिसका अर्थ है कि हे उत्तम बुद्धि वालो! तुम मानव को शिष्य के रूप में स्वीकार करो। इन मन्त्रों में अङ्गिरसों के लिए भद्र, दीर्घायुष्य, सुप्रजास्त्व, सुब्रह्मण्यम् इत्यादि की कामना की गयी है। चतुर्थ मन्त्र में कहा गया है-**अयं नाभा वदति बल्गुवो गृहे।** सायणाचार्य ने इतिहास सिद्ध करने के लिए नाभा का अर्थ '**नाभानेदिष्ट**' तथा '**गृहे**' का अर्थ '**गृहभूते यज्ञे**' कर दिया। आवश्यक नहीं कि यहाँ नाभा का अर्थ नाभानेदिष्ट ही किया जाए। भ्वादिगण में णभ, तुभ धातुएँ हिंसा अर्थ में पठित हैं। दुष्टों का हिंसक या दुर्गुणों आदि का विनाशक विद्वान् = नाभा मनुष्यों के घरों में कल्याण का उपदेश करे, यह कहना यहाँ अधिक समीचीन है। मन्त्र ८ में कहा गया है। कि यह मनु प्रसिद्धि को प्राप्त करे, जो कि गौ तथा अश्वों से युक्त दान के लिए प्रेरित करता है।[६] यह ऐसे मनुष्य मननशील विद्वान् व्यक्ति का वर्णन है जो अन्य व्यक्ति को उपदेश तथा दान आदि की प्रेरणा देता है। ऐसा व्यक्ति प्रसिद्धि को प्राप्त करेगा ही। इस सूक्त के मन्त्र ११ में मनु के कार्य या लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं-

सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा।
सावर्णेर्देवा प्र तिरन्त्वायुर्यस्मिन्नश्रान्ता असनाम वाजम्।।[७]

मनु बहुत धन आदि का दाता है। ग्राम का नेता है। इसकी दक्षिणा सूर्य के समान प्रसिद्धि को प्राप्त करती है। यह मनु अहिंसित रहे। देवगण दूसरी आयु को बढ़ायें। हम अश्रान्त होकर जिस मनु से बल, ज्ञान, अन्न आदि को प्राप्त करें।[८] यहाँ बासठवाँ सूक्त समाप्त होता है। इसमें ११ मन्त्र हैं, तिरेसठवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही '**मनुप्रीतासः**'[९] पद आया है। जिसका अर्थ सायणाचार्य 'मनुष्यैः प्रीताः' करते हैं। इससे यह बिल्कुल ही स्पष्ट होता है कि सायणाचार्य को भी यहाँ मनु का अर्थ मनुष्य मात्र ही अभिप्रेत है, न कि मनु नामक व्यक्ति विशेष।

---

४. नाभानेदिष्टः स्वपित्रा मनुनाऽभ्यनुज्ञातः सत्रमासीनानंगिरसोऽभ्येत्य मां प्रति गृह्णीत युष्मभ्यं यज्ञं प्रज्ञापयामीति यदुक्तं तदुच्यते.... ब्राह्मणानुसारेण मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदिति तैत्तिरीयब्राह्मणानुसारेण च सप्रपञ्चमभिहितः। ऋ० ६२.१ सा०भा०

५. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशतेभ्यो भद्रमङ्गिरसो नो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।

६. प्र नूनं जायतामयं मनुस्तोक्तेव रोहतु।यः सहस्रं शताश्वं सद्यो दानाय मंहते।। १०.६२.८ सा० भा०- दानायं मंहते अस्मा ऋषये दातुं प्रेरयति।

७. ऋ० १०.६२.११

८. सहस्रदा गवादीनांसहस्रस्य दाता। ग्रामेणी माणां वेत्ता। अस्य दक्षिणा सूर्येण सहैतु। त्रिषु लोकेषु प्रसिद्धा भवत्वित्यर्थः।

९. ऋ०१०.६३.१

इस सूक्त में अधिकांश में आदित्यों तथा देवों (देवासः) का वर्णन है। इनसे ही स्वस्ति की प्रार्थना की गयी है। इनके विशेषण नृचक्षसः, अनिमिषन्तः, अर्हणा, ज्योतिरथाः, अहिमायाः अनागसः, सुवृधः आदि दिये गए हैं। ये देवगण यज्ञ को प्राप्त करते हैं तथा द्युलोक में भी निवास करते हैं। अपनी कीर्ति से द्युलोक को प्राप्त करते हैं। इसी क्रम में सप्तम मन्त्र **'येभ्यो होत्रा प्रथममा येजे मनुः'** है। इस मन्त्र में पठित मनु की व्याख्या सूक्त ६२ तथा ६३ सूक्तों में पठित मनु पद के सन्दर्भ में ही करनी होगी, क्योंकि इन सभी मन्त्रों में एक प्रासङ्गिकता है। सूक्त के सभी मन्त्रों में लगभग एक ही प्रकार के भाव विभिन्न रूपों में वर्णित किये गए हैं। इस प्रकार इस सन्दर्भ में इस मन्त्र का अर्थ यह होगा (मनुः) मननशील ज्ञानी विद्वान् ने जिन आदित्यों के लिए प्रथम अथवा मुख्य[१०] यज्ञ सात होताओं के साथ किया वे आदित्य हमें अभय तथा सुख प्रदान करें तथा कल्याण के लिए हमारे मार्ग को सुष्ठु गमनशील बनाएं। **'सप्त होतृभिः'** का अर्थ सायणाचार्य ने **'वषट्कर्तृभिर्ऋत्विग्भिः'** किया है, जो समीचीन ही है। कोई भी ऐसा मननशील व्यक्ति मनु कहलायेगा जो सात ऋत्विजों के साथ यज्ञ करता है। मनुविशेष का वर्णन यहाँ नहीं है। मन्त्र में **'आयेजे'** यह लिट् लकार का प्रयोग देखकर ही यहाँ पर मनु के इतिहास की कल्पना की जाती है। इस सम्बन्ध में हमें पाणिनि का **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'**[११] सूत्र ध्यान में रखना चाहिए कि ये भूतकालिक प्रत्यय अन्य कालों में भी होते हैं। वेद में अन्यत्र भी ऐसा है यथा-**'स दाधार पृथिवीमुत द्याम्'**[१२] इत्यादि। अतः 'आयेजे' से यहाँ केवल भूतकालिक अर्थ लेना उचित नहीं है।

मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ - (समिद्धाग्निः) अपनी संकल्पाग्नि अथवा परमात्माग्नि को प्रदीप्त करने वाले जिस मननशील योगी ने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, श्रोत्र, नेत्र तथा वाणी इन सात होताओं के साथ अध्यात्म यज्ञ किया या करता है। यहाँ आदित्यों से स्वस्ति की प्रार्थना की गयी है। ये आदित्य ज्ञानी विद्वान् भी हो सकते हैं तथा आधिदैविक पक्ष में सूर्य की किरणें भी आदित्य पदवाच्य हैं, वे भी हमारा कल्याण करें। इस प्रकार इन दोनों सूक्तों की छाया में इस मन्त्र को देखने से यहाँ किसी मनु का इतिहास सिद्ध नहीं होता। यहाँ पर यह भी ध्यान देना होगा कि मन्त्र में **'मनसा सप्त होतृभिः'** पद पठित है। जिसका अर्थ सुस्पष्ट है कि मनु ने मन के द्वारा सात होताओं के साथ यज्ञ किया। किसी भी यज्ञ में सात होता नहीं होते। यज्ञ में ब्रह्म, अध्वर्यु, होता तथा उद्गाता ये चार ऋत्विक् होते हैं, इनमें से होता नामक ऋत्विक् आहुति देता है। प्रस्तुत मन्त्र में सात होताओं का वर्णन है तथा यह यज्ञ मन के द्वारा किया जा रहा है। इससे सुस्पष्ट है कि यहाँ पर घृत सामग्री द्वारा साध्य बाह्य यज्ञ का वर्णन न होकर मानस यज्ञ का वर्णन है। वही मानस यज्ञ मन के द्वारा किया जाता है तथा जिसमें

---

१०. प्रथमां प्रथमं मुख्यं यद्वा सर्वेषां मनुष्याणामग्रे क्रियमाणत्वादाद्यम्। सा०भा०

११. अष्टा० ३.४.६

१२. ऋ० १०.१२१.१

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ये सात होता बनते हैं। अन्यत्र भी सप्त होताओं का वर्णन इसी रूप में किया गया है। यथा- शिवसंकल्प सूक्त में एक मन्त्र इस प्रकार है-

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥[१३]

यहाँ भी यही कहा गया है कि यह मन इस सप्त होता वाले यज्ञ को कर रहा है। यह मन तीनों कालों में व्याप्त है। मन के संयोग के विना इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकतीं। मन से संयुक्त होकर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को कर रही हैं, यही है सप्त होता वाला यज्ञ। ऐसा मनु - मननशील व्यक्ति जो समिद्धाग्नि है अर्थात् जिसने अपनी संकल्पाग्नि को प्रदीप्त कर लिया है, वह इस यज्ञ को कर रहा है, जिसमें ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के रूप में सप्त होता हैं।

वेदों में न केवल मनु ही, अपितु वसिष्ठ, जमदग्नि, पुरूरवा, उर्वशी, नमुचि, शम्बर आदि ऐसे अनेक नामपद उपलब्ध होते हैं, जो कि लोक में राजाओं, ऋषियों तथा असुरों के वाचक भी हैं। इसी आधार पर कल्पना की जाती है कि वेदों में इस प्रकार के व्यक्तियों का इतिहास विद्यमान है। यह कल्पना नितान्त भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार के वैदिक नाम यौगिक अथवा योगरूढ़ हैं, न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिए रूढ़। अतः वहाँ पर इन शब्दों के अन्यार्थ ही हैं, ये किन्हीं व्यक्तियों के वाचक नामपद नहीं हैं।

इस विषय में एक पुष्ट प्रमाण यह है कि इस प्रकार के नामपदों के साथ कहीं-कहीं पर तरप्-तमप् प्रत्यय भी लगे रहते हैं। ये दोनों प्रत्यय गुणों के अतिशयता के बोधन में होते हैं। यथा- चतुरः, चतुरतमः। इसी प्रकार वेद में दुष्टरः, कण्वतमः आदि पद भी विद्यमान हैं। इसका अर्थ है कि ये शब्द व्यक्ति वाचक नहीं है। निघण्टु में कण्व पद मेधावी वाचक नामपदों में पठित है। अतः कण्वतम का अर्थ अत्यन्त मेधावी है। नहुष भी निघण्टु में मनुष्य नामों में पठित है। इसी प्रकार सभी शब्दों के अन्य अर्थ हैं। वेदों में किसी व्यक्ति का इतिहास या आख्यान नहीं हैं।

---

१३. यजु० ३४.४

यजुर्वैदिक पर्यावरण विज्ञान

डॉ० कुलदीप सिंह आर्य

विश्व को सर्वप्रथम भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान देने का श्रेय निर्विरोध रूप से वेदों को है, वेद ही सृष्टि का वह आदि ज्ञान है, जो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म का उद्घोष करता है। आदि पुरुष मनु वेदों को अखिल धर्मों का मूल स्वीकारते हैं।[1] वेदों की वैज्ञानिकता का बखान करते हुए बार-बार मनु ने वेदों को साक्षात् ज्ञान-विज्ञान[2] एवं भूत, वर्तमान और भविष्य की समस्याओं का साधक कहा है।[3]

यजुर्वेद को यज्ञीय विज्ञान का शास्त्र स्वीकार किया जाता है, जिसमें विभिन्न याग, कर्मकाण्डों की व्याख्या है। इसी के साथ यजुर्वेद पर्यावरण विज्ञान का अद्भुत ग्रन्थ रत्न भी है। पर्यावरण प्रदूषणों को समाप्त करने हेतु यजुर्वेद के उपाय अद्भुत एवं आलौकिक हैं। वर्तमान में पर्यावरणीय प्रदूषण जिस प्रकार से ताण्डव कर रहे हैं और जीव जगत् को दंशित कर रहे हैं, कौन नहीं जानता? पर्यावरणीय प्रदूषण आतंकवाद से भयंकर है, क्योंकि आतंकवाद जीवितों को मारता है और प्रदूषण जीवन की सम्भावनाओं को ही मिटाता है।

पर्यावरण- यजुर्वेद के अनुसार पर्यावरण एक देव तत्त्व है, जिसके विभिन्न अङ्ग हैं। पर्यावरण और वरुण देवता समानार्थक हैं, क्योंकि दोनों के मूल में वृञ् वरणे धातु है।[4] अग्नि, वायु, चन्द्रमा, वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, मरुद्गण, विश्वेदेवा, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण सभी देवता पर्यावरण के अङ्ग हैं।[5] इसलिए इन देवताओं से सुखी जीवन की प्रार्थनाएँ की गई हैं। वर्तमान में भी जिसके पास जो वस्तु होती है, उससे उसकी ही अपेक्षा की जाती है। देवगण हमारी आयु को पुष्ट करें।[6] देवता ही जीव जगत् को शक्तियाँ देते हैं।[7] देवता मुझे बढ़ावें।[8] देवता आज हमारे अनुकूल हों।[9] वायु, जल, ध्वनि, धरा ऐसे देवता हैं, जिन्हें जीव ने प्रदूषित कर दिया है, जिसका स्वयं मानव भी एक बड़ा कारण है।

---

१. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, मनुस्मृति २.६

२. स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः। वही, २.७

३. भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। वही, १२.९

४. निखिलं ज्ञानचाक्षुषा....श्रुतिप्रामाण्यतो....। वही, २.८

५. अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा। देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता। यजु० १४.२०

६. देवा न आयुः प्रति रन्तु जीवसे। वही, २५.१५

७. देवाः शर्द्धः प्र यन्त...। वही, ३३.४८

८. मामु देवताः सचन्ताम्। वही, १३.१

९. अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा... । वही, ३३.५१

मानव शरीर पाँच तत्त्वों से मिलकर बना है और यदि इन पाँच तत्त्वों में विकृति होगी तो मानव शरीर में भी विकृति आ जाएगी। अत: इन पाँच तत्त्वों की सुरक्षा मानव पर है और मानव की सुरक्षा इन पाँच तत्त्वों पर है, इस प्रकार ये अन्योऽन्याश्रित हैं।[१०] अत: हम देवों की उस सुरक्षा को चाहते हैं जो समस्त जीवाजीव जगत् के लिए हितकारी हो।[११] देवतागण हमें शक्ति दें और हमें समृद्धशाली बनावें।[१२] सारे देवता हमारे रक्षक हों।[१३] अग्नि देव! सारी दिशाओं को मंगलमय बनाएँ।[१४] वरुण देव हमारी आयु को नष्ट न करें।[१५] इसी प्रकार अग्नि, सूर्य, पृथिवी, मरुत्, सोम, अदिति, जल, वायु सभी देवों से प्रार्थनाएँ की गयी हैं।

प्रदूषण- पर्यावरण के तत्त्वों का असन्तुलित होना ही प्रदूषण है। यजुर्वेद में इन्हें हिंसा, पाप, दुरित, रप, अहंस आदि अनेक रूपों से सम्बोधित किया गया है। आज समस्त विश्व को इनसे खतरा है-

हे अग्नि! आकाश में हानि मत पहुँचाओ।[१६] इस एक खुरवाले और दो खुरवाले पशु की हिंसा मत करो, गाय की हिंसा मत करो।[१७] हे रुद्र! हमारे पुत्रों को, जीवन को, माता-पिता को मत सताओ। हमारे वीरों को मत मारो।[१८] अन्तरिक्ष की हिंसा मत करो, जल की हिंसा मत करो।[१९]

वायु प्रदूषण - नाइट्रोजन ऑक्साइड, हाईड्रोकार्बन, कार्बनमोनोऑक्साइडस् तथा कणिकीय पदार्थ वायु प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं। इस प्रदूषण से बचने के लिए यज्ञ एवं वृक्षारोपण उपाय यजुर्वेद द्वारा प्रोक्त हैं। वैदिक संस्कृति में यज्ञ की महिमा अपरम्पार है, क्योंकि यज्ञ पर्यावरणीय प्रदूषणों का नाशक है। सर्वश्रेष्ठ, सरलतम मार्ग है, जिसका सम्पूर्ण वैदिक साहित्य समर्थन करता है। विभिन्न प्रकार के यागों और अग्निहोत्रों का उद्देश्य पर्यावरण सुरक्षा ही है, जिसका आज अनुकरण करना चाहिए।

यज्ञ विश्व का केन्द्र है।[२०] यज्ञ से आयु, प्राण, ज्योति, आकाश सब शुद्ध होते हैं।[२१] स्वामी दयानन्द लिखते हैं - होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथ्वी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती

---

१०. पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआविवेश तायन्तः पुरुषेऽअर्पितानि। वही, - २३.५२
११. तद्देवानामवोऽअद्या वृणीमहे। वही, ३३.१७
१२. देवं देवं हुवेम वाजसातये...। वही, ३३.९१
१३. विश्वे नो देवा अवसागमन्निह। वही, २५.२०
१४. शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः...। वही, १२.१७
१५. मा नऽआयुः प्र मोषीः। वही, २१.२
१६. अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। वही, १३.४२
१७. इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्...इषं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्..। गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। वही, १३.४८.४७.४३
१८. मा नो महान्तमुत मा नोऽर्भकम्....मा नो वधीः पितरं मोत मातरम्....। मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधी....। वही, १६.१५
१९. अन्तरिक्षं मा हिंसीः, मापो.... हिंसी....। ४.२, ६.२२
२०. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। वही

है उसी से सब जीवों को परम सुख होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है।[२२] शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा है।[२३] अग्निहोत्र द्वारा सम्पूर्ण विश्व का कल्याण होता है और यज्ञ विविध सुखों से परिपूर्ण करता है।[२४]

अत: यज्ञ विभिन्न ठोसों एवं द्रव्यों को गैस में परिवर्तित करके वायुशोधन की वैज्ञानिक प्रक्रिया है।[२५] वर्तमान में पर्यावरण शोधनार्थ यज्ञ पर अनेकानेक प्रयोग देश-विदेश में हो रहे हैं। अत: इसमें सन्देह नहीं कि अग्निहोत्र कर्म से अनेक प्रकार की बीमारियों का अन्त होता है, जो पर्यावरण में रोगों के जीवाणु होते हैं, उन्हें समाप्त करके पर्यावरण को पवित्र बनाया जा सकता है।

वृक्षों एवं वनस्पति द्वारा वायु शोधन- वर्तमान में यह प्रमाणित हो चुका है कि मानव श्वास के लिए ऑक्सीजन (प्राणवायु) गैस ग्रहण करता है और वृक्ष जगत् कार्बन ऑक्साईड गैस ग्रहण करके ऑक्सीजन छोड़ते हैं। अत: वनस्पति वायु शोधन का वैदिक उपाय है। इसी कारण वर्तमान में भी पर्यावरण के विद्वान् पौधारोपण, वृक्षारोपण, वृक्षरक्षा, वनरक्षा के निर्देश दे रहे हैं। यजुर्वेद में वायु शोधन के लिए वनस्पतियों की महिमा व्यक्त है।[२६]

जल प्रदूषण- जल ही जीवन है यदि यह प्रदूषित है तो साक्षात् विष है। अत: इसके प्रदूषकों से इसकी सुरक्षा रखनी चाहिए। शुद्ध जल ही अमृत है।[२७] वैज्ञानिकों ने जल को मुख्य रूप से दो तत्त्वों हाईड्रोजन और

---

२१. क-आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् प्रजापते:। ख- प्रजाऽभूम स्वर्देवाऽअभूम। वही, ९.२१

२२. स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

२३. यज्ञो वै श्रेष्ठतम्कर्म- शतपथ ब्रा० १.७.४.५

२४. क-सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्। ख-दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेम स्वस्तये। यजु०२१.६

२५. क-मेऽअनामयच्च मे.....यज्ञेन कल्पताम्। यजु० १८.१-२९ ख-अव त्वं द्यावापृथिवी.... वही, २.२९ ग-आत्मा च मे तनूश्च मे.... वही, १८.३ घ-आत्मा यज्ञेन कल्पताम्.... वही, १८.२९ ङ- इमं देवयज्ञं स्वाहा वाते धा:। वही, २.२१ च-रायस्पोषं विश्वमायुरशीय .... वही, ८.६२ छ-वसो: पवित्रमसि... सहस्रधारम्... वही, १.३ ज- ...स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्.. वही, १७.२२

२६. वनस्पति शमिता। यजु० २९.३५ क .... ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसीषम्... वही, १.२५ ख- वनानां पतये नम: अरण्याणां पतये नम:। वृक्षाणां पतये नम:... औषधीनां पतये नम:। वही, १६.१८.१९.२० ग- ...ओषधयो... मुदो...। वही, १८.३८ घ...पाह्यंहस:.... वही, ४.१० ङ- ...ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसी:। वही, ६.१५ च- ...वनस्पतिं वने आस्थापयध्वम्... ऋ० १०.१०१.११ छ- ...अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्र वल्शा वि वयं रुहेम। यजु० ५.४३

२७. अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। यजु० ९.६

ऑक्सीजन का मिश्रण माना है। H_2O जिमसें आक्सीजन के गुण मित्रतुल्य एवं हाईड्रोजन के गुण वरुणतुल्य हैं। इस सिद्धान्त को यजुर्वेद में प्रत्यक्ष देखा जाता है।[२८] जल सभी प्रकार के मलों को दूर करता है, शुद्ध जल ही जीवन प्रदान कर सकता है।[२९] जल हमारे पापों और मैलों को दूर करें। यह दिव्य जल मेरे लिए सुखकर होवे। जल, ओज और शक्ति देता है।[३०]

हे विद्वानो! जैसे जल रूपी प्राण हमारी रक्षा करते हैं तथा बढ़ाते हैं वैसे ही तुम भी इनकी रक्षा करना। हे चिकित्सको! जलीय पदार्थों नदियों में यदि विष घुल जाए तो उसे पवित्र कर लेना, ताकि कोई रोग न जन्मे।[३१] मनुष्यों को चाहिये कि जलों में, आकाश में जो हानिकारक तत्त्व उपस्थित हों, उन्हें उपकरणों एवं शास्त्रविधि द्वारा नष्ट करें।[३२]

जलशोधन - सूर्य रश्मियों द्वारा यज्ञ द्वारा एवं वाष्पीकरण प्रक्रिया से किया जाता है, जो यजुर्वेद द्वारा अनुप्रमाणित है।[३३] जो यज्ञ से शुद्ध किए हुए अन्न, जल और पवन आदि पदार्थ हैं वे सब ही शुद्धि, बल, पराक्रम और दीर्घायु के लिए समर्थ होते हैं।[३४] अग्नि भी जल शोधन की एक प्रक्रिया है। इसीलिए उबले हुए जल को कीटाणु रहित माना जाता है।[३५] यजुर्वेद में कुशघास को भी जल शोधक माना गया है।[३६]

---

२८. हिरण्यरूपाऽउषसो विरोकऽउभाविन्द्राऽउदिथः सूर्यश्च। आरोहतं वरुण मित्र गर्त्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च मित्रोऽसि वरुणोऽसि। यजु० १०.१६

२९. .... विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवः...। वही, ४.२ क- अपो देवी मधुमती....। वही, १०.१ ख- अपो देवी रुषसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः...। वही, ११.३८ ग- ...आपः शान्तिः.... वही, ३६.१७ घ- मधु क्षरन्ति सिन्धवः। वही, १३.२७ ङ- ...अपः पिन्वौषधीर्जिन्वः...। वही, १४.८

३०. क-इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् वही, ६.१७ .. आपः शुन्धन्तु मैनसः। वही, २०.२० ख- इमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीः। वही, ४.१ ग- ...ओजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि। वही, १०.१५ घ-कार्षिरसि समुद्रस्यत्वा क्षित्याऽस्यमृतमसि। वही, १०.१५

३१. क-या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति... समुद्रार्थाः या शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु। यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परिजायते विषम् विश्वे देवा निरितस्तत्सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः। ऋ० ७.४९.२, ७.५०.३

३२. ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु। येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्वेभ्यो नमः। यजु० १३.८

३३. पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः। यजु० १.१२

३४. प्राणाय त्वोदनाय त्वा व्यानाय.... महीनां पयोऽसि... वही, १.१९.२०

३५. अन्नं पयोरेत अस्मासु धत्त....। वही, ३३.९९ अग्निमूर्धा दिवः... अपां रेतांऽसि जिन्वति। वही, ३.१२

३६. वही, ९.१२ पूर्वोक्त

ध्वनिप्रदूषण - ध्वनिप्रदूषण जीव जगत् को शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक रूप से उद्वेलित करता है। इससे बचने के लिए सस्वर वेदपाठ, मौनविधि, शंखध्वनि एवं वृक्षारोपण उपाय सरल एवं सस्ते हैं, जिनका यजुर्वेद निर्देश देता है।

यजुर्वेद में द्युलोक और अन्तरिक्ष में शान्ति की मंगल प्रार्थना ध्वनिप्रदूषण का भाव लिए हैं।[३७] उग्र और कटु वचन नाशकारक होते हैं तथा सब को दुःख देते है[३८] अतः कटु विनाशक वचन बोलने वालों का वरुणदेव सदैव अपमान करता है।[३९] और कुक्कुट के समान मधुर बोलना, मधु, घी के समान मधुर ध्वनियों का प्रयोग करना, ध्वनिप्रदूषण पर नियन्त्रण हेतु आवश्यक है।[४०]

परमपिता ने मानव को कल्याणकारी ध्वनियाँ फैलाने के लिए भेजा है। परमात्मा हमारी ध्वनियों को कर्णप्रिय बनाए, क्योंकि मधुर ध्वनियों से सब कुछ सम्भव है और तीव्र एवं विनाशकारक ध्वनियाँ विभिन्न रोगों को जन्म देती हैं अतः ईश्वर ध्वनि प्रदूषक से अन्तरिक्ष को शून्य बनावे।[४१] वाहनों से होने वाले प्रदूषण को लाईटों से भी नियन्त्रित किया जा सकता है। ध्वनिप्रदूषण को दूर करने हेतु यजुर्वेद में -१.सस्वर वेद पाठ। २.मौन विधि तथा अधिक वृक्षारोपण, वृक्ष संरक्षण उपाय कहे हैं।[४२] जो सरल एवं सस्ते हैं।

भूमि प्रदूषण - भूमि भी सभी तत्त्वों की तरह जीवन का प्रमुख तत्त्व है भूमि ही सब का आधार है अतः भूमि प्रदूषण को रोकने के लिए सर्वोत्तम मन्त्र है भूमि को माता के समान मानकर उसका सदुपयोग उसका सम्मान करना।[४३] यह पृथिवी नानावर्णों वाली है और अन्नदात्री, सुखदा हव्यदात्री, आह्लाददायिका, प्रकाशरूपा और अखण्डनीय है, अतः इसकी रक्षा ही जीवमात्र की रक्षा है।[४४] पृथिवी माता है व द्यौ पिता और माता-पिता का सम्मान सभी का कर्त्तव्य है, पृथिवी माँ सदैव कल्याण कर्त्री होती है, अतः पृथिवी की हिंसा मत करो अर्थात्

---

३७. द्यौ शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः.....। यजु० ३६.१७

३८. ...अग्नेऽअच्छा वदेह नः.... वही, ९.२८

३९. .... उग्रं वचोऽअपावधीत्..... वही, ५.८ ....त्वेषं वचऽअपावधीत् .....उतापवक्ता हृदयाविधश्चित्.... वही, ८.२३

४०. क- प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत्.. वही, ८.२४ ख- ....देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु... वही, ६.२ ग- मधु मधु मधु वही, ३७.१३

४१. क-भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः वही, २१.६१ ख- ...वाचमस्मे नि यच्छ देवायुवम्। वही३७.१६ ग- वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु। वही, ११.७ घ-सूक्तवाकाय सूक्ताब्रूहि वही, २१.६१ च- ...सहवाचा मयो भुवा...। वही, ३.४७ छ- ... अन्तरिक्षं शिवं तुभ्यं.....। वही, ३५.९

४२. उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम् ऋ० १०.१३६.३

४३. क-विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री....। यजु० १३.१८ ख- राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्यत्वा शीर्ष्णे। वही, ३७.४

४४. क-अयं गौः पृश्निरक्रमीत्... वही, ३.६ ख- इडे रन्ते हव्ये...चन्द्रे ज्योतिऽदिते...। वही, ८.४३ ग-सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती चासि च। घ- ...सूक्ष्मा चासि शिवाचासि स्याना चासि....। वही, १.२७

उसे प्रदूषित मत करो।[४५] पृथिवी तभी मानव को सुख दे सकती है, जब मानव उसका समुचित आदर करे और पृथिवी से कोई द्वेष अर्थात् उसे (प्रदूषित) न करे, अन्यथा यही स्वर्ग से महान् पृथिवी प्रदूषित होने पर विनाश का कारण बनेगी।[४६]

अतः वायु, जल, ध्वनि, भूमि आदि प्राकृतिक तत्त्वों में वर्तमान में अत्यधिक प्रदूषण व्याप्त है और यह प्रदूषण आतंकवाद से अधिक भयानक है, क्योंकि आतंकवाद जीवित होने पर मारता है और प्रदूषण जीवन की संभावनाओं को ही समाप्त करता है। इन भयानक प्रदूषणों का यजुर्वैदिक समाधान सर्वथा वैज्ञानिक है।

---

४५. क-तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः। वही, २५.१७ ख- ...तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्... वही, ९.५ ग- ...पृथिवी मातर्मा मा हिंसीः। वही, १०.२३ घ- .....पृथिवीं मा हिंसीः। वही, १३.१८

४६. क- ...यच्छा नः शर्म सप्रथाः। वही, ३५.२१ ख- ....अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेमत्र वही, १२.२९ ग- ....मातरं महीमदितिं नामवचसा करामहे। वही, ९.५ घ-.....भूरसि भूमिरस्यादितिरसि विश्वधायाः। वही, १३.१८

गुरुकुल शोध भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०२१-३५)

ऋग्वेद में आत्मतत्त्व की अवधारणा

डॉ० उमाकान्त यादव

भारतीय चिन्तन परम्परा में आत्मविषयक अवधारणा का विशेष स्थान है। उपनिषदों में आत्मविषयक विवेचन विशद् रूप से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में उपनिषदों की भाँति यह चिन्तन पूर्णतया विकसित तो नहीं है, लेकिन आत्मतत्त्व विषयक अवधारणा मूल रूप से बिखरी हुई अवस्था में ऋग्वैदिक सूक्तों में अवश्य विद्यमान है। ऋग्वेद में आत्मन् शब्द का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से २२ बार तथा संयुक्त रूप से लगभग ८ बार हुआ है।[१] जो पृथक्-पृथक् स्थलों में देह, श्वास, चैतन्य, सारतत्त्व आदि विभिन्न अर्थों का बोधक है। इसके अतिरिक्त वैदिक सूक्तों में प्रयुक्त जीव, प्राण, असु एवं मनस् पदों के द्वारा भी आत्मविषयक अवधारणा को उद्घाटित किया जा सकता है।

ऋचाओं में 'आत्मन्' शब्द 'आत्मा' अर्थ का वाचक परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ जब पर्जन्य के लिए कहा जाता है कि वह समस्त वनस्पतियों में बीजाधान करने वाला वृषभ है, उसमें चराचर जगत् का आत्मा स्थित है[२] तो यहाँ आत्मन् शब्द द्वारा 'आत्मा' अर्थ का ही निर्देश है। ग्रिफिथ[३] ने यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ जीवन एवं मूर[४] ने आत्मा किया है। एक अन्य मन्त्र में सूर्य को चराचर जगत् का आत्मा कहा गया है।[५] इसी तरह अन्यत्र[६] सोम को यज्ञ की आत्मा कहा गया है। इन सभी स्थलों पर भी आत्मन् शब्द आत्मा अर्थ का ही निदर्शन कर रहा है। यहाँ आत्मा का अर्थ ग्रिफिथ[७] ने 'सोल' तथा सायण[८] ने स्वरूपभूतः या आत्मभूतः किया है।

ऋचाओं में 'आत्मन्' शब्द 'चेतन' अर्थ में भी प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ जब ऋषि यह कहता है कि जो हड्डी रहित होते हुए भी हड्डियों से युक्त प्राणियों को धारण करता है[९] तो यहाँ चेतन सत्ता का ही बोध होता

---

१. ऋग्वेद संहिता, सूची खण्ड, पंचम भाग।

२. स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ ७.१०.१.६

३. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद

४. मूरः ओरिजनल सस्कृत टैक्सट, वाल्यूम, पृ० १४२

५. सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ १.११५.१

६. गोषा इन्द्रो नृषा अस्यश्वसावजसा उत। आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः। ऋ० ९.२.१०

७. ऋ० १.११५.१, ९.२, १० ग्रिफिथ का अनुवाद

८. वही, सायणभाष्य।

९. अस्थवन्तं यदनस्था बिभर्ति। ऋ० १.१६४.४

है। इसी मन्त्र में **'भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्'** द्वारा प्राण, रक्त एवं आत्मा के विषय में जिज्ञासा व्यक्त है। सायण ने यहाँ 'प्राण' (असु) को सूक्ष्म शरीर तथा 'रक्त' (असृक्) को सप्तधातु का उपलक्षक एवं 'आत्मा' को चेतन माना है।

'आत्मन्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 'प्राणवायु' के अर्थ में भी परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ जब अश्विनों को तीन वेदियों में आने के लिए उसी प्रकार आहूत किया गया है, जिस प्रकार प्राणियों का आत्मभूत वायु (आत्मा इव वातः) उनके शरीर में प्रवेश करता है[१०] तो यहाँ 'आत्मा' शब्द का प्रयोग प्राणवायु (Vital Air) के अर्थ में हुआ है। ग्रिफिथ[११] ने यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ प्राणवायु किया है। एक अन्य मन्त्र[१२] में मृतक को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम्हारी चक्षु सूर्य को एवं आत्मा वायु को प्राप्त हो। यहाँ ब्रह्माण्ड में प्रकाशक सूर्य से शरीर में प्रकाशक चक्षु को तथा ब्रह्माण्ड की वायु से शरीररूप वायु को मिलने की कामना की गयी है। यहाँ पर आत्मा शब्द से शरीरस्थ वायु- 'प्राणवायु' का ही द्योतन हो रहा है। आत्मा का अर्थ यहाँ सायण ने प्राण[१३] तथा मूर ने श्वास[१४] किया है। इस तरह के अन्य संदर्भ[१५] ऋग्वेद में परिलक्षित होते हैं, जहाँ 'आत्म' शब्द 'प्राणवायु' का वाचक है।

ऋचाओं में 'आत्मन्' शब्द निजवाचक सर्वनाम 'स्वयं' के अर्थ में भी प्रयुक्त है। ऋग्वेद में 'पाकस्थामा' को अपने पिता का पुत्र कहा गया है- **अयं पाकस्थामा स्वयं (आत्मा) जनकरूपस्य (पितुः) तनयः (तनूः)।**[१६] यहाँ 'आत्मा' पद 'स्वयं' अर्थ प्रदान कर रहा है। इसी अर्थ में प्रयुक्त एक अन्य मन्त्र में सोम को कहा गया है कि तुम स्वयं (आत्मा) इन्द्र के उत्तम अन्न हो।[१७] ऋग्वेद के अन्य संदर्भों[१८] में भी आत्मन् शब्द यही अर्थ देते हुए परिलक्षित होता है।

आत्मन् शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 'शरीर' (देह) अर्थ में भी हुआ है। उदाहरणार्थ - यक्ष्मनाशन सूक्त में जब ऋषि कहता है कि तुम्हारे समस्त शरीर से मैं रोग को दूर करता हूँ- **यक्ष्मं सर्वस्यादात्मनस्तमिदं वि**

---

१०. तिस्रो ना सत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणिगच्छतम्। ऋ० १.३४.७

११. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद।

१२. सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा। ऋ० १०.१६.३

१३. वही, सायणभाष्य।

१४. मूरः ओरजनल संस्कृत टैक्सट, वाल्यूम ५, पृ० २९८

१५. ऋ० ७.८७.२, १०.९२.१३ एवं १०.१६८.४

१६. ऋ० ८.३.२४ पर सायणभाष्य।

१७. आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तमः। ऋ० ९.८५.३

१८. ऋ० ९.११३.१, १०.९७.४

वृहामि ते।[१९] यहाँ आत्मा शब्द शरीर का ही वाचक है। सायण ने **'सर्वस्मादात्मनः'** का अर्थ **'कृत्स्नादेव ते शरीरात्'** किया है।[२०] एक अन्य मन्त्र में ओषधियों के लिए कहा गयाा है कि हे पुरुष! ये तुम्हारे (रोगग्रस्त) शरीर को स्वास्थ्य रूप धन देंगी- **धनं सनिष्यन्तीनामत्मानं तव पुरुष।**[२१] यहाँ सायण ने 'आत्मनं' का अर्थ 'शरीरं प्रति' किया है।[२२] इस तरह के अन्य संदर्भ[२३] भी ऋग्वेद में हैं, जहाँ 'आत्मन्' शब्द 'शरीर' अर्थ प्रदान करता हुआ परिलक्षित होता है।

ऋग्वेद के उक्त इन संदर्भों में आत्मन् शब्द 'आत्मा', 'चेतन तत्त्व', 'प्राणवायु' एवं निजवाचक सर्वनाम स्वयं के अर्थ में प्रयुक्त है। मैक्समूलर का कथन है कि आत्मन् शब्द ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर श्वास के लिए आया है फिर यह प्राणशक्ति, जीवन तथा शरीरात्मा के अभिप्राय में प्रयुक्त होने लगा और बाद में यही आत्मन् नियमित रूप से निजवाचक सर्वनाम बन गया।[२४] कीथ के अनुसार ऋग्वेद में आत्मा शब्द प्रथमतः वायु अर्थ में प्रयुक्त हुआ। तत्पश्चात् श्वास अर्थ, फिर उससे आत्मा अर्थ उभरा। उसके बाद निजवाचक सर्वनाम 'स्वयं' के रूप में और शरीर इस अर्थ में इस पद का प्रयोग हुआ। तदनन्तर किसी वस्तु के तात्त्विक स्वरूप को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त हुआ। बाद में यही शब्द शरीर से पृथक् मानवीय आत्मा को दर्शाने के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा।[२५]

ऋचाओं में वर्णित 'आत्मन्' शब्द के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट है कि वहाँ इस पद द्वारा 'परमतत्त्व' का निर्देश नहीं किया गया है, जैसा कि उपनिषदों में प्राप्त होता है। 'आत्मन्' शब्द से 'परमतत्त्व' का बोध अथर्ववेद में एक स्थान पर अवश्य परिलक्षित होता है, जहाँ ऋषि कहता है कि वह अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू और रस से तृप्त है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। उसी धीर, अजर तथा युवा आत्मा के ज्ञाता मृत्यु से नहीं डरते।[२६] यजुर्वेद में भी **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'**[२७] अर्थात् उस (आत्मा) को जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है, के द्वारा आत्मा को परमतत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है। इस तथ्य का इसी रूप में

---

१९. ऋ० १०.१६३.५,६
२०. वही, सायणभाष्य।
२१. ऋ० १०.९७.८
२२. वही, सायणभाष्य।
२३. ऋ० १.१६२.२०, १.१६३.६
२४. मैक्समूलर दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ७१-७२
२५. कीथ : फिलासफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद् खण्ड २, पृ० ४५१-४५२
२६. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् अथर्व० १०.८.४४

२७. यजु० ३१.१८

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी उल्लेख है।[२८] उपनिषदों में यही आत्मतत्त्व के रूप में वर्णित है, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।[२९]

ऋग्वेद में 'जीव' शब्द द्वारा भी 'आत्मतत्त्व' का निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ - एक मन्त्र में आह्वान है कि हे मनुष्यो! उठो, हमारे शरीर का प्रेरक जीवात्मा आ गया है- **उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्।**[३०] यहाँ सायण ने 'जीव' का अर्थ 'जीवात्मा' किया है।[३१] वस्तुत: यह प्रयोग यहाँ उषा के लिए किया गया है, फिर भी जीव शब्द यहाँ मानव शरीर में रहने वाले प्रेरक एवं जीवनदायक तत्त्व का परिचायक है। एक अन्य मन्त्र[३२] में कहा गया है कि तीव्रगामी अविनाशी जीवात्मा (जीवम्), श्वास लेता हुआ तथा चेष्टा करता हुआ गृहों के मध्य निश्चल पड़ा रहता है। इसी मन्त्र में आगे वर्णित है कि मृतशरीर का मर्त्य के साथ रहने वाला अमर्त्य आत्मा (जीव:) अपनी धारणाशक्तियों से युक्त होकर घूमता रहता है। यहाँ दोनों स्थलों पर जीव शब्द आत्मा (जीवात्मा) का ही बोध करा रहा है। आत्मानन्द में भी यहाँ जीव: का अर्थ अङ्गीकृत 'जीवभाव' आत्मा किया है।[३३] यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इस मन्त्र में शरीर की असारता तथा जीव की नित्यता प्रतिपादित की गयी है।[३४] यद्यपि आत्मा की नित्यता एवं शरीर की अनित्यता का प्रतिपादन उपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता में विशद रूप में हुआ है, किन्तु इस चिन्तन का मूल इसे स्वीकार किया जा सकता है।

जीवात्मा को 'सुपर्ण' के रूप में चित्रित करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि दो सुपर्ण (जीवात्मा और परमात्मा) हैं। ये दोनों सदा साथ रहते हैं और घनिष्ठ मित्र हैं। ये दोनों एक वृक्ष पर बैठे हैं, इनमें से एक (जीवात्मा) वृक्ष के स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ न खाता हुआ केवल साक्षी के रूप में प्रकाशित हो रहा है।[३५] सायण ने सुपर्णों का अर्थ **'क्षेत्रजपरमात्मनौ'** अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा किया है। वृक्ष को उन्होंने शरीर का वाचक माना है। सायण के अनुसार जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों समान रूप से शरीर में स्थित रहते हैं। उनमें से जीवात्मा अपने स्वादुकर्म फलों का भोग करता है और परमात्मा न खाता हुआ अर्थात्

---

२८. श्वेता० ३.८

२९. मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। बृहदा० २.४.५

३०. ऋ० १.११३.१६

३१. वही, सायणभाष्य

३२. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनि:। ऋ० १.१६४.३०

३३. वही, आत्मानन्द का भाष्य।

३४. अनेन देहस्य असारता जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यते। वही, सायणभाष्य।

३५. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति। ऋ० १.१६४.२०

फलों को न भोगता हुआ केवल साक्षी रूप में द्रष्टा मात्र है। सायण ने '**सयुजौ**' का अर्थ '**समानयोगौ**' करके जीवात्मा एवं परमात्मा में तादात्म्य स्थापित करते हुये उनमें अभेद का प्रतिपादन किया है।[३६]

ऋग्वेद में 'प्राण' शब्द द्वारा भी आत्मतत्त्व का संकेत प्राप्त होता है। ऋचाओं में प्रयुक्त प्राण शब्द 'श्वास' अथवा 'प्राणवायु' को व्यक्त करता है। वहाँ प्राण का जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। उदाहरणार्थ-अग्नि को सम्बोधित एक मन्त्र में उसे जीवन के समान प्राणवान् (आयुर्न प्राणः) कहा गया है।[३७] यहाँ सायण ने 'आयुर्न प्राणः' पर भाष्य करते हुए कहा है कि जैसे प्राणवायु जीवन का अवस्थापक है, उसी प्रकार अग्नि भी जठराग्नि रूप में आयु का अवस्थापक है-**यथा प्राणवायुः वायुः जीवनमवस्थापयति। एवमग्निरपि जाठररूपेणायुषोऽवस्थापयिता।**[३८] इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने कौषतकि उपनिषद् को उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि शरीर में जब तक प्राण रहता है, तभी तक आयु है -**यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।**[३९] इस तरह ऋग्वेद में प्राण को जीवनतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। शतपथ-ब्राह्मण में प्राण को अमृत कहा गया है।[४०] परवर्ती संहिताओं में प्राण का तादात्म्य परमतत्त्व के साथ स्थापित किया गया है। अथर्ववेद में उस प्राण को नमन किया गया है, जिसके वश में सम्पूर्ण संसार है, जो समस्त प्राणियों का ईश है और जिसमें समस्त संसार प्रतिष्ठित है।[४१]

ऋग्वेद में 'असु' शब्द का प्रयोग भी प्राण के अर्थ में हुआ है। उदाहरणार्थ-एक मन्त्र में कहा गया है कि हे मनुष्यो! उठो, हमारा प्राणरूप जीवन आ गया है- '**उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्**'।[४२] सायण ने यहाँ 'असु' का अर्थ '**शरीरस्य प्रेरयिता**' कर इसे जीव का विशेषण माना है[४३] जबकि स्कन्दस्वामी एवं वेङ्कटमाधव ने जीव को विशेषण और असु को विशेष्य मानकर इसका भाष्य क्रमशः '**जीवितस्थानीया असुः**'[४४] एवं 'जीवयिता प्राण'[४५] किया है। यहाँ दोनों भाष्यकारों ने असु को प्राण का वाचक माना है। एक अन्य मन्त्र[४६] में

---

३६. सयुजा समान योगौ। योगो नाम संबन्धः स च तादात्म्यलक्षणः। स एवात्मा जीवात्मनः स्वरूपं यस्य परमात्मनः स तदात्मा। एवमन्यस्यापि स एवात्मा परमात्मनः स्वरूपं यस्य जीवात्मनः। एवमेकस्वरूपौ इत्यर्थः। वही, सायणभाष्य।

३७. रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्योनऽसूनुः। ऋ० १.६६.१

३८. वही, सायणभाष्य

३९. कौ० उष० ३.२

४०. अमृतममु वै प्राणः। शतब्रा० ९.१.२.३२

४१. प्राणाय नो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वे प्रतिष्ठितम्। अथर्व० ११.४.१

४२. ऋ० १.११३.१६

४३. वही, सायणभाष्य

४४. वही, स्कन्द स्वामी का भाष्य।

४५. वही, वेंकट माधव का भाष्य।

४६. ऋ० १.१४०.८

अग्नि शिखाओं को उत्कृष्ट सामर्थ्य (असु) देता हुआ परिलक्षित होता है। सायण ने यहाँ 'असु' का अर्थ 'प्राण' किया है।[४७] अन्यत्र अश्वि देवों से कृपण व्यापारी के प्राणों (असु) को नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है।[४८] प्रजापति सूक्त में देवों के अद्वितीय प्राण (असु) की उत्पत्ति का उल्लेख है।[४९] यहाँ सायण 'असु' का अर्थ 'प्राणात्मक वायु',[५०] उव्वट एवं महीधर प्राणरूप आत्मा[५१] तथा पीटर्सन आत्मा[५२] अर्थ करते हैं। एक अन्य मन्त्र में भी जब ऋषि कहता है कि पृथ्वी देवी हमें प्राण प्रदान करें, पुनः द्युलोक एवं अन्तरिक्ष देव हमें प्राण प्रदान करें-**पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्**[५३] तो यहाँ पर असु शब्द प्राणतत्त्व का ही बोध कराता है। निरुक्त में भी 'असु' को प्राण का वाचक स्वीकार किया गया है।[५४]

ऋग्वेद में आत्मतत्त्व के अर्थ में मनस् का प्रयोग भी परिलक्षित होता है। दशम मण्डल के अट्ठावनवें सूक्त में वैवस्वत यम,[५५] पृथिवीलोक[५६] चतुर्दिक् बिखरी भूमि,[५७] चारों प्रदिशाओं,[५८] समुद्र[५९] चारों ओर फैली किरणों[६०], जलों एवं वनस्पतियों[६१], सूर्य एवं उषा[६२], पर्वत[६३], समस्त जगत्[६४] , दूर से भी दूर[६५] तथा 'भूत एवं भविष्यत्'[६६] से मृतक के मन को लौटाने का वर्णन है। चूँकि मृत्यु के समय मनुष्य की आत्मा उसके शरीर से

---

४७. वही, सायणभाष्य।
४८. ऋ० १.१८२.३
४९. वही, सायणभाष्य।
५०. वही, उव्वट एवं महीधर का भाष्य।
५१. वही, पीटर्सन का अनुवाद।
५२. ऋ० १०.५९.७
५३. असुरिति प्राणनाम। निरुक्त ३.८
५४. ऋ० १०.५८.१
५५. ऋ० १०.५८.२
५६. ऋ० १०.५८.३
५७. ऋ० १०.५८.४
५८. ऋ० १०.५८.५
५९. ऋ० १०.५८.६
६०. ऋ० १०.५८.७
६१. ऋ० १०.५८.८
६२. ऋ० १०.५८.९
६३. ऋ० १०.५८.९
६४. ऋ० १०.५८.१०
६५. ऋ० १०.५८.११
६६. ऋ० १०.५८.१२

निकल कर दूर चला जाता है, इसीलिए इस सूक्त में शरीर से निःसृत आत्मारूपी मन को पुनः वापस बुलाने का कथन है। मूर ने यहाँ मनस् का अर्थ आत्मा किया है।[६७] शतपथ-ब्राह्मण में भी कहा गया है कि मन में आत्मा प्रतिष्ठित है।[६८] छान्दोग्य उपनिषद् में भी मन को आत्मा कहा गया है।[६९]

इस तरह ऋग्वेद में अर्थों में आपाततः सूक्ष्म अन्तर होते हुए भी आत्मतत्त्व के अभिधायक आत्मन्, जीव, प्राण, असु एवं मनस् शब्द प्राप्त होते हैं, जो उपनिषदों की तरह तो नहीं, फिर भी वे इस तथ्य का बोध अवश्य कराते हैं कि ऋषियों के मस्तिष्क में आत्मतत्त्व विषयक अवधारणा अवश्य विद्यमान थी। यहाँ आत्मतत्त्व परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है, फिर भी ऋचाओं में प्राप्त अजोभागः,[७०], सुपर्णः,[७१], एकं सत्[७२], तदेकं[७३] परमपदम्[७४] तथा अभयं ज्योति[७५] आदि अनेक पद परमतत्त्व की अभिव्यक्ति कराने में अवश्य समर्थ हैं। ये पद भले ही साक्षात् बोध नहीं कराते हों, फिर भी चिन्तन का मार्ग निश्चित रूप से प्रशस्त करते हैं।

---

६७. मूर, ओरिजनल संस्कृत टैक्स्ट वाल्यूम ५, पृ० ३१३

६८. मनसि ह्यात्मा प्रतिष्ठितः। शत.ब्रा० ६.७.१.२१

६९. मनोह्यात्मा। छा०उप० ७.३.१

७०. ऋ० १०.१६.४

७१. ऋ० १.१६४.४६

७२. ऋ० १.२२.२०-२१

७३. ऋ० १०.११४.४

७४. ऋ० १०.१२९.२

७५. ऋ० २.२७.११, १४

गुरुकुल शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०३६-४४)

यजुर्वेदीयदयानन्दभाष्ये विविधदेवताः प्राणाश्च

डॉ० जितेन्द्र कुमार

मानवस्य शरीरे मूर्त्तामूर्त्तानेकविधाः शक्तयोऽस्तित्वाङ्गताः। तासु शक्तिपु प्राणशक्तेः माहात्म्यं सर्वोपरि दृष्टिपथं प्रतिभाति। अन्यासु शक्तिष्वस्तङ्गतासु शरीरे प्राणशक्तयः कार्यं कुर्वन्ति, किन्तु प्राणशक्तेरुत्क्रमणे अन्याश्शक्तयोऽपि निष्क्रियाः भूत्वा देहं चेष्टाशून्यं विदधति। अतः प्राणानां माहात्म्यं सर्वोपरि स्पष्टमेव।

'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इत्यनुसारं व्यष्टिगताः प्राणाः यत्र शरीरे प्राणापानोदानव्यानसमानाः पञ्चप्रमुखप्राणानां रूपे स्व-स्व कार्यं कुर्वन्तः देहं धारयन्ति तत्र समष्टिगताः प्राणाः ब्रह्माण्डे विविधाः (मित्र-वरुण रुद्र-सूर्यचन्द्राश्विप्रभृतयो) देवाः ब्रह्माण्डस्य स्थितिं राध्नुवन्ति।

शोधलेखेऽस्मिन् यजुर्वेदीयदयानन्दभाष्ये प्राणविषयकान् कांश्चन मन्त्रान् प्रदर्शयन्नेतदन्वीक्षितुं प्रयतिष्ये यत् कान्-कान् देवान् स स्वामिप्रवरः प्राणरूपेण मन्यते तथा च तद्विषयकान् कतिधाऽर्थान् गृहीत्वा तैः किमभिप्रेतमस्ति ?

विस्तरेणाति विषयान्तराशङ्कया पिण्डब्रह्माण्डयोश्च प्राणेभ्यः तुलनात्मकं गभीरमध्ययनमत्र नापेक्ष्यते। अपितु प्राणानां विविधदेवतानाञ्चाशयो विभिन्नान् देवान् प्राणान् निरूप्य तेषां स्वरूपचित्रणमत्र लक्षितम्।

स्वामिदयानन्दस्य यजुर्वेदभाष्यविषयाणां दृष्ट्या वैविध्यपूर्णैरर्थैः स्वपृथक् वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति। असौ सामाजिक-आर्थिक-आध्यात्मिक-शिल्पकलादिविषयेषु मन्त्राणां व्याख्यां कृतवान्। आध्यात्मिकतान्तर्गताः प्राणसम्बन्धिनः केचन मन्त्राः द्रष्टव्याः।

सम्पूर्णयजुर्वेदभाष्ये स्वामिवर्यः त्रिषु स्थलेषु जीवात्मातिरिक्तं दशप्राणानां नामोल्लेखं कुर्वन् तत्सदृशञ्च नियमानुकूलं निरन्तरं व्यवहारे स्थातुं मनुष्यान् निर्दिशति। मन्त्रार्थांशाः अधस्तादुद्ध्रियन्ते- 'मन्त्रेऽस्मिन्नुपमाऽलङ्कारः। ईश्वरः सर्वान् मनुष्यानुपदिशति यद् वसुः, रुद्रः (प्राणापानोदानव्यानसमाननाग-कूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयजीवात्मनश्चेति) आदित्यसंज्ञकैश्च पदार्थैः यद्यत् कार्यं साधयितुं शक्यते तत्तत् सर्वेषां प्राणिनां पालनाय नित्यं सेवितुं योग्यम्'[१]

---

१. समिदसि सूर्य्यस्त्वा पुरुस्तात्-------- रुद्राऽआदित्या सदन्तु। अत्रोपमालंकारः। ईश्वरः सर्वेभ्य इदमुपदिशति-मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्याख्येयो यद्यदुपकर्त्तुं शक्यं तत्तत्सर्वस्यभिरक्षणाय नित्यमनुष्ठेयम्....। रुद्राः प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्म्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्या दश प्राणा एकादशो जीवश्चेत्येकादश रुद्राः।। यजु० २.५ दयानन्द।।

द्वितीयमन्त्रभाष्ये कथ्यते- 'यो निजमहिम्ना विद्युत् स्वरूपा एकादशार्थात् प्राणापानोदानव्यानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयजीवात्मानश्चेति दिव्यगुणयुक्ताः सन्ति भूमेरुपरि चैकादशार्थात् पृथिव्यब्गिनवाय्वाकाशदित्यचन्द्रमा नक्षत्राहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतयो विद्यन्ते तथा च प्राणेषु विद्यमानान्येकादश अर्थात् श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वानासिका वाग्घस्तपादगुदाशिश्नमनांसि च सन्ति, तानि यथा स्व-स्व कार्येषु रतानि तथैव हे राजसभासदः भवन्तः यथायोग्या स्वकर्त्तव्येषु स्थित्वा अस्य राज्यस्य प्रजासम्बन्धिव्यवहारस्य चाचरणं कुर्युः।[2]

तृतीयमन्त्रार्थे उपर्युक्तानां दशप्राणानां जीवात्मनश्चोल्लेखं कृत्वा स्त्रीपुरुषौ च सम्बोध्य अनुकूलं प्रीतिपूर्वकश्च व्यवहर्त्तुं प्रेरणा प्रदत्ता।[3]

त्रिषूक्तमन्त्रार्थेषु प्राणानां गणना दशसंख्याका निर्दिष्टा द्वितीयमन्त्रार्थे च दशप्राणेषु जीवात्मनि च विद्यमानानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वानासिकावाग्घस्तपादगुदालिङ्गमंनासि निगदितानि। सर्वैर्मनुष्यैः प्राणवत् निरन्तरक्रियायुक्तैरन्येभ्यो जीवनदातृभिः परस्परानुकूलव्यवहारेण च प्रीतियुक्तैः व्यवहर्त्तव्यम् एवं प्रेरणा प्राप्यते।

यजुर्वेदमन्त्रेषु कस्मिन्नपि स्थले दशप्राणानामुल्लेखो न बभूव। एषु त्रिषु मन्त्रेषु द्वयोः मन्त्रयोः (प्रथमतृतीययोः) रुद्रशब्देनैकस्मिन् मन्त्रे च (द्वितीये) एकादशशब्देन जीवात्मसहितदशप्राणानामुल्लेखोऽस्ति। रुद्रशब्दः प्राणवाचकः शतपथब्राह्मणे पठितः। तत्र प्रश्नो वर्त्तते- कति रुद्राः? इति। उत्तरं चैवं प्रस्तूयते- पुरुषेऽस्मिन् दशप्राणाः एकादश आत्मा एते एवं रुद्राः सन्ति। यदाऽस्मात् मर्त्यशरीरात् एकादशरूपा रुद्रा उत्क्रमणं कुर्वन्ति तदा रोदयन्ति इति कारणेन एते रुद्रा उदीरिताः।[4] आधारेऽस्मिन् एकादशरुद्रशब्दस्योश्चार्थः जीवात्मसहिताः प्राणा इति क्रियते। यजुर्वेदमन्त्रेषु आदिमः पञ्चप्राणानामुल्लेखः भाष्यगतोऽर्थश्च केषुचिन्मन्त्रेषु

---

२. ये देवासो दिव्येकादश.......यज्ञमिमं जुषध्वम्।। 'ये देवासः दिव्यगुण दिवि विद्युति एकादश प्राणापानोदानव्यानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधञ्जयजीवाः स्थ सन्ति। पृथिव्याम् भूमौ अधि उपरिभावे एकादश पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादित्यचन्द्रनक्षत्रांहकारमहत्तत्त्वप्रकृतयः स्थ सन्ति। अप्सुक्षितः प्राणेषु क्षयन्ति निवसनित ते महिना महिम्ना एकादश श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसि स्थ सन्ति। ते देवासः राजसभासदो विद्वांसः यज्ञम् राजप्रजासम्बद्धव्यवहारं इमम् प्रत्यक्षं जुषध्वम् सेवध्वम्।। वही- ७.१९ स्वामी दयानन्द सरस्वती।। नोट - प्रथम मन्त्र में भावार्थ का अंश है तथा रुद्र शब्द में परिगणित दश प्राण और जीवात्मा पदार्थांश हैं। द्वितीय मन्त्र में पदार्थ है।।

३. सजूर्ऋतुभिः सजूर्विद्याभिः.... सादयतामिह त्वा।। रुद्रैः प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकदेवदत्तधनञ्जयजीवैः। वही-१४.७

४. कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुक्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्मादुद्रा इति।। शतपथ ब्रा० - १४.६.९.४-६

विविधप्रकारेणोपलभ्यते। एकस्मिन् मन्त्रे प्राणापानव्यानैः नेत्रादीन्द्रियैश्च प्रत्यक्षप्रमाणयुक्तवाग्व्यवहारेण विद्वांसो भवन्ति इत्युदीरितम्। मन्त्रार्थो निम्नरुपेण वर्त्तते।

यैः मानवैः यो वायुराभ्यन्तरतो बहिः निष्क्रामति तस्मै योगविद्यायुक्ताक्रिया, यो बाह्यतोऽभ्यन्तरं गच्छति तस्मै वायवे वैद्यकविद्यायुक्ताक्रिया यश्च विविधप्रकाराणाम् अङ्गेषु व्याप्नोति तस्मै वायवे वैद्यकविद्यायुक्तावाग्, येन प्राणी पश्यति तस्मै नेत्रेन्द्रियाय प्रत्यक्ष प्रमाणयुक्तावाक्, येन श्रृणोति तस्मै कर्णेन्द्रियाय शास्त्रज्ञविदुषः उपदेशयुक्तावाक्, येन वदति तस्मै वाचे सत्यभाषणादिव्यवहारयुक्ताभाषा विचारनिमित्ता, संकल्पविकल्पवते मनसे विचारसंयुक्तावाक् प्रयुज्यते ते विद्वांसो भवन्ति।[५]

मन्त्रेऽस्मिन् त्रयाणां प्राणानामर्थो निगदितः। एकस्मिन्नन्यमन्त्रे पञ्चप्राणानां नामोल्लेखपूर्वकोऽर्थोऽनेन प्रकारेण वर्णितः।

हे मानवाः! युष्माभिः एतादृशी कामना कर्त्तव्या यदस्माकमायुः, येन जीवामः स श्रेष्ठक्रियया परमेश्वरस्य विदुषां च सत्कारेण प्राप्तानि कर्माणि विद्यादिप्रदानेन समर्पितानि स्युः, येन प्रत्यङ्गेऽन्नं प्रापयति स समानवायुरुत्तमक्रियया यज्ञेन समर्प्यताम्।[६]

मन्त्रोऽसौ प्राणानां पृथक्-पृथक् कार्यस्य संकेतं करोति। एकस्मिन् स्थले स्त्रियं सम्बोध्य पत्युर्विषये काम्यते यत्तस्य जीवनाधारः प्राणः, दुःखस्य निवृत्तिः, नैकप्रकाराणाम् उत्तमव्यवहाराणां सिद्धिः बलोत्तमाद्यर्थे कार्यकारणसम्बन्धवत् निश्चला भूत्वा पतिं प्रतिष्ठापयतु।[७]

मन्त्रेऽन्यस्मिन् स्त्रीपुरुषौ प्राणसदृशौ स्थिरौ प्रीतियुक्तौ भवितुं प्रार्थ्येते उच्यते च - हे स्त्रि! प्रजारक्षकं स्वपतिं तेऽधिभूमिं सर्वेषां सुखानामिच्छार्थं, दुःखनिवृत्तिसाधनं, सर्वेषां, शोभनगुणकर्मस्वभावानां प्रचाराय प्राणविद्यायै स्थिरीकुरु।[८]

---

५. प्राणाय स्वाहा अपानाय स्वाहा.......मनसे स्वाहा।। प्राणाय य आभ्यन्तराबहिर्निःसरति तस्मै स्वाहा वैद्यकविद्यायुक्ता वाक् चक्षुषे चष्टे पश्यति येन तस्मै स्वाहा प्रत्यक्षप्रमाण श्रोत्रायश्रृणोति येन तस्मै स्वाहा आप्तोपदेशयुक्ता गीः वाचे वक्ति यया तस्मै स्वाहा सत्यभाषणादियुक्ता भारती मनसे मनननिमित्ताय संकल्पविकल्पात्मने स्वाहा विचारयुक्ता वाणी।। यजु० २२.२३ स्वामी द.स.।

६. आयुर्यज्ञेन कल्पतां - स्वाहा.... कल्पतां स्वाहा।। आयु ऐति जीवनं येन तत् परमेश्वरस्य विदुषा च सत्करणेन संगतेन कर्मणा विद्यादिदानेन सह कल्पताम् समर्पयतु स्वाहा सत्क्रियया प्राणः जीवनमूलो वायुः यज्ञेन योगाभ्यास्यादिना कल्पताम् स्वाहा अपानः अपानयति दुःखं येन सः यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा व्यानः सर्वसंधिषु व्याप्तश्चेष्टानिमित्तः यज्ञेन कल्पतां स्वाहा उदानः उदानिति बलयति येन सः यज्ञेन कल्पतां स्वाहा समानः समानयति रसं येन सः यज्ञेन कल्पतां स्वाहा चक्षु.........'।।

७. विश्वस्य प्राणायापानाय........ध्रुवासीद।। विश्वस्मै संपूर्णप्राणाय जीवनहेतवे अपानाय दुःखनिवारणाय व्यानाय विविधोत्तमव्यवहाराय उदानाय उत्कृष्टबलाय ...... भव।।

अन्यस्मिन् मन्त्रे उच्यते यत्- स्त्रीपुरुषौ परस्परमुत्तमक्रियया नाभेरूर्ध्वगामिनः प्राणावायोः, नाभेरधः गुह्येन्द्रियमार्गात् निष्क्रामतोऽपानवायोः, तथा च विविधप्रकाराणां शरीरसन्धिषु तिष्ठतः व्यानवायोः, चक्षुःश्रोत्रादीनामिन्द्रियाणाञ्च रक्षणं कुरुताम्।[९]

उपयुर्क्तान् मन्त्रानाधारीकृत्य प्राणाः शरीरे येन प्रकारेण स्व-स्व कार्यं कुर्वन्तः परस्पराविरोधेन प्रीतेः व्यवहारं कृत्वा निरन्तरं तिष्ठन्ति तेनैव प्रकारेण मनुष्यैः स्त्रीपुरुषाभ्यां राजसभासद्भिश्च प्रयत्नपूर्वकम् अन्यान्यजीवनम् उन्नतिपथे निरन्तरमग्रेसारयितव्यम्। एतेषामर्थानामभिव्यक्तिकारणादन्ये मन्त्रार्थाः निम्नरूपेण द्रष्टव्यास्सन्ति।[१०]

---

८. विराड्ज्योतिरधारयत्........ध्रुवासीद।। 'प्राणाय प्राणिति सुखं येन तस्मै अपानाय अपानिति दुःखं येन तस्मै व्यानाय व्यानिति सर्वान् शुभगुणकर्मस्वभावान् येन तस्मै आदि.......।। यजु० १३.१४ स्वामी द.स.

९. प्राणम्मे पाह्यपानम्मे पाहि.......दिवो वृष्टिमेरय।। प्राणम् नाभेरूर्ध्वगामिनम् मे मम पाहि रक्ष अपानम् यो नाभेरर्वाग्गच्छति तम् मे मम पाहि रक्ष व्यानम् यो विविधेषु शरीरसन्धिष्वनिति तं मे पाहि चक्षु नेत्रम् मे-उर्व्या बहुरुपमोत्तमफलप्रदया पृथिव्या सह वि भारि श्रोत्रं मे श्लोकम् श्रोत्रश्रवणाय सम्बन्धम् अपः प्राणान् पिन्व पुष्णीहि सिंच ओषधी सोममवादीन् जिन्व प्राप्नुहि द्विषात् मनुष्यादीन् अव रक्ष चतुष्पात् गवादीन् पाहि दिवः सूर्य्यप्रकाशात् वृष्टिम् आ ईरय प्रेरय।। यजु० १४.८ स्वामी द.स.

१०. क-प्राणापानौ प्राणश्चऽपानश्च तावच्छ्वासनिःश्वासौ। यजु० ३६.१ द.स; ख- अध्यापक ओर उपदेशक प्राण और उदान के सदृश सबके जीवन के कारण होवें। यजु० २१.९ स्वामी द.स; ग-प्राणम् जीवनहेतुम्।। यजु. २१.४९ द.स; घ-प्राणाय प्राणपोषणाय।। यजु. २३.१८ द.स; ङ-प्राणः येन प्राणिति सः।। यजु. १३.५३ द.स; च-प्राणम् बलयुक्तं जीवनम्।। यजु. १३.५४ द.स; छ-प्राणाय जीवनसुखाय अपानाय दुःखनिवृत्तये व्यानाय विविधविद्या व्याप्तये उदानाय उत्कृष्टबलाय।। यजु. १५.६४ द.स; ज-प्राणदाः याः प्राणं जीवनं बलं च ददति ताः अपानदाः या अपानं दुःखदूरीकरण-साधनं प्रयच्छन्ति ताः व्यानदाः या व्याप्तिविज्ञानं ददति ताः।। यजु. १७.१५ द.स; झ-प्राणाः जीवनसाधनाः व्यानाः चेष्टानिमित्तां सर्वशरीरस्था वायवः।। यजु. १७.७ द.स; ञ-प्राणः हृदिस्थे वायुः उदानः कण्ठदेशस्थः पवनः अपानः नाभेरधोगामी वातः समानो नाभिसंस्थितो वायुः व्यानः शरीरस्य सर्वेषु सन्धिषु व्याप्तः पवनः धनञ्जय जो कि शरीर के रुधिरादि को बढ़ाता है, यह वायु तथा नाग आदि प्राण के भेद और अन्य वायु।। यजु. १८.२ ट-प्राणः जीवनहेतु।। यजु. १८.२२, १८.२९ ठ-प्राणपाः यः प्राणं रक्षति अपानपाः यो अपानं पाति।। यजु. २०.३४ ड-प्राणाय प्रकृष्टं मन्यते जीव्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय उदानाय स्फूर्तिहेतवे ऊर्ध्वं मन्यते चेष्टयते येन तस्म उत्क्रमणपराक्रमहेतवे व्यानाय विविधं मन्यते व्याप्यते येन तस्मै सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्याज्ञानां च व्याप्तिहेतवे।। यजु. १.२० ढ-प्राणात् ब्रह्माण्डशरीरयोर्मध्य ऊर्ध्वगमनशीलात् अपानती अपानमधोगमनशीलं वायुं निष्पादयन्ती विद्युत्।। यजु. ३.७ ण-प्राणाय प्राणति जीवयतीति प्राणो हृदयस्थो वायुस्तस्मै व्यानाय सर्वशरीरगतवायवे।। यजु. ७.२७ स्वामी दयानन्द सरस्वती।।

प्राणविषयकमन्त्रप्रदर्शनानन्तरं प्राणवाचकानां देवानां वर्णनानां द्रष्टव्यानि। देवानां मध्ये- मित्रः, वरुणः, रुद्रः, पशुपतिः, वायुः, आपः, अश्विनौ, मरुतः, पूषा, आदित्यः, सूर्यः, वैष्णव्यौ, विष्णुः, इन्द्रवायू, मित्रावरुणौ इति देवानामतिरिक्तं संख्यावाचकशब्दैरन्यैरनेकशब्दैश्च प्राणानामुल्लेखो दरीदृश्यते। यथा -

मित्रः (मित्रम्) प्राणमिव सखायम्।[११] (मित्रः) प्राणः।[१२] (मित्रः) प्राण इव प्रियसखा।[१३] (मित्रः) प्राणोऽन्येवायवश्च।[१४] (मित्रा) मित्रं प्राणम्।[१५] आह महर्षिदयानन्दः।

प्राणाः- यजुर्वेदीयदयानन्दभाष्ये द्वयोः स्थलयोः देवाभिधानेनाभिहिताः।[१६] विदेहराजजनकस्य सदसि विदग्धः शाकल्यः याज्ञवल्क्यं बृहदारण्यकोपनिषदि पप्रच्छ- हे विद्वच्छिरोमणे याज्ञवल्क्य! कति देवाः? याज्ञवल्क्यः क्रमेण अनेकदेवानां निरूपणान्ते सर्वमूलकस्य एकदेवस्य व्याख्यानं चकार। कतम एको देवः? असौ प्राणाः, तमेव ब्रह्म इत्याचक्षते।[१७] अत्रापि प्राणा देवा इत्युच्यन्ते। मित्रस्यैतद्वर्णनातिरक्तिम् अनेकेषु स्थलेषु प्राणाः प्राणवच्च प्रियसखा इति भणितम्। मानवस्य स्वाभाविकी प्रवृत्तिः प्राणानां रक्षार्थं भवति परं नैकेषु प्रसङ्गेषु स्वप्राणानां मोहं परित्यज्यापि निजानन्यमथवाऽभिन्नं रक्षामः तस्यैव कृतेऽत्र प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽथवा प्राणसदृशप्रियं मित्रमभिहितम्। शरीरे प्राणानां या स्थितिः, समाजेऽस्ति सैव मित्राणाम्। मित्रं विना सामाजिकं जीवनं नास्ति, तथैव प्राणान् विना शरीरास्तित्वमपि न विद्यते सुविदितमेतत्।

वरुण-वरुणदेवस्यार्थोऽनेकेषु स्थलेषु उदान उदीरितः।[१८] अन्यस्मिन् मन्त्रे वरुण उदानवदुत्तमविदुषोपमितः।[१९] उदानः शरीरे उत्कृष्टबलस्य, स्फूर्त्त्युत्साहस्य च कार्यं करोति एवमेव उत्तमो विद्वान् समाजे ज्ञानेन उत्कृष्टकार्यस्य प्रेरणां कृत्वा जनानां जीवने बलं स्फूर्त्तिम् उत्साहं च संचार्योन्नतिं प्रति अग्रेसर्त्तुं साहाय्यं करोति। अन्यस्मिन् स्थले वरुण उदानवत् श्रेष्ठो निगदितः।[२०]

---

११. यजु० ३९.९
१२. यजु० ३९.६
१३. यजु० ३६.९
१४. यजु० ३४.५७
१५. यजु० ३३.४५
१६. देवौ दिव्यस्वरूपौ प्राणापानौ ३४.५५ देवाः दिव्याः प्राणाः ११.६९
१७. कति देवा याज्ञवल्क्य इति? बृह.उ. ३.९.१ कतम को देव इति? प्राण इति। स ब्रह्म तदित्याचक्षते।। बृ.उ. ३.९.९
१८. वरुणः उदानः।। ३९.६ वरुणस्य उदानस्य।। ३३.३८, १३.४६, १८.१७
१९. वरुणः उदान ह्योत्तमविद्वान्।। ३३.४६, वरुणस्य श्रेष्ठस्योदानस्य वा ७.४२
२०. वरुणः उदान इव श्रेष्ठः।। २५.२४

मित्रावरुणा-मित्रावरुणयोरर्थ: अनेकेषु स्थलेषु प्राणोदानौ इति कथित:।[२१] राजप्रजाजन:, अध्यापकोपदेशकौ च प्राणोदानवत् सर्वेषां जीवनानां हेतुभूतौ भवेताम् इति प्रतिपादितम्।[२२]

एकाधिकस्थलेषु मित्रावरुणयोरर्थ: प्राणापानावपि निगदित:।[२३] एकस्मिन् मन्त्रे ये प्राणसदृशा: उत्तमसुहृद: सन्ति तान् प्रति इयं कामना कृता यत्तेऽस्माकं वाचं श्रेष्ठां कुर्वन्तु।[२४] अन्यस्मिन् मन्त्रे भणितं यन्मनुष्या: प्राणोदानतुल्येभ्य: सर्वान् धर्मं प्रति नेतुम् उद्यतेभ्यो विद्वद्भ्य: उत्तमज्ञानस्यार्जनं कृत्वा नन्दन्तु।[२५] मनुष्यै: प्राणापानयो: प्राणोदानयोश्च सदृशै: परस्परै: पूरयद्भि: अन्येषां कष्टानि, बलेन, ज्ञानेन च हर्त्तव्यानि। शतपथब्राह्मणेऽपि मित्रावरुणयोरर्थ: प्राणोदानौ इति अभिहित:।[२६]

रुद्र:-रुद्रस्यार्थ: दशप्राणा एकादशश्चात्मा इति पूर्वमेवोक्तम्। अनेकमन्त्रेषु अयमेवार्थ: स्वामिवर्यै: स्वभाष्ये सन्निहित:।[२७] एकस्मिन् मन्त्रे रुद्रस्यार्थ: कृतो यत्-यथा वायु: सूर्यस्य, सूर्य: प्रकाशस्य, प्रकाशो नेत्रयो: दर्शनव्यवहारस्य आधारोऽस्ति तथैव स्त्रीपुरुषौ परस्परसुखस्य साधनोपसाधनकर्त्तारौ भूत्वा सुखानि साध्नुयाताम्।[२८] अन्यत्रापि निगदितम् यत् श्रेष्ठपुरुषै: प्राणदिवदुपयोगिभि: प्रियैश्च भवितव्यम्।[२९]

पशुपति:-एकस्मिन् मन्त्रे पशुपते: निर्वचने स्वामिदयानन्देन कथितम् यत्- पशूनां पालको जगतो धर्त्ता रुद्र: सर्वेषां प्राणरूप: परमेश्वरोऽभिमतो विद्यते।[३०]

---

२१. मित्रावरुणा प्राणोदानौ।। ३४.३४, मित्रावरुणा मिलितौ प्राणोदानौ।। ३३.४९, २४.२, २४.८, २५.६, २८.१९, २९.६, २९.६०, १८.१९, २.१६, ६.२४, १०.१

२२. मित्रावरुणौ प्राणोदानाविव राजप्रजाजनौ।। ३३.८७, २१.९, २१.८ मित्रावरुणौ प्राणोदानौ प्राणायामप्रयासेन विद्धि।। ६.२१, ७.९

२३. मित्रावरुणौ यथा प्राणापानौ तथा।। ५.२७

२४. मित्रावरुणा प्राणवत् सखायावुत्तमौ जनौ।। ७.१०

२५. मित्रावरुणनेत्रेभ्य: प्राणापानतुल्येभ्य:।। ९.३५ मित्रावरुणनेत्रा: प्राणोदानवत् सर्वान् धर्म्मं नयन्त:।। ९.३६ मित्रावरुणौ य: सर्वप्राणो बहि:स्थो वायुर्वरुणोऽन्तस्य उदानो वायुश्च २.१६

२६. प्राणोदानौ मित्रावरुणौ।। शतपथ ब्रा. ३.१.१३

२७. रुद्रा: दश प्राणा एकादश आत्मा च।। यजु. ३४.४६, २१.२४, २४.३, २४.२७, २८.१८, १४.२५, १४.३०, १६.५४, १६.५६, १६.६३

२८. यथा वायु: सूर्य्यस्य सूर्यप्रकाशस्य प्रकाशचक्षुषव्यवहारस्य च कारणमस्ति तथैव स्त्रीपुरुषा: परस्परस्य सुखस्य साधनोपसाधनकारिणो भूत्वा सुखानि साध्येयु:।। यजु. ११.५४ स्वामी द.स.

२९. रुद्रेभ्य: प्राणेभ्य इव वर्तमानेभ्य: १६.६४, ५.११

३०. पशुपतिम् पशूनां पालकं जगद्धर्त्तारं रुद्रं सर्वप्राणम्। यजु. ३.५८

वायु:-वायोरर्थोऽनेकस्थलेषु प्राणशक्तिरूपः, प्राणोदानधनञ्जयादिप्रकारोऽभिहितः।[३१] एकस्मिन् स्थले स्त्रीं सम्बोध्य निगदितं यत् प्राणवत् तव प्रियपतिः तुभ्यं सुखकरो भवेत्।[३२] अन्यत्रापि भणितम् यत् समस्तक्रियाणां प्राप्तिहेतुः स्पर्शगुणोपेताः भौतिकप्राणादयः सुखकराः भवन्तु।[३३]

आप:-अनेकस्थलेष्वपामर्थमसौ प्राणाः आपश्चेत्यकरोत्।[३४] मन्त्र एकस्मिन्नप्सुजा इत्यस्य अर्थो योऽप्सु प्राणेषु जायते अर्थात् प्राणानुत्पादयति सोऽप्सुजा इति उच्यते।[३५] अद्भिः प्राणानां धारणं पोषणञ्च भवति। अतः रूपकालङ्कारेण जलमेव प्राणा इति कथनमुचितमेव प्रतीयते॥

अश्विनौ-अश्विनोरर्थः प्राणापानौ इति बहुशः कृतः।[३६] एकस्मिन् स्थल अश्विनोरर्थः प्राणापानवत् कार्यसाधकौ स्त्रीपुरुषावपि जीवने स्वकार्याणि सुव्यवस्थितप्रकारेण सम्पाद्येतामिति उपमालङ्कारेणार्थो विशदीकृतः।[३७] प्राणादानावपि अश्विनोरर्थोऽभिप्रेतः।[३८]

अन्यत्र प्राणापानाभ्यां सदृशौ दम्पती प्रीतियुक्तौ व्यवहारं कुर्याताम् इति कामना प्रकटीकृता।[३९] अथर्ववेदेऽश्विनौ देवानां वैद्यौ अथवा 'देवभिषजौ' इति उदीरितौ। मन्त्रस्याशयोऽस्ति यत् हे देवानां भिषजौ अश्विनौ! स्वशक्त्या मृत्युरस्मत्तोऽपवारयतम्।[४०] एतौ कौ दिव्यवैद्यौ? यौ समग्रब्रंह्माण्डस्य चिकित्सां कुरुतः, ययोः विद्यमानयोः सतोः मृत्योराक्रमणं न भवति?

अस्य प्रश्नस्योत्तरमप्यग्रिममन्त्रे विशदं प्रतिपादितम्। मन्त्रार्थो विद्यते - हे प्राणापानौ! युवां शरीरेऽस्मिन् नैरन्तर्येण सञ्चरणं कुरुतम्, देहं विहाय मा गच्छतम्, युवां सयुजौ भूत्वा सखासदृशौ तिष्ठतम्। हे मनुष्य! त्वं निरन्तरो वर्धमानो वर्धिष्णुः वा भवन् शतवर्षपर्य्यन्तं जीव्याः वसिष्ठोऽग्नी रक्षकस्तव।[४१]

---

३१. वायुः धनजयादिरूपम्। ४०.१५ वाताय प्राणशक्तिविज्ञानाय॥ ३८.७ वाताय उदानाय॥ ३८.७ वायुम् प्राणादिलक्षणम् ३३.५५ वायुः धनञ्जयादिस्वरूपः पवनः॥ २०.२६

३२. वायुः प्राण इव प्रियः पतिः॥ १४.१२, वायुः प्राण इव प्रियः। १४.१४

३३. वायवः सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणादयः॥ १.१

३४. आपः प्राणाः। ३८.२३, ३६.२३, ३५.१२, ३५.९, २३.१४, २३.१७, १३.२, अप्सां योऽपो जलानि प्राणात् सनोति ददाति तम्॥ ३४.२०, १२.१८, १२.२२, १२.३७, १२.४८

३५. अप्सुजाः प्राणेषु जायमानः॥ २३.१४, अब्जाः योऽपः प्राणान् जनयति॥

३६. आश्विनः आश्विनो प्राणापानगत्योरयं सम्बन्धी॥ ३९.५, २१.५९, २१.६०, १२.१४

३७. अश्विनौ प्राणापानौ इव कार्यसाधकौ॥ ३८.६

३८. अश्विनोः प्राणोदानयोः ११.९

३९. अश्विना प्राणापानाविव दम्पती॥ १२.७४

४०. प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्रे भिषजा शचीभिः॥ अथर्व. ७.५३.१

४१. संक्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्। शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥ अथर्व. ७.५३.२

मन्त्रे विशदमेवाश्विनौ व्याख्याय उक्तं यत् प्राणापानावेव सदा सदैव तिष्ठन्तावश्विनौ स्तः। अश्विनोरेकमन्यमभिधानं 'नासत्यौ' इति वर्त्तते। नासिकायां सञ्चरणकर्त्तारौ श्वासप्रश्वासौ प्राणापानौ वा खलु नासत्यौ स्तः। निरुक्तेऽपि अश्विनौ, द्यावापृथिव्यौ, अहोरात्रे, सूर्याचन्द्रमसौ चोदाहृतौ।[४२]

सूर्याचन्द्रमसावहोरात्रे द्यावापृथिव्यौ च मनुष्यान् धारयन्तः पोषयन्तः च अनेकेषां रोगाणां निवारणमपि कुर्वन्ति एवं प्राणान् पोषणहेतुरपि अश्विनौ प्राणापानौ अभिहितौ। एतेषां प्रमुखदेवानामतिरिक्तं मरुतः,[४३] पूषा,[४४] आदित्यः,[४५] सूर्यः,[४६] वैष्णव्यौ,[४७] विष्णु,[४८] इन्द्रवायू[४९] च इत्येतैरपि स्वामिदयानन्दमहोदयाः प्राणान् निर्दिष्टवन्तः।

सङ्ख्यावाचिशब्देषु[५०] एकादश,[५१] सप्त,[५२] तिसृभिः,[५३] नवभिः[५४] त्रयोदश,[५५] नवदश[५६] इत्येतैरपि प्राणानामुल्लेख एव मन्यते।

अन्यानेकैः विभिन्नशब्दैरपि प्राणानां बोधो भवति। अङ्गिरस्वत् इति पदं शतपथ-ब्राह्मणे अपि प्राण एवोच्यते,[५७] असुर्य्यः,[५८] असुः, असुनीतिः,[५९] जनाः,[६०] ऊर्जाहुती,[६१] वयोधसम्,[६२] पञ्चाविम्,[६३] समनेव,[६४]

---

४२. द्यावापथिव्यौ इत्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके।। निरु. १२.१

४३. मरुद्भ्यः प्राण इव प्रियेभ्यः।। २४.१६ मरुतः प्राणा इव प्रियाः।। १७.८६, १८.१७

४४. पूष्णः प्राणस्य बलपराक्रमाभ्यामिव।। ११.२८, पूष्णः प्राणास्य धारणाकर्षणाभ्यामिव।। १०.५, १.१०, ६.१, १८.३७

४५. आदित्याः विद्युक्ताः प्राणा वायवः।। १५.१२

४६. सूर्ये सवितरि प्राणे वा।। १८.४६, १.३१, ३.९, १३.१९, ८.४१

४७. वैष्णव्यौ यज्ञसम्बन्धी प्राणापान की गति।। १.१२

४८. विष्णो सर्वव्यापिन् जगदीश्वर। व्यापनशीलः प्राणो वा।। ५.१६, ८.५५

४९. इन्द्रवायू प्राणसूर्यसदृशौ योगस्योपदेष्ट्रभ्यासिनौ।। ७.८, ७.८

५०. द्वितीयः द्वयोः संख्या पूरको धनञ्जयः।। १७.३२

५१. एकादशभिः दश प्राणा एकादश आत्मा तैः।। १४.२९, ७.९

५२. सप्त पञ्च प्राणा मन आत्मा चेति। १३.५, सप्तभिः नावा... धनञ्जय इच्छाप्रयत्नैः।। १४.२८

५३. तिसृभिः प्राणोदानव्यानगतिभिः।। १४.२८

५४. नवभिः प्राणविशेषैः १४.२९

५५. त्रयोदशभिः दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे त्रयोदश आत्मा तैः १४.२९

५६. नवदशभिः दश प्राणाः पञ्चमहाभूतानि मनोबुद्धिचित्ताहंकारैः।। १४.३०

५७. अङ्गिरस्वत् प्राणवत्।। ३४.१६, २७.४५, ११.९, ११.१०-११, ११.४५, ११.५८, ११.६०, ११.६१, ११.६५, १२.५३ प्राणो वा अङ्गिराः शत, ब्रा. ६.५.२.३

५८. असुर्य्य असुभ्यः प्राणेभ्यो हितः।। ३३.४०, ११.६९, १९.६०

५९. असवे प्राणाय।। २२.३०, २७.२५, १७.३१, १९.४९

६०. जनाः मनुष्याः प्राणा वा।। २५.२३

६१. ऊर्जाहुती बलप्राणधारिके।। ऊर्जम् प्राणम्।। २८.४६

श्वासम्,[६५] प्रमाणम्,[६६] प्राणाय,[६७] अर्णवः,[६८] ऋषयः,[६९] गन्धर्वः,[७०] हविषा,[७१] अन्तमः,[७२] प्रचेता,[७३] हस्ताभ्याम्,[७४] भूर्भुवस्स्वः[७५] इत्यादिशब्दैः स्वामिवर्याः प्राणान् निर्ब्रुवन्ति।

---

६२. वयोधमम् कमनीयानां प्राणानां धारकम्।। २८.२६, २८.३९, २८.३७

६३. पञ्चाविम् यः पञ्च प्राणान् रक्षति तम्।। २८.३६

६४. समनेव सम्यक् प्राण इव प्रिया।। २९.४१

६५. श्वासम् प्राणाय।। २९.५५

६६. प्रमाणम् प्रयान्ति सर्वाणि सुखानि येन तत्प्रकृष्टं प्राणम्।। ११.६

६७. प्राणाय येन प्राणन्ति सुखयन्ति तेन।। ११.३९

६८. अर्णवे प्राणे। १३.५३

६९. ऋषयः ज्ञापकाः प्राणाः।। १५.११, १५.१३, १५.१४, १४.२८, १७.२६, १७.७९

७०. गन्धर्व गां पृथिवीं धरति स सूर्यः सूत्रात्मा वायुर्वा।। १७.३२

७१. हविषा दानाश्रयेण प्राणेन वा।। २०.४३

७२. अन्तमः य आत्मान्तः स्थोऽनिति जीवयति सोऽतिशयितः।। ३.२५

७३. प्रचेताः यथा प्राणः प्रचेतयति तथा। ५.३१

७४. हस्ताभ्याम् प्राणापानाभ्याम्।। १.२१ हस्ताभ्याम ग्रहणत्यागहेतुभ्यामुदानापानाभ्याम्।। १.२४

७५. भू प्रियस्वरुपः प्राणः। भुवः बलनिमित्त उदानः। स्वः व्यानश्च।। ५.११

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०४५-५१)

महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में शिल्पविद्याविषयक अवधारणा

डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार

वेदभाष्यकारों में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक मानते हुए[१] वेदों में सभी विद्याओं का मूल[२] होने का न केवल डिण्डिमघोष किया, अपितु वेदों से अनेकानेक विद्याओं के होने के प्रमाणस्वरूप जहाँ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका लिखी, वहीं वेदों के भाष्यप्रसङ्ग में उनका स्थान-स्थान पर व्याख्यान भी किया। वेदों में शिल्पविद्या है - इसके लिये महर्षि ने वेदों में अनेकशः उसका प्रर्दशन भी किया है।

शिल्पविद्या के महत्त्व को दिखाते हुए महर्षि दयानन्द ने इसे धन, ऐश्वर्य, सुख, समृद्धि, शत्रु तथा दरिद्रता का निवारण, आप्तकाम, आनन्द आदि में मूल कारण माना है। यथा-शिल्पविद्या से धन-प्राप्ति मानते हुए महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में लिखा- 'ये च शिल्पविद्यामुन्नयन्ति, तेऽसंख्यं धनं प्राप्नुवन्ति'[३] 'हे मनुष्याः! यः प्रथमतः शिल्पविद्यां प्राप्य क्रियया पदार्थान् निर्मिमीते, स पुष्कलां श्रियं प्राप्नोति, तत्सदृशः पुष्टः कोऽपि न भवति[४]'। 'हे मनुष्याः! यथा शिल्पविद्याध्येत्रध्यापकौ पदार्थैः क्रियविक्रयान् (कृत्वा) श्रीमन्तो भवन्ति, तथैव यूयमपि भवत'।[५]

अर्थात् जो शिल्पविद्या की उन्नति करते हैं, वे असंख्य धन प्राप्त करते हैं, जो पहिले से शिल्पविद्या को प्राप्त करके उचित प्रक्रिया से पदार्थों का निर्माण करता है, वह प्रचुर धन पाता है और उसके समान पुष्ट (अन्य) कोई भी नहीं होता। हे मनुष्यो! जैसे शिल्पविद्या के पढ़ने तथा पढ़ाने वाले पदार्थों के माध्यम से क्रय और विक्रय करके धन सम्पन्न बनते हैं, वैसे ही तुम भी बनो।

शिल्पविद्या से ऐश्वर्यप्राप्ति

भौतिक जगत् में ऐश्वर्य-प्राप्ति का मुख्य-साधन शिल्पविद्या है। अतः महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में पाँच स्थलों पर इसे ऐश्वर्य प्राप्ति का कारण मानते हुए उल्लेख किया- 'हे राजादयो मनुष्याः! यथा जयशीला योद्धारः संग्रामे विजयं प्राप्य धनं प्रतिष्ठां च लभन्ते, तथैव शिल्पविद्याकुशला महदैष्वर्यं प्राप्नुवन्ति,' ये पदार्थानां गुप्तानि स्वरूपापणि विज्ञाय प्रज्ञया शिल्पविद्यां वर्धयन्ति, ते सुराज्यैश्वर्या भवन्ति, 'ये मनुष्याः पावकादिविद्यया

---

१. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है - आर्य समाज का तृतीय नियम।।

२. अथ ब्रह्मविद्याविषयः - ऋ०भा०भूमिका।।

३. ऋ ६.४५.३२ पर दयानन्दकृतभावार्थांश।।

४. ऋ० ६.५४.४ पर दयानन्दकृतभावार्थ।।

५. ऋ० ३.२३.२ पर दयानन्दकृतभावार्थ।।

संगन्तव्यं शिल्पयज्ञं साध्नुवन्ति, त ऐश्वर्यं लभन्ते,' 'ये विद्वांस पदार्थानां संयोगविभागाभ्यां धारणाकर्षणवेगादिगुणान् विदित्वा यन्त्रयष्टीभ्रामणक्रियाभिः शिल्पादियज्ञं निष्पादयन्ति त एव परमैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति,' ये मनुष्याः प्रथमतो विद्यां पुनर्हस्तक्रियां गृहीत्वा श्रेष्ठाचाराः सन्त आत्मीयं बाह्यं च विज्ञानं सुलक्षीकृत्य शिल्पकार्याणि कुर्वन्ति, ते धीमन्तः सन्त ऐश्वर्यं प्राप्नुवन्ति॥[६]

महर्षिकृत मत्रभावार्थों का अभिप्राय यह है कि शिल्पविद्या के गुप्त रहस्यों को जानकर शिल्पयज्ञ को सिद्ध करके श्रेष्ठ आचरण वाले होकर आत्मा तथा संसार सम्बन्धी विज्ञान को सिद्ध करते हैं वे प्रचुर ऐश्वर्य के अधिपति बन जाते हैं।

शिल्पविद्या से सुख प्राप्ति-

शिल्पविद्या का अपनाने से मनुष्य को अनेकानेक सुखों की उपलब्धि होती है। महर्षि दयानन्द ने इसको वेदभाष्य में व्याख्यात किया है -मनुष्यैर्विदुषां सकाशाद् वेदानधीत्य शिल्पविद्यां प्राप्य हस्तक्रियाः साक्षात्कृत्य विमानयानादीनि कार्याणि निष्पाद्य सुखोन्नतिः कार्या, ये नरो यथार्थं शिल्पविद्यां जानन्ति, ते सर्वत्र व्याप्तविद्युदिव विमानादियानवत् सद्योगामिनो भूत्वा सर्वतो धनमाप्य बहुसुखं लभन्ते, ये सकलेश्वर्यकराणि शिल्पकर्माणीह साध्नुवन्ति ते सुखिनो जायन्ते, अत्र शिल्पव्यवहारे सुष्ठूपदेशक्रियाविधिज्ञापनं विद्याधारणं चेष्यते, यदीमाः तिस्रो रीतीर्मनुष्या गृहणीयुस्तर्हि महत् सुखमश्नुवीरन्, 'अस्मिञ्जगति विद्वद्भिः स्वपुरुषार्थेन याः शिल्पक्रियाः प्रत्यक्षीकृतासर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः प्रकाशिताः कार्या। यतो बहवो मनुष्याः शिल्पक्रियाः कृत्वा सुखिनः स्युः।।'[७]

शिल्पविद्या से अभीष्ट प्राप्ति

मनोभिलषित वस्तु की प्राप्ति में शिल्पविद्या का योगदान अति महनीय है। शिल्पविद्या के द्वारा प्राप्त धन और ज्ञान से मनुष्य अनेकानेक मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य कर महर्षि दयानन्द ने लिखा-

'विद्वांसो येषां वाय्वग्न्यादिपदार्थानां सकाशात् सर्वं शिल्पक्रियामयं यज्ञं निर्मिमते, तैरेव सर्वैर्मनुष्यैः सर्वाणि कार्याणि साधनीयानीति; मनुष्यैर्विदुषां सकाशात् पदार्थविज्ञान पुरस्सरां यज्ञशिल्पहस्तक्रियां साक्षात् कृत्वा व्यवहारकृत्यानि निष्पादनीयानीति। येऽग्न्यादिपदार्थविद्यामविदित्वैतद्विद्याविदो जनान्नोत्साहयन्ति तानुल्लङ्घ्याग्न्यादिविद्याविदां विदुषां शरणं गत्वा शिल्पविद्यानिष्पन्नैः कार्यैः पूर्णकामा वयं भवेम (इति) इषित्वा नित्यं प्रयतेरन्।।'[८]

---

६. द्रष्टव्य - ऋ० ६.४६.२. ५.३२.५ य०१८.१४. ऋ० १.२०.२. ४.३३.८ का दयानन्दकृतभावार्थ
७. द्रष्टव्य -दयानन्दकृतभावार्थ - य० ४९. ऋ० ५.१०.५. य० २८.२९. २९.३३. ऋ० १.१०६.१
८. द्रष्टव्य - ऋ० १.१४९.४६.२.३.३५.५ का दयानन्दकृतभावार्थ।।

वस्तुतः शिल्पक्रियारूपी यज्ञ से हस्तक्रिया के व्यवहारों को प्रत्यक्ष करके विद्वानों की सेवा से मनुष्य अभिवांछित कामना को प्राप्त कर लेता है।

शिल्पविद्या से समृद्धि तथा आनन्द प्राप्ति

मनुष्यों की समृद्धि का मुख्य हेतु विद्वानों से शिल्पविद्या का साक्षात्कार करके इसका प्रचार करना ही है-मनुष्यैर्विद्वद्भ्यः शिल्पविद्यां साक्षात्कृत्यैतां प्रचार्य सर्वे मनुष्याः समृद्धाः कार्याः।[९] इसी प्रकार यह शिल्पविद्या आनन्द के उपभोग में मुख्य कारण मानी गयी है-' हे मनुष्याः! अस्मिन् सर्वोत्तमे शिल्पसाध्ये व्यवहारे निपुणा भूत्वाऽनादिभूतं पूर्वैर्विद्वद्भिः प्राप्तमैश्वर्यं विधाय सर्वस्यास्य जगतो रक्षणे निधाय युक्ताहारविहारेणानन्दं भुङ्क्त।।[१०]

शिल्पविद्या से शत्रुता तथा दरिद्रता का निवारण

महर्षि दयानन्द शिल्पविद्या के द्वारा शत्रुता तथा दरिद्रता का अभाव बतलाते हुए लिखते हैं-'यदा मनुष्याः परस्परं प्रीत्या कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञानक्रियाभ्यां ज्ञात्वानुतिष्ठन्ति, तदा महतीं शिल्पविद्यां सम्पाद्य शत्रुदारिद्र्यनिवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ति।'[११]

इस प्रकार शिल्पविद्या के प्रयोजनों को दर्शाते हुए महर्षि दयानन्द ने किसी विचक्षण व्यक्ति में ही इसकी प्राप्ति मानी है-'कश्चिदेव मनुष्यः सर्वं शिल्पविद्याव्यवहारं कर्त्तुं शक्नोति यो व्याप्तान् बहूत्तमगुणान् विद्युदादीन् पदार्थान् यथावज्जानाति।[१२] साथ ही इसकी प्राप्ति का उपाय भी उन्होंने उपदेश और श्रवण को माना है।[१३]

महर्षि दयानन्द ने शिल्पविद्या के ज्ञाता को सबका पूज्य, हितैषी तथा कार्यसाधक आदि विशेषणों से सम्मान देकर समाज में उसका स्थान बहुत ऊँचा माना हैं-'यथा शिल्पविदोऽन्याच्छिल्पविद्यादानेनोत्कृष्टान्त्सम्पादयन्तो इन्धं चक्षुष्मन्तमिव सम्प्रेक्षकान् बधिरं श्रुतिमन्तमिव बहुश्रुतान् कुर्युस्तेऽस्मिञ्जगति पूज्याः स्युः, हे मनुष्याः! यथा वायुर्घनान् संधने गमयति, तथा शिल्पिनः सुशिक्षयाऽग्न्यादेः सम्प्रयोगेण स्थानान्तरं प्राप्य कार्याणि साध्नुवन्ति, ये मनुष्याः सत्संगतिं कृत्वा शिल्पोन्नतिं विदधति ते सर्वहितैषिणो भवन्ति।'[१४]

---

९. य० ४.१० पर दयानन्दकृतभावार्थ।।

१०. द्रष्टव्य - ऋ० ३.३५.६ पर दयानन्दकृतभावार्थ।।

११. य० १९ पर दयानन्दभाष्य।।

१२. द्र०-५.५३.२ का दयानन्द भाष्य।।

१३. ऋ० १.३०.४

१४. ऋ० २.१३.१२ १.८५.५. ५.२६.८ पर दयानन्द भाष्य।।

किसी भी विद्या की प्राप्ति का प्रथम मार्ग तत्सम्बन्धी विद्वान् का सानिध्य होता है। शिल्पविद्या हेतु भी शिल्पी विद्वान् का सम्पर्क अनिवार्य है। 'मनष्या: कस्यचित् क्रियाकुशलस्य शिल्पिन: समीपे स्थित्वा तत्कृतिं प्रत्यक्षीकृत्य सुखेनैव शिल्पसाध्यानि कार्याणि कर्त्तुं शक्नुवन्तीति। हे मनुष्या:! यूयं शिल्पिनां विदुषां सङ्गेनाऽग्न्यादिसोमलतादीन् पदार्थान् विज्ञाय सम्प्रयोज्याऽभीष्टानि कार्याणि साध्नुत।'[१५]

शिल्पविद्या के विद्वान् शिल्पविद्या के माध्यम से कार्यों को सिद्ध करते हैं, दिव्य भोगों को प्राप्त कर सुखी होते हैं और स्वयं प्रसन्न होते हुए सब जनों को प्रसन्न रखते हैं, इसीलिये समाज में शिल्पविज्ञों का अति महत्व है-'ये जना विद्यापुरुषार्थौ वर्धयन्ति, ते सप्तविधाञ्छल्पिन: कृत्वा सर्वाणि कार्याणि साधयित्वा कामसिद्धिं कर्त्तुं शक्नुयु:। ये मनुष्या अङ्गुलवित् कर्मकारिण: शिल्पविद्याप्रिया: पदार्थान् विज्ञाय यानादिषु कार्येषूपयुञ्जते, ते दिव्यान् भोगान् प्राप्नुवन्ति। हे मनुष्या: ! येनाग्निजलाभ्यां शिल्पविद्यासाधनं रथादिकं सम्पाद्यते, स एव स्वात्मवत् सर्वान् प्रीणाति।।[१६]

महर्षि दयानन्द ने शिल्पी को समाज का महनीय अंग समझते हुए अग्नि पद का अर्थ शिल्पी ग्रहण किया है।[१७] इसीलिये शिल्पियों का कर्त्तव्य बताते हुए कहा है कि जैसे भूमियों में बहने वाली नदी की बीच की धाराएँ और तट के समीप वर्तमान होती हैं, वैसे ही व्यापारियों के समीप शिल्पी लोग वर्तमान रहें।[१८]

इस संसार में शिल्पविद्या को तीन प्रकार के मनुष्य ही सिद्ध कर सकते हैं- प्रथमत: वे मनुष्य हैं जो समुद्र के समान गम्भीर तथा धनाढ्य बैल के समान बलवान्, अग्नि के समान शत्रुओं के जलाने वाले तथा सत्य कामनाओं वाले हो जायें अर्थात् जो अत्यन्त पुरुषार्थशील हैं। द्वितीय वे मनुष्य हैं जो विद्युत् के समान और सुशिक्षित वाणी के समान कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं तथा तृतीय वे हैं जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या पढ़कर परस्पर के प्रेम से गृहाश्रम का आरम्भ करते हैं।[१९] शिल्पविद्या के ज्ञाताओं के लिये महर्षि दयानन्द ने पांच प्रकार के कर्तव्यों का निर्देश दिया है-

सुख दें तथा सत्कार करें

यह एक साधारण नियम है कि जो जैसा कर्म करता है उसे उसका फल अवश्यमेव प्राप्त होता है। शिल्पविद्या के विद्वान् का भी कर्तव्य है कि वह जैसे सूर्य मेघ को बरसाकर समस्त प्रजा को सुख देता है, वैसे

---

१५. द्रष्टव्य - ऋ० १.२०.६. ४.४५.५ पर दयानन्दभाष्य।।

१६. ऋ० ४.१६.३. १.१६१.६ ४.४४.१ पर दयानन्दभाष्य।।

१७. अत्रेन्द्रशब्देन धनाढ्योऽग्निशब्देन विद्यावान् शिल्पी गृह्यते - ऋ० १.१०८.५।।

१८. यथा भूमिषु गच्छन्त्या: सरितो मध्यस्था: कक्षास्तटाश्च निकटे वर्त्तन्ते तथैव व्यापारिणां समीपे शिल्पिनो वर्त्तन्ताम् - ऋ० ६.४५.३१।।

१९. द्रष्टव्य - ऋ० २.२५.३ ३१.४ ५.७३.१ पर दयानन्दभाष्य।।

ही सम्पूर्ण प्रजा के सुखसाधक कार्यों को करे तथा अपनों के मध्य में जो श्रेष्ठ रथी वीर स्त्रीपुरुष हों, उनका सदा सत्कार करें।[२०]

शिक्षा तभी तक बढ़ती है जब तक उसका अन्यों को दान किया जाता है। यही तो वह धन है जो दान देने से बढ़ता है और संचय करने से नष्ट हो जाता है।[२१] इसीलिये महर्षि ने कहा कि जो शिल्पी हों, वे जितना जानें, उतना सब दूसरों को सिखावें, जिससे आगे से आगे विद्या का विस्तार बढ़े। जो मनुष्य आकाश में स्थित (विमानों में विचरण करने वाले) शुद्ध शिल्पियों की सेवा करते हैं, उन्हें ये शिल्पी सब ओर से समर्थ करके शिल्पविद्याएँ सिखावें, शिल्पविद्या के ज्ञाता जनों को योग्य है कि वे विद्या (प्राप्त करने) के इच्छुक अनुकूल स्वभाववाले बुद्धिमान लोगों को ...... काम की विद्या पढ़ाकर और ------- उत्तम शिक्षा देकर उन्हें कार्य करने में समर्थ बनावें, ...शिल्पविद्या के पढ़ने वाले छात्र और अध्यापक जितना पढ़कर जानें, उतना सब समस्त मनुष्यों के सुख के लिये निष्कपटता से नित्य प्रकाशित करें। जिससे हम ईश्वर की सृष्टि में स्थित वायु आदि पदार्थों से अनेक उपकार लेकर सुखी होवें।[२२]

मनुष्य सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। इस स्वल्पकाल वाले जीवन में वह समस्त विद्याओं को तो क्या किसी भी विद्या का पूर्णज्ञाता भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान की सीमा अनन्त है, अपार है। अतः महर्षि ने लिखा कि शिल्पविद्या का ज्ञाता भी राजकीय धन आदि के सहयोग के द्वारा विद्वानों से और शिक्षकों से विद्याएँ प्राप्त करें।[२३]

विद्वान् की विद्वत्ता का महत्त्व समाज में तभी लाभकारी तथा प्रशंसनीय होता है, जब वह किसी नवीनता का आविष्कार करे। नवीनता का निर्माण करने से उसके लिये नया शब्दनिर्माण भी करना होगा। अतः महर्षि दयानन्द ने शिल्पविद्या के ज्ञाताओं को निर्देश देते हुए लिखा-'यथा पक्षिण ऋतुमृतुं प्रति नानाशब्दानुच्चारयन्ति तथा शिल्पिनो भयं त्यक्त्वाऽनेकविधा प्रकाशकान् शब्दान् वदन्तु।[२४]

किसी भी विद्या का विकास तभी सम्भव है जब उस विद्या के ज्ञाताओं का समाज सम्मान करे। अन्यथा वह विद्या और उसके ज्ञाता जब समाज से लुप्त हो जाते हैं, तब वह विद्या भी लुप्त हो जाती है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिल्पविद्या के विद्वानों से प्राप्त की हुई विद्या के मनुष्यों द्वारा तथा जिस राजा के राज्य में वे शिल्पविज्ञ रहते हैं, उस राजा द्वारा उनका सत्कार अवश्य करना चाहिए तथा जो भी शिल्पविद्या का अतिश्रेष्ठ

---

२०. द्रष्टव्य - ऋ० १.११८.९ पर दयानन्दभाष्य।।

२१. अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति। व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात्।।

२२. द्रष्टव्य - य० २९.३२. १६.६५ ऋ० १.३४.४ १.८९.४ पर दयानन्दभाष्य

२३. हे शिल्पिस्त्वं राजधनादिसहायेनाऽस्मच्छिक्षकेभ्यश्च विद्याः प्राप्य भूमिराज्यं प्राप्नुहि- ऋ० ६.५४.६।।

२४. ऋ० २.४३...........

विद्वान् है, उसका सत्कार तो सभी वर्ग के मनुष्यों को करना ही चाहिये- ऐसा स्पष्ट निर्देश दिया है।[२५] क्रियाकुशल विद्वान् शिल्पियों को सम्मान तथा प्रशंसा करने से मनुष्य असंख्य धन प्राप्त करके असंख्य धन का दान करने योग्य बन जाता है।[२६]

कार्य की सिद्धि हेतु साधन का होना अति आवश्यक है। महर्षि दयानन्द ने शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये नौ प्रकार के साधनों का महत्व दर्शाया है - (१) प्रवृत्ति किसी भी कार्य को पूर्णता प्रदान करने हेतु उस कार्य में सर्वतोभावेन समर्पणपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिये।[२७] (२) सृष्टिज्ञान इसी प्रकार शिल्पविद्या को सिद्ध करने हेतु मनुष्य को पूर्णरूप से तन्मयता के साथ लगना होता है। (२) सृष्टिज्ञान इस सृष्टि में परमात्मा की विशिष्ट रचनाओं का ज्ञान प्राप्त करके शिल्पविद्या का प्रयोग करना चाहिये।[२८] (३) अग्निज्ञान- अग्नितत्त्व का ज्ञान शिल्पविज्ञ को होना जरूरी है।[२९] (४) धनाभाव का अभाव- धन के अभाव में अनेकानेक कार्यों की सिद्धि रुक जाती है। शिल्पविद्या के विकास में भी धन का अभाव नहीं होना चाहिये।[३०] (५) विद्युत् तथा वायु- शिल्पविद्या के निर्माण हेतु विद्युत् तथा वायु का ज्ञान अनिवार्य है।[३१] (६) अग्नि और वायु - अग्नि और वायु की जानकारी शिल्पविज्ञ को होना बहुत जरूरी है।[३२] (७) अग्नि और जल - शिल्प विद्या हेतु दोनों का ज्ञान महत्वपूर्ण है।[३३] (८) भूमि और अग्नि- भूमि और अग्नि के संग्रहण के विना शिल्प कार्य पूर्णतः असम्भव हैं।[३४] (९) वायु एवं जल- इन्द्र और वरुण वेद में वायु एवं जल के द्योतक हैं। इन दोनों का गम्भीर ज्ञान शिल्पविद्याभिलाषी को सुख देता है।[३५]

वस्तुतः शिल्पविद्या का विकास किसी भी देश की सर्वोच्च भौतिक उन्नति का मापदण्ड है। इस विद्या के विकास से किसी भी देश, समाज अथवा राष्ट्र के दुख-दारिद्र्य स्वतः नष्ट हो जाते हैं। जहाँ इस विद्या का

---

२५. ऋ० ४.५६.५ ५७.६ ४.३६.२ १.१२०.११।।

२६. ये क्रियाकुशलान् विदुषः शिल्पिनः प्रशंसन्ति. तेऽसंख्यं धनं प्राप्यासंख्यं धनं दातुमर्हन्तीति - ऋ० ६.४५.३३ पर दयानन्द भाष्य

२७. ऋ० १.१११.१ मन्त्र दयानन्दकृत भावार्थ का अभिप्राय।।

२८. य० ३९. २९. ३४. ऋ० १.१८.८ का दयानन्दभावार्थ का भाव।

२९. ऋ० ५.२२.२ २६.३ १.१६३.१२. ३.२.५. १.१३.१८. १४.१० १.१६ ३.२६२ य० २६७. २.२९. ऋ० १.२२.९. १.१.३ १२.७. १३.१० का भाव

३०. ऋ० ६.४६.१ का अभिप्राय।

३१. ऋ० १.२३.३ १०८. ४ का भाव।।

३२. ऋ० १.२१.४. २.३९.३ का अभिप्राय।।

३३. द्रष्टव्य ऋ०१.३.२.३ २२.२ का भाव।।

३४. ऋ० १.२२.१ का अभिप्राय।

३५. ऋ० १.१७.८ का भाव।।

विकास मानवों में नई स्फूर्ति एवं चेतना को जागरित करता है, वहीं समाज में प्रसृत विभिन्न अन्धविश्वास को समूल नष्ट कर देता है। इसलिये इस विद्या के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती को यह महावाक्य सदा स्मरण करने योग्य है-**'ये सकलैश्वर्यकराणि शिल्पकर्माणीह साध्नुवन्ति, ते सुखिनो जायन्ते'**।।[३६]

३६. यजु० २८,२९

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०५२-५८)

गौ पद : अर्थविवेचन

डॉ० वेदपाल

निघण्टुपद वाच्य वैदिककोष का प्रथम पद गौ है। वहाँ गौ पद पृथिवी के पर्याय नामों में पठित है।[१] निघण्टु के प्रथम अध्याय में ही गौ पद साधारण[२] एवं वाङ्[३] नामों में भी पठित है। प्रथम अध्याय[४] में ही गौ का बहुवचनान्त रूप 'गाव:' रश्मिनामों में संगृहीत है। तृतीय अध्याय में स्तोतृ[५] तथा चतुर्थ[६] एवं पञ्चम[७] अध्यायों में गौ पदनामों में पढ़ा गया है।

इस प्रकार एक ही गौ पद- पृथिवी, वाणी, स्तोता तथा बहुवचनान्त रूप में रश्मि (आदित्य रश्मि एवं अश्वरश्मि) के साथ ही एक बार साधारण (आदित्य एवं द्यु का बोधक) तथा एक बार (४.१ में) एक पदिक रूप में अनेकार्थक पद तथा एक बार (५.५) मध्यमस्थानी देवतावाचक नामपदों में पठित है। एक ही पद का सात बार (एक बार बहुवचनान्त गाव: तथा छ: बार मूल गौ:) विभिन्न अर्थों में पढ़ा जाना इसके अर्थ वैविध्य के साथ ही अर्थ गाम्भीर्य का भी द्योतक है।

यहाँ विचारणीय यही है कि एक ही पद के उपरि वर्णित परस्पर असम्पृक्त अर्थों में प्रयुक्त होने का हेतु क्या है? किस प्रकार पृथिवी का वाचक होते हुए वही पद वाणी, स्तोता तथा रश्मि आदि का बोधक हो जाता है? एतदर्थ सर्वप्रथम गौ पद की व्युत्पत्ति तदनु निरुक्तकारकृत निर्वचन विवेच्य हैं।

गौ पद 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) से कर्ता/अधिकरण में औणादिक[८] डो: प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। ''गाङ् गतौ' (भ्वा.आ०) एवं 'गा स्तुतौ' (जु०प०) धातुओं से भी गौ पद व्युत्पन्न होता है। **'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति'**[९] इस भाष्यवचन के अनुसार धातु के प्रमुख प्रचलित अर्थ के अतिरिक्त भी अन्य अर्थ होते हैं।

---

१. गौ: ग्मा... गोत्रेत्येकविंशति पृथिवीनामधेयानि-निघण्टु १.१

२. स्व:। पृश्नि:। नाक:। गौ:। विष्टप्। नभ:-इति षट् साधारणानि-वही, १.४

३. श्लोक:। धारा। इला। गौ:.... बेकुरेति सप्तपञ्चाशद् वाङ् नामानि-वही, १.११

४. खेदय:। किरणा:। गाव:...सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि-वही, १.५

५. रेभ:। जरिता।...गौ:... कृपण्युरिति त्रयोदश स्तोतृनामानि-वही, ३.१६

६. जहा। निधा।... गौ:। गातु:.. अस्येति द्विषष्टि: पदानि-वही, ४.१

७. श्येन:। सोम:।... गौ:।....रोदसी इति षट्त्रिंशत् पदानि-वही, ५.५

८. गमेर्डोस् उणदि २.६३ गोतो णित्-अष्टा०७.१.९० से णित् तथा णिद्वद्भाव से वृद्धि

९. महाभाष्य १.३.१

स्यात् इसीलिए निरुक्तकार ने नैघण्टुक, नैगम एवं दैवतकाण्डों में प्रसङ्गप्राप्त गौ पद के भिन्न-भिन्न निर्वचन/अर्थ किए हैं।

शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य एवं प्रवृत्तिजन्य (व्यवहार पर आधृत) अर्थ एक ही हो, यह आवश्यक नहीं, अपितु अधिकांशत: ये भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रकृत गौ पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-**गच्छतीति गौ:**- जो गतिशील है वह गौ है। प्रवृत्तिजन्य अर्थ है- सास्नादिमान् पशु विशेष जो गमन करता है। यहाँ प्रत्येक गमनशील पशु/प्राणी गौ पद वाच्य नहीं है।

गौ-पृथिवी-निरुक्तकार ने 'गम्लृ गतौ' एवं 'गाङ् गतौ' इन दोनों धातुओं के आधार पर निम्न निर्वचन किए हैं-**गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद्दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरण:**[१०] अर्थात् गौ यह पृथिवी का नाम है। (क) यत: यह बहुत दूर तक गई हुई है अथवा वह सूर्य से दूर-दूर गति करती है - दूरं गच्छतीति गौ:।[११] (ख) अथवा इस पर सब प्राणी गति करते हैं। यह सब प्राणियों की गति का आधार है, अत: गौ है। यह गौ पद 'गाङ् गतौ' धातु से ओ प्रत्यय के साथ निष्पन्न हुआ हो सकता है अर्थात् गौ को 'गम्लृ गतौ' धातु से निष्पन्न माने अथवा 'गाङ् गतौ' से दोनों ही धातुएँ गत्यर्थक हैं, जिससे इसमें गति का भाव विद्यमान है, वह गति स्वयं में हो अथवा उस पर चलने वाले प्राणियों में गति तो गति ही है। अत: इन गत्यर्थक धातुओं से निष्पन्न होने के कारण गौ पद पृथिवी का वाचक है। संहिताओं में पृथिवीवाची गौ पद का प्रयोग बहुत उपलब्ध है।[१२]

देवराजयज्वा के अनुसार स्तुत्यथर्क 'गा स्तुतौ' (जु.प.) से निष्पन्न गौ का निर्वचन है-**गीयते स्तूयतेऽसाविति, गायन्ति वाऽस्यां स्थिता इति गौ:**[१३] जिसका गौरव गान वा स्तुति की जाए अथवा जिस पर स्थित होकर स्तुति की जाए वह गौ है।[१४]

गौ पशु-यास्क ने अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति[१५] कहते हुए उक्त गत्यर्थक धातुओं से निष्पन्न गौ को पशुवाची भी स्वीकार किया है। यत: वह भी गतिशील होता

---

१०. निरुक्त २.५

११. चन्द्रमणि विद्यालंकारकृत, निरुक्तभाष्य पृ. ११२, यद् दूरं गता, दूरं दूरं सूर्याद् गच्छतीति महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृथिव्यादिलोक भ्रमणविषय:।

१२. आयं गौ: पृश्निरक्रमीदसन्मातरं पुर:। पितरं च प्रयन्त्स्व:।। यजु० ३.६ या गौर्वर्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारत:। ऋ० १०.६५.६

१३. निघण्टुभाष्य १.१ उदा० गोषदसि

१४. ऋ० १.१६४.१७ पर द्र०-दयानन्दभाष्य-पृथिवी का वैज्ञानिक वर्णन। स्तुति: कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमे: गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्- वाक्यपदीय २.१७५

१५. निरुक्त २.५ द्र०उदा० गोभि: श्रीणीत मत्सरम् ऋ० ९.४६.४

है। साथ ही सोदाहरण यह भी स्पष्ट किया है कि इस दूसरे पशु अर्थ में ऐसे वैदिक सन्दर्भ हैं, जो कृदन्त रूप होने पर भी तद्धित के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। तद्यथा-

गौ पद गौ से प्राप्ति प्राप्त पयः, अधिषवण चर्म[१६] तथा गौ चर्म और श्लेष्मा[१७] तांत तथा गौ चर्म से निर्मित धनुष की ज्या=प्रत्यञ्चा गौ चर्म से निर्मित है, तब तद्धित रूप है और यदि गौ चर्म निर्मित न हो तब (णिजन्त है) यहाँ बाणों को गति प्रदान करने के कारण गौ है।[१८]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि निघण्टु में गौ पशु के अघ्न्या आदि नौ नामों में गो पद पठित नहीं है।[१९] जबकि पृथिवी के नामों में पृथिवी, हिरण्य नामों में हिरण्य तथा अन्तरिक्ष नामों में अन्तरिक्ष पद पठित है।[२०]

गौ-आदित्य एवं द्यु - स्वः आदि छः साधारण नामान्तर्गत पठित गौ पद आदित्य एवं द्यु का भी बोधक है।[२१] तद्यथा-**गौरादित्यो भवति। गमयति रसान्। गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौः। यत्पृथिव्या अधिदूरं गता भवति। यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति**[२२] अर्थात् (१) गौ पद आदित्य/सूर्य का वाचक है, क्योंकि यह द्रवों (रसों) को गतियुक्त करता है। यह अन्तरिक्ष आकाश में गति करता है। (२) गौ पद का अर्थ द्यु भी है, क्योंकि यह पृथिवी से अत्यन्त दूर गया हुआ है अथवा ज्योतिष्पिण्ड/सूर्य आदि ज्योतिर्लोक इसमें गति करते हैं।

(३) गौ पद सूर्य के साथ ही सूर्य की सुषुम्ण नामक रश्मि विशेष का भी वाचक है।[२३] गौ बहुवचनान्त रूप गावः पद निघण्टु[२४] में रश्मि नामों में पठित है। अतः निरुक्तकार ने **'सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते'**[२५] कहकर सभी सूर्यरश्मियों की गौपदवाच्यता का कथन किया है। किन्तु रश्मि के पन्द्रह पर्याय नामपदों में से **'खेदयः। किरणाः। गावः। रश्मयः। अभीशवः'**- ये पाँच सूर्यरश्मियों के साथ ही अश्वरश्मि (लगाम) के भी वाचक हैं।[२६] निरुक्तकार द्वारा गावः पद व्याख्यात नहीं है। देवराजयज्वा ने **'गच्छन्ति सर्वतस्तमो विहन्तुं, भौमं रसं वाहर्तुं, गीयन्ते स्तूयन्ते स्वाभिमतसाधनाद् यजमानैरश्वपालैश्च** - शब्दों द्वारा व्याख्यात किया है, किन्तु

---

१६. अंशु दुहन्तो अध्यासते गवि। ऋ० १०.९४.९ इत्यधिषवणचर्मणः- निरुक्त २.५

१७. अथापि चर्म च श्लेष्मा च-उदा० गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व ऋ० ६.४७.२६; अथापि स्नाव च श्लेष्मा च - उदा० गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ऋ. ६.७५।। निरुक्त २.५

१८. ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत् ताद्धितम्। अथ चेन्न। गव्या गमयतीषूनिति- निरुक्त २.५

१९. अघ्न्या/उस्रा/उस्रिया। अही/मही/अदितिः। इला/जगती/शक्वरी-इति नव गो नामानि-निघण्टु २.११

२०. स्वः। पृश्निः। नाकः। गौः। विष्टप्। नभः-इति षट् साधारणानि-निघण्टु१.४

२१. साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च - निरुक्त २.१३

२२. निरुक्त २.१४

२३. सोऽपि गौरुच्यते- निरुक्त २.६ उदा० सुषुम्णः सूर्यरश्मिचन्द्रमा गन्धर्वः यजु० १८.४

२४. खेदयः। किरणाः। गावः... इति पञ्चदश रश्मिनामानि निघण्टु १.५

२५. निरुक्त २.६

२६. ... रश्मिर्यमनात्। तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः निरुक्त २.१५

आदित्यरश्मि के वाचक – **'ता वां वास्तू०.. यत्र गावो भूरि शृङ्गा'** तथा **'को अद्य युङ्क्ते'** ये दो निगम देकर **'अश्वरश्मेरन्वेषणीय:'** अर्थात् अश्वरश्मि वाचक गाव: पद युक्त निगम अन्वेषणीय कहा है।

गौ-वाणी - निघण्टु[२७] में श्लोक:। धारा। इला। गौ:... आदि बेकुरा पर्यन्त वाणी के सत्तावन पर्याय संगृहीत हैं। निरुक्तकार ने वाक् की व्युत्पत्ति वच् धातु से बताकर इन्हीं सत्तावन पर्यायान्तर्गत सरस्वती शब्द के लिए नदी के समान तथा देवता के समान निगम हैं, कहते हुए देवतावत् का कथन आगे (११.१८) के लिए छोड़कर नदीवत् का निगम प्रस्तुत किया है। गौ के वाणीत्व का निगम व निर्वचन वहाँ नहीं दिया गया है। देवराजयज्वा ने **'गच्छति यज्ञेष्वाहूता, गीयते स्तूयते वा'** अर्थात् यज्ञों में आहूत वाणी जो अथवा गान का स्तवन किया जाने के कारण उस आहूत स्तुतिरूपा वाणी को गौ कहा है।[२८]

यहाँ वाक् के गत्यर्थक गम् अथवा गाङ् तथा स्तुत्यर्थक गा धातु से गमन/स्तवन क्रिया साम्य के कारण उसे गौ कहा है।

गौ-स्तोता - निघण्टु[२९] में रेभ:। जरिता। कारु:। नद:। स्तायु:। किरि:। गौ:। सूरि:। नाद:। छन्द:। स्तुप्। रुद्र:-ये तेरह स्तोतृ नामपद हैं। निरुक्तकार ने **'स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश। स्तोता स्तवनात्'**[३०] - स्तवन क्रिया के कर्ता को स्तोता कहा है। देवराजयज्वा भी - **'गीयन्ते स्तूयन्ते अनेन देवता'**[३१] स्तुतिकर्ता को ही स्तोता मानते हैं। गा स्तुतौ धातु से व्युत्पन्न होने के कारण गौ स्तोता का भी वाचक है।

सायण आदि भाष्यकार अपने भाष्य में गौ का अर्थ स्तोता के अतिरिक्त क्रियावाची स्तुति भी करते हैं।[३२] महर्षि दयानन्द गौ पद से निष्पन्न **'गोतमास:'** पद का अर्थ अतिशय स्तुति करने वाले[३३] करते हैं।

गौ-पद-निघण्टु ४.१ में जहा। निधा। .. गौ:।... द्विषष्टि: पदानि ये बासठ अनेकार्थक एक पद पठित हैं। निरुक्तकार ने गौर्व्याख्यात:[३४] कहकर गौ पद को अव्याख्यात ही छोड़ दिया है। जबकि यहाँ यह पद नैगमकाण्ड (अनेकार्थक एक पद) में संगृहीत है। देवराजयज्वा ने इसे रश्मिनामान्तर्गत (१.५) व्याख्यात **'गच्छन्ति सर्वतस्तमो विहन्तुं भौमं रसं वा हर्तुं, गीयन्ते स्तूयन्ते स्वाभिमतसाधनाद् यजमानैरश्वपालैश्च'** कहा है।

---

२७. निरुक्त १.११
२८. निघण्टु १.११ उदा० अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता ऋ० २.३.१९.४
२९. निघण्टु ३.१६
३०. निरुक्त ३.१९
३१. निघण्टु ३.१६
३२. ऋ० १०.३१.६ पर सायणभाष्य देवान्प्रति गन्त्री; उद्गीथ भाष्य द्र०; यथा गाव: गन्त्र्य: स्तुतय: ऋ० ९.२६.२ सायण भा० तथा ऋ० ९.३२.५; ७.९.४ भी द्र०
३३. ऋ० १.६१.१६ महर्षि दयानन्द भाष्य

३४. निरुक्त ४.२४

इस प्रकार ऐकपदिक काण्डान्तर्गत गौ पद सूर्य रश्मि एवं अश्वरश्मि का बोधक है।

गौ-मध्यम स्थानी देवता - निघण्टु पञ्चमाध्याय में पदनामों में पठित गौ[३५] पद को निरुक्तकार ने **'वागेषा माध्यमिका। धर्मधुगिति याज्ञिका:'** यह अन्तरिक्षस्थानीय वाणी कहकर **'गौरमीमेदनुवत्सम्'**[३६] ऋक् उद्धृत की है तथा यह उष्णदुग्ध की दात्री है[३७] - ऐसा याज्ञिकों का मत भी उपन्यस्त किया है।

अन्यर्थ- गौ शब्द के अनेकार्थक होने से भाष्यकारों ने अनेकत्र इन उक्त अर्थों के अतिरिक्त भी अर्थ किए हैं। तद्यथा-

गौ-उदक- उदक शब्द **'अञ्चु गतिपूजनयो:'** (भ्वा०प०) धातु से औणादिक निपातन[३८] नियम से सिद्ध होता है। गौ पद भी **'ज्ञायते, गम्यते, प्राप्यते वा'** के आधार पर गत्यर्थक है। अत: उदक शब्द के साथ धात्वर्थ साम्य है। पद नामों (अनेकार्थक एकपद) में पठित तथा धात्वर्थ साम्य के आधार पर ही आचार्य सायण ने गौ शब्द का अर्थ **'अनेकत्रगमनशीलान्युदकानि[३९], गो: उदकस्य[४०], गवाम् उदकानाम्[४१]**, कह उदक किया है। सायण ही नहीं, अपितु उद्गीथ,[४२] स्कन्दस्वामी[४३], मुद्गल[४४], वेङ्कट[४५] आदि भी अनेकत्र गौ पद का अर्थ उदक करते हैं।

गौ-आत्मा- अत सातत्यगमने (भ्वा०प०) धातु से औणादिक मनिन्[४६] प्रत्यय होने पर आत्मा शब्द निष्पन्न होता है- **'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति वा स आत्मा'** - गतिशीलता इस धात्वर्थ साम्य के आधार पर गौ पद से आत्मा का साम्य है। अत एव भाष्यकार गौ का अर्थ आत्मा भी करते हैं।[४७]

---

३५. श्येन:। सोम:....। गौ:.... इति षट्त्रिंशत् पदानि - निघण्टु ५.५
३६. ऋ. १.१६४.२८
३७. निरुक्त ११.४२
३८. उदकञ्च- उणादि २.३९
३९. ऋ. १.३३.१० सायणभाष्य
४०. ऋ० १.८१.८; ३.५५.१ सायणभाष्य
४१. प्रतिभद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मय: ऋ० ४.५२.५ पर सायणभाष्य
४२. गोभि: - उदकैर्वावृष्टिलक्षणै: ऋ० १०.४४.१०; गोभि: गोमन्तम् उदकवन्त् ऋ० १०.७४.४
४३. गोमत: उदकवत: ऋ० १.११.५; ६.२.११; गोभि:-गो शब्द उदकवचन: ऋ० १.७.३
४४. गा: गमनशीलान्युदकानि ऋ० १.३३.१०
४५. गा: उदकानि ऋ० ९.८२.१; गोभि:-उदकै: ऋ० ९.९४.८१; गाव: उदकानि ऋ० ८.९६.५
४६. उणादि ४.१५३
४७. गातु:-गमनशीलोऽधिष्ठातृ आत्मा - ऋ० १०.२०.६ सायणभाष्य; महर्षि दयानन्द ने गौ से निष्पन्न गव्यन्त: ऋ० १.३३.१ का अर्थ आत्मा किया है।

गौ-इन्द्रिय - इन्द्रियं वै वीर्यं गावः[४८] आदि ब्राह्मण वचनों के अनुसार गौ पद इन्द्रिय का भी बोधक है। मध्यकालीन आचार्य वेङ्कट, मुद्गल आदि के भाष्य में गौ पद का इन्द्रिय अर्थ दृष्टिगत नहीं होता है, किन्तु महर्षि दयानन्द ने अनेकत्र गौ का अर्थ इन्द्रिय किया है।[४९] सायण ने भी एक स्थल पर **'गातुः इन्द्रियस्य'** कहकर इन्द्रिय अर्थ किया है। ऋ० ४/२३/७

उक्त अर्थों के अतिरिक्त गौ पद मेघगर्जन,[५०] विद्युत्[५१] यद्यपि ये दोनों माध्यमिका वाक् के अन्तर्गत हैं), सम्पूर्ण जगत्[५२] तथा यज्ञ[५३] का भी बोधक है।

ब्राह्मणग्रन्थों में गौपद उपरिवर्णित अर्थों के अतिरिक्त अन्न,[५४] इडा[५५], अदिति, सरस्वती, वैश्वदेवी[५६], अन्तरिक्ष[५७], पुरुष का रूप[५८], लोक[५९] तथा प्राण[६०] आदि अर्थों का भी बोधक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गौ पद निघण्टु में पृथिवी, साधारण (आदित्य एवं द्यु) रश्मि, वाणी, स्तोता तथा दो बार पदनामों में (कुल मिलाकर सात बार) पठित है, किन्तु निरुक्तकार ने विस्तृत निर्वचन पृथिवी परक एवं साधारण नामान्तर्गत का आदित्य एवं द्युपरक किया है। अन्यत्र गौः व्याख्यातः[६१] कहकर पूर्व व्याख्यात की ओर ही संकेत कर दिया है। यद्यपि तत्तत् अर्थबोधक निगम वहाँ प्रदर्शित हैं।[६२] देवराजयज्वा ने

---

४८. श०ब्रा० ५.४.३.१०

४९. गाः इन्द्रियों को ऋ० १.१०.८; ११.३२.१२; गाः इन्द्रिय और किरणों के ऋ० १.९१.२२; गवाम् इन्द्रिय और गाय आदि पशुओं के ऋ० १.९३.२; गोभिः इन्द्रियों से ऋ० २.३०.७; गोषु इन्द्रियों में यजु० १२.१.५; गोपाम् इन्द्रिय, पृथिवी, पशु की रक्षा करने वाला यजु० ३.२३

५०. निरुक्त २.९ पर अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता-

५१. सुगान्पथो अकृणोन्निरजेगाः ऋ० ३.३०.१०

५२. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः- ऋ० १.२२.१८

५३. यज्ञो वै गौः तै.सं० ३.९.८.३

५४. गां मा हिंसीरदितिं विराजमिति विराड् वै गौरन्नं वै विराडऽन्नमु गौः श०ब्रा० ७.५.२.१९

५५. इडा हि गौरदितिर्हि गौः सरस्वती हि गौः श०ब्रा० १४.२.१.७

५६. वैश्वदेवी हि गौः गोपथ ३.१९

५७. अन्तरिक्षं हि गौः ऐ.ब्रा० ४.१५; अयं मध्यमो गौः-ताण्ड्य ब्रा० ४.१.१७

५८. तस्मादाहुर्गावः पुरुषस्य रूपमिति श०ब्रा० १२.९.१.४

५९. इमे वै लोका गौः श०ब्रा० ६.१.२.३४; ६.५.२.१७

६०. प्राणो हि गौः श०ब्रा० ४.३.४.२५; प्राणाद् गां निरमिमीत श०ब्रा० ७.५.२.६

६१. निरुक्त ४.२४ निघण्टु ४.१ में पठित पदनाम प्रसंग में; गौर्व्याख्याता निरुक्त ११.४१ निघण्टु ५.५ में पठित पदनाम प्रसंग में

६२. निघण्टु ४.१ पठित पद विषयक अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे। ऋ० १.८४.१५; निरुक्त ४.२५ निघण्टु ५.५ पठित पद विषयक गोरमीमदनु वत्सं मिषन्तं ऋ० १.१६४.२८, निरुक्त ११.४२

साधारण, रश्मि, वाक्, स्तोता तथा दो बार (४.१+५.५) पदनाम के अन्तर्गत गौ को तीन बार पृथिवी नामपदों में व्याख्यात (१.५;१.११; ३.१६) एक बार (४.१ में) रश्मि नाम में व्याख्यात तथा एक बार (५.५ में) वाक् नाम में व्याख्यात कहकर छोड़ दिया है। यदि गौ पद पृथिवी अथवा रश्मि नामान्तर्गत व्याख्यात होने से सर्वत्र व्याख्यात हो जाता है, तब इसके पौनः पुन्येन पृथक-पृथक पाठ का प्रयोजन विवेच्य है ?

उक्त शङ्का का समाधान वस्तुतः निरुक्तकार के निम्न शब्दों में ही द्रष्टव्य है - (पृथिवी वाची २१ पदों के निर्वचनान्तर)- **एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते। तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि। नानाकर्माणि चेन्नाना निर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि।**[६३]

उपरि वर्णित पृथिवी आदि अर्थों में व्यवहृत गौ पद 'गम्लृ गतौ', 'गाङ् गतौ' धातु से निष्पन्न होने के कारण सर्वत्र गति की समानता रखता है। **'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति'** के अनुसार गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ स्वीकृत हैं। गौ पद के प्रकृत अर्थों में ज्ञान, गमन, प्राप्ति रूप कर्म की समानता के कारण ही गौ पद का निर्वचन साम्य होना सम्भव है। निर्वचन की भिन्नता न होते हुए भी धात्वर्थ की व्यापकता के कारण वह भिन्न-भिन्न (उपरिवर्णित) अर्थों का बोधक है। इसीलिए वेदभाष्यकार कहीं-कहीं एक ही मन्त्र में पृथक्-पृथक् अर्थ करते हैं।[६४]

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि यास्क द्वारा गौ की आदित्य के रूप में व्याख्या करते समय सूर्यरश्मियों द्वारा रसों की गतिशीलता तथा अन्तरिक्ष में उसी सूर्य का गमन (अपनी कक्षा में निरन्तर गतिशील रहना) एवं द्यु को भी ज्योतिष पिण्डों का गमन क्षेत्र होने से गौ प्रतिपादित करना विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धान्तों की ओर संकेत करता है।

---

६३. निरुक्त २.७

६४. अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता.... वव्रिमौहत ऋ० १.१६४.२९ पर ऋषि दयानन्द पृथिवीपरक तथा सायण पशुपरक अर्थ करते हैं। २ अव परेण पर एनावरेण यदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ऋ० १.१६४.१७ पर ऋषि दयानन्द पृथिवीपरक, सायण अग्नि में दी गयी आहुति अथवा रश्मि समूह अर्थ करते हैं।

आथर्वणी दैवी चिकित्सा

डॉ० सोमदेव शतांशु

पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का आद्य साधन स्वस्थ शरीर है। सुस्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये सर्वज्ञानमय वेदों में अनेक उपाय विहित हैं। अथर्ववेद में चिकित्साशात्रीय ज्ञान की बहुलता के कारण उसका नाम भिषक् वेद के रूप में प्रख्यात है तथा आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में स्वीकृत है।[1] अथर्ववेद में शारीरिक तथा मानसिक रोगों की निवृत्ति के लिए अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ वर्णित हैं। गोपथ-ब्राह्मण में अथर्ववेद को साक्षात् भेषज एवं अमृत कहा गया है-**तद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म।** वेदोक्त चिकित्सा पद्धति को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

१. आसुरी चिकित्सा - शल्यक्रिया आदि।

२. मानुषी चिकित्सा- काष्ठादि औषधियों द्वारा।

३. दैवी चिकित्सा - प्राणायाम, योग, हवन, मन्त्रादि द्वारा।

प्रस्तुत लेख में अथर्ववेदीय दैवी चिकित्सा के सम्बन्ध में संक्षेपतः विचार किया जा रहा है। अथर्वोक्त चिकित्सा-विज्ञान को कतिपय विद्वान् निम्न प्रमाण के आधार पर आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी तथा मानुषी के रूप में चार प्रकार का स्वीकार करते हैं।

आथर्वणीराङ्गिरसी दैवी मनुष्यजा उत।
औषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥

१. मन्त्र- जप, यज्ञ, योग, दान अवमार्जन आदि चिकित्सा।

२. आंगिरसी- मानसिक शक्ति द्वारा चिकित्सा।

३. दैवी- जल, पृथ्वी, सूर्यकिरण आदि प्राकृतिक शक्तियों द्वारा चिकित्सा

४. मानुषी- औषधीय चिकित्सा

अथर्ववेदीय चिकित्सा के प्रमुख स्वरूप एवं उसके रहस्य को स्वयं अथर्व शब्द ही अभिव्यक्त करता है। अथर्ववेद शब्द का अर्थ है-**'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः।'**[2] चंचलता, कुटिलता, हिंसादि राहित्य चित्तवृत्तिओं का निरोधरूप शान्तचित्तता ही अथर्ववेद की लक्ष्यगामिता है और यही स्वास्थ्य एवं नैरोग्य का मूल आधार है।

---

१. भेषजं वा आथर्वणानि। ता०ब्रा० १६.१०.१० इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य। सु०सू० ३१.१०.१०

२. निरु०,११.१८.

नैरोग्य के लिए प्रचलित स्वस्थ या स्वास्थ्य का भी यही धर्म है। आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त, कफ, की साम्यता, अग्नियों, धातुओं एवं मलोत्सर्जन की साम्यता, इन्द्रियों, मन तथा आत्मा की प्रसन्नता की स्थिति स्वस्थ कहलाती है।[३] **'स्वस्मिन् स्वरूपे स्थितः'** स्वरूपस्थिति ही स्वास्थ्य है तथा स्वरूपविच्युति अस्वस्थता है।

अथर्ववेद की स्थिति साम्यस्थिति या योगावस्था ही है। पतञ्जलि ने भी इस अवस्था को द्योतित करते हुए **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**[४] चंचल चित्तवृत्तियों की शान्तता ही योगावस्था या अथर्वत्व है। रजस् एवं तमोजन्य राग-द्वेष-काम, क्रोध-प्रमाद-आलस्य ही दूषित मन के माध्यम से तथा रजस् एवं तमोग्रस्त बुद्धि से दूषित आचरण तथा दूषित आहार-विहार मुख्यतः रोगों के आदि जनक हैं। अथर्वत्वयुक्त या अरोगारुढ़ क्लिष्टाक्लिष्ट चित्तवृत्तियाँ ही सभी प्रकार के क्लेशों को मूलकारण हैं।[५] इसी कारण से मन को ही समस्त सुख-दुःखों का कारण कहा गया है।[६] महर्षि चरक ने तीन प्रकार के रोग माने हैं[७]- निज (वातपित्तादिजन्य), आगन्तुक और मानस (मनोविकारजन्य)। एतदनुसार रजस्तमोजन्य काम-क्रोध, मोह-ईर्ष्या, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय तथा विविध प्रज्ञापराधों से विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं। इन मानसिक रोगों की चिकित्सा भी योग, प्राणायाम, मन्त्र यज्ञादि द्वारा मन से उक्त दूषित भावों को दूर कर शरीर को स्वस्थ किया जा सकता है। शरीर में विविध रोगों के रूप में अभिव्यक्त लक्षण वस्तुतः हमारे विकृत या दूषित मनोमय शरीर के चिह्न हैं।

अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय कोषों का इतरेतर प्रगाढ़ सम्बन्ध है। मनोमय कोष के व्यथित होने पर प्राणमय कोष क्षोभित होता है। प्राणमय कोष के संक्षुब्ध होने से स्थूल शरीर पर उसके सद्-असद् परिणाम हम स्पष्टतः अनुभव कर सकते हैं। काम, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता आदि की अवस्था में शरीर पर होने वाले प्रभाव हम सभी को प्रत्यक्ष हैं। उन्माद, पाचन संस्थान की विकृति, उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप, मधुमेह, अम्लपित्त, विविध चर्मरोग आदि कुछ प्रमुख रोग मनोविकारजन्य हैं, क्योंकि इन रोगों का मूल विकृत मनःस्थिति है। अतः इस दूषित मनःस्थिति को ध्यान, मन्त्र जाप, यज्ञ, संकल्प आदेश, प्राणायाम आदि के द्वारा पवित्र एवं स्वच्छ कर उसके शारीरिक प्रभावों को भी दूर किया जा सकता है। यही आथर्वणी दैवी चिकित्सा का मूल मन्त्र है। अथर्ववेद में स्पष्टतः उल्लेख है कि हम मन के द्वारा चिकित्सा कर सकते हैं।[८] इस तथ्य को विवृत करते हुए प्रणव जप के फल के प्रसङ्ग में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि ओंकार जप से विविध व्याधियों की निवृत्ति होती

---

३. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसादात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। चरक-संहिता

४. यो०सू० १.३

५. ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। यो०दर्शन २.१४

६. मन्त्र एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।। मैत्रायणी उप ४.१

७. त्रयो रोगा इति निजागन्तुमानसाः। चरक सूत्रस्थान ४५ रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। वही, विमानस्थान-५

८. त्वं मनसा चिकित्सीः। अथर्व० ६.११.१

हैं।[९] वैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से भी यह पाया गया है कि जो व्यक्ति नियमित तीन वर्ष पर्यन्त आधे घण्टे के लिये ध्यान करता है तो उसके शरीर में कुछ ऐसे ग्रन्थियाँ सक्रिय होती हैं, जिनसे शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।[१०] यह प्रयोग ऋषियों, योगियों के दीर्घायुष्य को **'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुवन्'** के रहस्य को उजागर करता है।

यह आथर्वणी दैवी चिकित्सा अथर्ववेद में मन्त्र, संकल्प, आदेश, अभिमर्श, मार्जन, यज्ञ, प्राण आदि चिकित्सा के रूप में विवृत हैं। इन सभी के माध्यम से मन:शक्ति को दृढ़ किया जाता है तथा मनोविकारों को दूर कर सत्त्व प्रवण मन से शरीर को नीरोग किया जाता है। अथर्ववेदभाष्य में आचार्य सायण ने रोगनिवृत्ति के लिये कौशिक सूत्र तथा वैतानसूत्रों के आधार पर विविध औषधियों के साथ तत्तत् सूक्तों के जप का भी विनियोग किया है।[११] मन्त्र जहाँ मन बुद्धि में दिव्य भाव उत्पन्न करते हैं, वहीं मन्त्र की ध्वनितरंगों की सूक्ष्मशक्तियाँ शरीर, मन, बुद्धि पर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करती हैं[१२] तथा इनको पुष्ट करती हैं। ऋग्वेद में वर्णन है कि मन्त्र तेजोमय हैं, ये रोग एवं कृमियों को नष्ट करते हैं।[१३] गायत्री मन्त्र में अमृत का बीज है।[१४] इससे दीर्घायु, प्राण , प्रजा पशु आदि की प्रार्थना की गयी है।[१५] संकल्प चिकित्सा एवं आदेश चिकित्सा द्वारा अपनी या किसी दृढ़ संकल्पवान् व्यक्ति की संकल्प शक्ति से रोगों को दूर किया जाता है। मन की शक्ति अपार है- **'कामस्तदग्रे समवर्त्तत मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।'** संकल्प से रोगों को भी दूर किया जा सकता है।

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।[१६]

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना।[१७]

परोऽपेहि मनस्ताप किमशस्तानि शंससि।[१८]

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।[१९]

---

९. तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।। व्याधिस्त्यानसंशयप्रमाद.... योग दर्शन १.२९-३०

१०. महर्षि वेदविद्यापीठ

११. द्र. आचार्य सायणकृत अथर्व० भाष्य

१२. द्र शास्त्रीय संगीत की ध्वनितरंगो -फेफड़े, जिगर आदि के रोग दूर होते है।

१३. द्युमदमीवचातनं रक्षोहा। अथर्व०७.८.६

१४. अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे।

१५. स्तुता मया आयु० प्राणं अथर्व० १९.६०.१

१६. अथर्व०९.२.१

१७. अथर्व० ९.२.१०

१८. अथर्व० ६.४५.१

१९. अथर्व० २०.९६.२४

इससे कास, दमा आदि रोगों को दूर करना का आदेश किया है।

अभिमर्श चिकित्सा-संकल्पशक्ति युक्त स्पर्श के द्वारा भी रोगों को दूर किया जा सकता है-

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः।।[२०]

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।

अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ।।[२१]

आरोग्य का मूलाधार सम्यक् प्राणन है। अनुलोम-विलोम, भस्त्रिका, कपालभाति आदि कुछ प्राणायामों से आज सारा विश्व असाध्य रोगों से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ कर रहा है। आज इसको हम सभी प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं।[२२]

मन्त्रचिकित्सा-मन्त्र चिकित्सा एक दिव्य चिकित्सा है। मन्त्रों के सस्वर उच्चारण से जो सूक्ष्म ध्वनि-तंरगें उत्पन्न होती हैं, वे शरीर और मन को पुष्ट करती हैं तथा अनेक अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को सक्रिय कर शरीर को स्वस्थ करती हैं। इससे मनुष्य मानसिक क्लेश दुर्विचार आदि से भी मुक्त होता है, साथ ही मन शुद्ध और पवित्र रहता है।[२३] मन की पवित्रता से मानसिक रोग एवं मनोकायिक रोग स्वतः शान्त हो जाते हैं। गायत्री मन्त्र अमृत का बीज है। अथर्ववेद में गायत्री मन्त्र को वरदा वेदमाता कहा गया है-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।।[२४]

अथर्ववेद में ऐसे दिव्य मन्त्र हैं, जिनके दृढ़संकल्प पूर्वक और तथा ध्यानस्थ होकर जप करने से ही अनेक रोग दूर होते हैं।[२५] इस प्रकार अथर्वप्रतिपादित थर्वराहित्य स्वरूपावस्थितित्व, जो कि मन्त्र प्राणायाम यज्ञ योग आदि द्वारा साध्य है, वही नैरोग्य का मूल कारण है। उक्त साधनों से मन में दिव्य भाव उत्पन्न कर हम स्वस्थ एवं दीर्घायु हो सकते हैं। सारांश के रूप में हम कह सकते हैं- **सम्यगाचारः सम्पन्नः शतवर्षाणि जीवति।** हम अपनी आर्ष परम्परा का वैदिक ज्ञान-विज्ञान जीवनपद्धति का अनुसरण कर सर्वविध सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

---

२०. अथर्व०४.१३.६

२१. अथर्व०४.१३.७

२२. स्वामी रामदेव के यौगिक कार्यक्रम के परिणाम।

२३. द्रष्टव्य अथर्ववेदीय मंत्र चिकित्सा।

२४. अथर्व० १९.७१.१

२५. द्रष्ट० अथर्ववेदीय मन्त्रचिकित्सा।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०६३-६९)

वेदों में वर्णित राजधर्म : आज भी प्रासङ्गिक

डॉ० विनय कुमार विद्यालङ्कार

वेद समस्त विद्याओं का मूल उत्स है। शिक्षा, काव्य, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, संगीत आदि सभी विद्याओं का उद्गम वेद से ही माना जाता है, क्योंकि वेद का प्रत्येक वाक्य उस सर्वज्ञ ईश्वर का वचन है तथा बुद्धिपूर्वक उक्त है। वेद वर्णित सिद्धान्त व तात्त्विक ज्ञान भी सार्वकालिक व सार्वभौम है, इसी आधार पर मानव जीवन के सभी पक्षों के लिए वेदों का महत्त्व है। वेदों में न केवल कर्मकाण्ड व यज्ञ यागों का विधानमात्र है, अपितु ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, पृथिवी, चन्द्र लोकादि भ्रमणविद्या, प्रकाश्य-प्रकाशक विद्या, गणित विद्या, योग-विद्या, नौका विमानादि विद्या, वैद्यक विद्या आदि तथा पृथिवी सूर्य चन्द्रमा आदि लोकों का अन्तरिक्ष में अपनी परिधि में घूमना तथा चन्द्रमा का कभी पृथ्वी-सूर्य के मध्य में आ जाना वेदमन्त्रों में दर्शाया गया है। इन सभी विद्याओं की चर्चा महर्षि दयानन्द व उनकी परम्परा में किये गए वेदभाष्यों में ही उपलब्ध हो पाती है। महर्षि दयानन्द के विना वर्तमान समय में वेदों की चर्चा करना अप्रासङ्गिक सा लगता है, क्योंकि वे ही एक मात्र ऐसे भाष्यकार हैं जिनके वेदभाष्य को पढ़कर ही वेद की कुंजी हाथ लगती है और वेद की सर्वज्ञानमयता सिद्ध होती है महर्षि दयानन्द ने राजधर्म पर गहन चिन्तन पूर्वक प्रकाश डाला है। उनके वेदभाष्य में राजधर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व उपलब्ध होते हैं।

वैदिक चिन्तन में प्रजापालन की व्यवस्था का संचालन करने वाली नीति व नियमों का पालन कराने की प्रक्रिया को राजधर्म कहा गया। वेद की व्यापक व सार्वभौमिक सत्ता का परिचय इस बात से मिलता है कि सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है और सारा संसार उसकी प्रजा है। **वयं प्रजापते प्रजा अभूम**[१] अर्थात् सभी मनुष्यों को निश्चय करके जानना चाहिए कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है। व्यावहारिक रूप से भी वेद का स्पष्ट आदेश है कि तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिए एक मनुष्य को कभी नहीं[२] ये तीनों ये हैं- प्रथम राज्य प्रबन्ध के लिए आर्य राजसभा जिससे विशेष करके सभी राज्य कार्य सिद्ध हों। दूसरी आर्य विद्यासभा जिससे सभी प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए। तीसरी आर्य धर्मसभा जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे।[३] इन तीनों सभाओं के माध्यम से राज्य की व्यवस्था सम्यक्तया संचालित हो, इसका दायित्व राजा और प्रजा दोनों पर होता है।

---

१. यजु० १८.२९

२. त्रीणि॑ राजाना वि॒दथे॑ पु॒रूणि॒ परि॒ विश्वा॑नि भूषथः॒ सदां॑सि। अप॑श्यम॒त्र मन॑सा ज॒गन्वान् व्र॒ते ग॑न्ध॒र्वा अपि॑ वा॒युके॑शान्॥ ऋ०३.३८.६.

३. ऋ० भाष्यभूमिका, राजप्रजाधर्म विषय।

शासक वर्ग सेवक, स्वामी नहीं - महर्षि दयानन्द ने वेद प्रतिपादित राजधर्म में शासक वर्ग को सम्प्रभु न मानकर प्रजा का सेवक बताया है। शासक और शासित का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, दोनों एक-दूसरे के पूरक तथा सहयोगी हैं। ऋषि वेदमन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि उस ईश्वर की कृपा से राजा-प्रजा अन्योन्य प्रीति से परमवीर्य और पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें।[४] अनेक स्थलों का भाष्य करते हुए उन्होंने राजा-प्रजा के सम्बन्ध को पिता-पुत्र के सम्बन्ध से उपमित किया है।[५] महर्षि दयानन्द ने राजा पर प्रजा का और प्रजा पर राजा का नियन्त्रण भी स्वीकार किया है। उनका अभिमत है कि यदि दोनों में से कोई भी निरंकुश होकर अधर्मयुक्त आचरण करे तो प्रजा राजा को और राजा प्रजा को दण्डित करें।[६] वेद की मान्यता है कि राजा का अस्तित्व प्रजा की अपेक्षा से है राजा प्रजा के रञ्जन (प्रसन्नता) और रक्षण आदि के लिए ही होता है।

वंशानुगत एकतन्त्रीय एवं स्वेच्छाचारी राजा का खण्डन - प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिन्तन के उपलब्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों में सामान्यत: वंश परम्परा और ज्येष्ठता के आधार पर ही राजत्व प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राप्त होता है। मनुस्मृति में भी वंशानुक्रम तथा ज्येष्ठता केआधार पर राजा बनाने का संकेत प्राप्त होता है।[७] परन्तु स्वामी दयानन्द ने वेदमन्त्रों के माध्यम से इस वंशानुगत राजत्व प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रबल प्रतिवाद किया है। ऋषि ने वेद का प्रमाण देते हुए कहा है कि हे राजन्! अपना पुत्र भी यदि बुरे लक्षणों वाला हो तो अधिकार देने योग्य नहीं है।[८] ऋषि ने एकतन्त्रीय निरकुंश एवं स्वेच्छाचारी राजत्व का खण्डन करते हुए बताया कि जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है - जैसे पशु पराए खेत में यवों को खाकर प्रसन्न होते हैं। वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है।[९] ऋषि ने ऐतरेय-ब्राह्मण का प्रमाण देते हुए कहा कि जो क्षेत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर अधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वह सब सुख कारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है।[१०] वैदिक साहित्य में राज्य संचालन की नियमावली को राजधर्म नाम दिया जाना एवं सर्वोपरि राजा परमेश्वर को मानना भी किसी एक व्यक्ति के

---

४. यजुर्वेद ३६-११
५. ऋ०भाष्य १.३१.११, १४, १.३६.१०, १.८०.४ यजु० ७.४५, ९.२३, १०-३०
६. यजु० भाष्य ८.२३
७. मनुस्मृति ९.३२३
८. ऋ० भाष्य ४.१९.९
९. ऋ० भाष्यभूमिका पृ० ३६२, ३६३, ३६८

१०. ऋ०भा०भू० - राज प्रजाधर्म विषय।

राजत्व को अस्वीकार करने का प्रमाण है। ऋषि कहते हैं कि प्रजा तथा सभी सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें।[११]

राज्य का सावयव सिद्धान्त-ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों एवं वेदभाष्यों में राज्य के विभिन्न अङ्गों एवं उपाङ्गों के मध्य सहयोग, सामञ्जस्य एवं समरसता स्थापित करने के लिए सावयव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के कतिपय मन्त्रों की व्याख्या में ऋषि ने लिखा है सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिए कि मेरी शोभा और धन मेरी शिरस्थानी सत्कीर्ति, मेरा मुखस्थानी न्याय के प्रकाश के समान, तथा सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और दाढ़ी मूंछ के समान तथा जो ईश्वर सब का आधार और जीवन हेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा है। वही अच्छे प्रकार प्रकाशमान नेत्र, विविध शास्त्र-श्रवणयुक्त कान है, ऐसा तुम लोग जानो।[१२] वेदवर्णित राजा प्रजा के कल्याण हेतु अपने अङ्गों का वर्णन करता है - मेरा बल और धन भुजारूप, मेरा कर्म और पराक्रम हाथ रूप मेरा स्वरूप (उर) हृदय अति दु:ख से प्रजा की रक्षा करने हारा हो।[१३] राजा यहाँ तक कहता है कि मेरा राज्य (पृष्ठ) पीठ (उदरम्) पेट (असौ) कन्धे (ग्रीवा) कण्ठ प्रदेश (उरू) जंघा (अरत्नी) भुजाओं का मध्य प्रदेश और (जानुनी) टाँगो का मध्य प्रदेश तथा सब ओर से राज्य ही है और मेरे प्रजाजन मेरे अङ्ग हैं।[१४] राजा का अपने राज्य व प्रजा के साथ इतना आत्मीय सम्बन्ध वेद प्रतिपादित है। महर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्रों के माध्यम से शरीर के विभिन्न अङ्गों उपाङ्गों से राज्य के अङ्गों, उद्देश्यों आदि को उपमित कर उनमें एकता, सहयोग, समन्वय तथा सन्तुलन स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

राजा की आवश्यकता- वेद में राज्य संचालन का दायित्व सभाओं के अधीन है। तीनों सभाओं के मध्य समन्वय व सन्तुलन हेतु एक सभाध्यक्ष की नितान्त आवश्यकता है। जिस प्रकार नक्षत्रों में राजा चन्द्रमा बनकर कमनीय शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रजाएँ अपनी शक्ति से सभी को अनुकम्पित कर देने वाले पुरुष को अपना राजा बना लेती हैं।

राजा के गुण - राजा के गुणों पर विचार करने से पहले यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इन्द्र शब्द से राजा के गुणों को स्पष्ट किया गया है। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेदभाष्य में इन्द्र शब्द का अर्थ सभापति किया है।[१५] सायणाचार्य ने भी इन्द्र को राजा के रूप में स्वीकार किया है। इन्द्र शब्द से राजा के उत्तम गुणों का वर्णन वेद में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

---

११. तं सभा च समितिश्च सेना च० - ११ अथर्व का० १५.अनु०२.ब०९.मन्त्र ०२

१२. यजु० २०.५

१३. बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्मवीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम। यजु० २०-७

१४. यजु० २०.८

१५. यजु० भाष्य ३.५१

राजा के सम्पूर्ण गुणों को यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रजा को पूर्ण विश्वसनीय आश्रय दे सकना ही सबसे महान् गुण है।[१६] इस गुण से युक्त सुयोग्य राजा में किस प्रकार के गुणों का समावेश हो, उसमें क्या-क्या योग्यताएँ हों, जिससे राज्य के संचालन तथा राज्य के विकास में वह सफल हो सके, इस विषय का प्रस्तुतीकरण वेद में स्पष्ट रूप से किया गया है।

विद्वान्-उसी को राजा चुना जाना चाहिए जो विद्वानों में परम विद्वान, सभी के प्रति मैत्रीभाव रखने वाला, उत्तम गुण कर्म स्वभावों से युक्त सबको बसाने वाला (वसु) और राष्ट्र यज्ञ को सुचारु रूप से चलाने वाला हो, ऐसे ही राजा के राज्य में प्रजाएँ सुखी रहती हैं।[१७]

सम्पन्न एवं प्रजारक्षक - राजा बनने का अधिकारी व्यक्ति दीन-हीन नहीं हो, अपितु वह सम्पन्न हो, यह सम्पन्नता धन व विद्या की है, दुष्टों का संहार करने की क्षमता भी हो। राज्य के समस्त प्राणियों को अन्नादि प्रदान करने वाला मनुष्यों में ज्येष्ठ प्रजारक्षक, तेजस्वी, सूर्य के समान शत्रुओं को पराजित करने वाला व्यक्ति ही प्रजा द्वारा चुनने योग्य होता है।[१८]

महान् एवं बलवान् - प्रजाओं में अत्यन्त महान् बलियों में सर्वाधिक बली, धन का दानी, शत्रुओं को पराजित करने वाला, एक छत्र राज्य कर सकने की क्षमता वाला व्यक्ति ही राजा बनाया जाना श्रेयस्कर होता है।[१९] यहाँ शत्रुओं को पराजित करने से अभिप्राय बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं (दुष्टों) को नष्ट करने से है, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह बात अत्यन्त विचारणींय है कि हमारा राष्ट्र आतंकवाद से त्रस्त है, नित्य ही नये-नये आतंकवादी संगठन सिर उठा रहे हैं, भोली-भाली जनता को अपना निशाना बनाते हैं, ऐसी घटनाएँ करने वाले आतंकवादी पकड़े भी जाते हैं तो भारतीय कानून की लचीली धाराओं के कारण छूट जाते हैं। वेद कहता है कि जहाँ राज्य का दायित्व प्रजा की रक्षा करना है, वही दुष्टों का सर्वनाश अधिक आवश्यक है।

न्यायविद् व चरित्रवान् - राजा सुष्ठु प्रकार से न्याय की पालना करने वाला, अपनी रक्षण क्रियाओं से सामान्य प्रजा का रक्षक, अत्यन्त सम्पन्न लोगों की भी रक्षा करने वाला तथा शत्रुओं (दुष्टों) को दृढ़तापूर्वक नष्ट करने वाला व्यक्ति ही राजा बनने का अधिकारी होता है।[२०]

---

१६. यजु० ६.२६

१७. देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे। शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।। ऋ०१.९४.१३

१८. ऋ० ३.२१.११

१९. महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्। एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्। ऋ० ३.४६.२

२०. रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः। प्रति ष्फुर वि रुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद्वावृधानम्। ऋ० ४.३.१४

इन गुणों के अतिरिक्त भी क्रान्तदर्शी राष्ट्रवर्धक व वज्रधारी एवं अपराजेय आदि गुणों का विशद वर्णन वेद में उपलब्ध होता हैं।

राजा के कर्त्तव्य- उपर्युक्त गुणों से युक्त राजा का चयन जब प्रजा करती है तो निश्चित है कि राजा ऐसे कार्य करे जिससे प्रजा का भला हो, प्रजा की भलाई के लिए राजा को क्या-क्या कार्य करने चाहिए, प्रजा के प्रति वह अपने कर्त्तव्यों का कैसे पालन करे, इस विषय में वेद की स्पष्ट अवधारणा है - वह राजा चारों वर्णों को यथायोग्य कार्य में प्रवृत्त करे।[२१] प्रजा के जन-धन की रक्षा करे,[२२] दुष्टों को दण्ड दे,[२३] प्रजाजनों की प्रार्थनाओं को सुने,[२४] विद्या आदि के लिए योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करे,[२५] राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार करे,[२६] शिक्षा की सभी के लिए समुचित व समान व्यवस्था करे, चिकित्सा व्यवस्था उत्तम हो अपंगों का भरण पोषण हो, आवश्यकता पड़ने पर प्रजा की आर्थिक सहायता भी करे।

राजा का निर्वाचन-राजधर्म में यह अहम् प्रश्न है कि जो राजा राज्य-व्यवस्था का स्तम्भ है, उसका चयन किस आधार पर हो? राजा का चुनाव वंश परम्परा के आधार पर करने के विषय में वेद मौन है। प्रजा में से ही किसी सुयोग्य व्यक्ति को राजा चुनना चाहिए, इसका संकेत वेद में एकाधिक स्थानों पर उपलब्ध होता है। जो कोई व्यक्ति राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो, उसका हम लोग अभिषेक करें।[२७] अब ईश्वर सब मनुष्यों को राजव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु आक्रमण न कर सके। राजपद के प्रत्याशी होने के लिए यह आवश्यक है कि वह उसी क्षेत्र या देश का रहने वाला हो, अथर्ववेद का 'अन्तर्भू' शब्द इसका पुष्ट प्रमाण है।[२८] ऐसा भी प्रतीत होता है कि राजा पद के एकाधिक प्रत्याशी होते थे। वेद के अनुसार चयन की दो पद्धतियाँ दृष्टिगत होती हैं- प्रथम तो वह जिससे सम्पूर्ण प्रजाएँ प्रत्यक्ष रूप से राजा का चयन करती हैं।[२९] दूसरी पद्धति वह है जिसमें कुछ निश्चित लोग ही राजा का चयन करते हैं। इनमें से कुछ लोग इसी कारणों से राजकृत

---

२१. ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्। यजु०३०.५

२२. यजु० १६.१६

२३. यजु० ३०.५, ११.७७

२४. यजु० ३३-१५

२५. यजु० ९-२७

२६. विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि। अथर्व० ४.३१.४

२७. ऋ० भाष्यभूमिका, राजप्रजाधर्म विषय।

२८, अथर्व० ६.८७.१

२९. अथर्व० ३.४.२

कहे जाते है, कुछ मुखिया होते हैं, कुछ सूत शब्द से सम्बोधित किए जाते हैं।[३०] ये सभी गुप्त रूप से मतपत्रों द्वारा राजा का चयन करते हैं। अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रजा के द्वारा राजा के वरण का वर्णन प्राप्त होता है[३१] राजा को वरण किये जाने के कारण वरुण भी कह दिया गया है। विशिष्ट विद्वद्गण एक सुयोग्य व्यक्ति को राज्य पद पर अभिषिक्त करते हैं। जिन्हें वसु रुद्र और आदित्य कहा गया है।

सबसे श्रेष्ठ स्थान पर चुने जाने पर अग्रगण्य होने पर भी यह जनता का प्रथम सेवक है, जनता की सेवा पर ही उसकी स्थिति निर्भर है, वह प्रजा की इच्छाओं के पीछे चलने वाला है।[३२] एक स्पष्ट तथ्य और वेदों में आया कि राजा को कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए। शतपथ-ब्राह्मण का मत है कि यदि राजा प्रजा के नियन्त्रण में नहीं होगा तो वह प्रजा को नष्ट कर देगा। राजा ही नहीं उसकी सेना और सभा में जो पुरुष हों ये सब दुष्टों पर तेजधारी व श्रेष्ठों पर शान्तिरूप सुख-दु:ख को सहन करने वाले और धन के लिए अत्यन्त पुरुषार्थी हों।[३३] ऋषि दयानन्द ने मनुस्मृति का प्रमाण देते हुए कहा है कि राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते है कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना, ज्ञान तथा विद्याओं के जानने वालों से तीनों विद्या- सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव रूप को यथावत् जानने के ब्रह्म विद्या और लोक से वार्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् व सभापति हो सकें।[३४]

वैदिक राजधर्म में अन्य सभी विषयों यथा-सभा-समिति का गठन, मन्त्रिपरिषद् का गठन एवं उनके अधिकार, मन्त्रियों के गुण, योग्यता एवं कर्त्तव्य, शासन-प्रणाली, न्याय एवं दण्ड -विधान, राष्ट्र की सुरक्षा के आयाम- दूतव्यवस्था, गुप्तचरव्यवस्था, सैन्यव्यवस्था, दुर्गप्रकार, शस्त्रास्त्र, युद्ध और शान्ति के उपाय, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, समाश्रय आदि षड्गुण एवं राज्य की अर्थव्यवस्था के आयाम - कृषि वानिकी, पशुपालन, गोपालन, अश्वपालन अन्य पशुओं का पालन, उद्योग-धन्धे, व्यापार, करव्यवस्था आदि सभी विषयों पर पर्याप्त चर्चा उपलब्ध होती है।

राजधर्म का प्रधान स्तम्भ केवल राजा या राज्य संचालन में प्रवृत्त सत्तापक्ष ही नहीं, अपितु प्रजा भी राजधर्म का प्रमुख स्तम्भ है, इस पक्ष को भी वेद ने स्पष्ट किया है और प्रजा के कर्तव्य आदि पर विचार उपलब्ध होते हैं- प्रजा में पाँच प्रकार के व्यक्ति होते थे- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद या अतिशूद्र। इन्द्र इन पाँचों जनों का राजा होता था।[३५] स्वावलम्बन वाली प्रजा सुखी और प्रसन्न रहती है। प्रजा तपस्वी हो

---

३०. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्। अथर्व० ३.५.७

३१. विशो न राजानं वृणाना। ऋ० १०.१२४.८

३२. सविशोऽनुव्यचलत्। अथर्व० १५.९.१

३३. ऋ० भाष्यभूमिका पृ० २३९

३४. सत्यार्थप्रकाश षष्ठ समुल्लास।

३५. अथर्व० २०-६०-१५

और राष्ट्र हितकारी नियमों को पालन करे।[३६] प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् कोश को उन्नत करे। ये चारों तत्त्व प्रजा के सहयोगी कहे गये हैं। प्रजा यशस्वी होनी चाहिए उसमें कोई भी व्यक्ति अकीर्ति या अपयश वाला न हो।[३७] प्रजा और राजा का परस्पर सम्बन्ध भी राष्ट्र के यश को बढ़ाने वाला होता है, यजुर्वेद में कहा गया है कि प्रजा में ही राजा प्रतिष्ठित हैं और राजा की कीर्ति प्रजा के हित पर निर्भर है।[३८]

शासन प्रणाली-वेद में तीन प्रकार के शासन का उल्लेख है - विराट्, स्वराट् और सम्राट्।[३९] विराट् में जनता सर्वसम्मति या बहुसम्मति से अपना निर्णय करती है, जो सामूहिक निर्णय होता है, यह सबको मान्य होता है। वर्तमान में पंचायत राजव्यवस्था विराट् व्यवस्था के तुल्य दृष्टिगत होती है। स्वराट् में केन्द्रीय शासन होता है, जनता के प्रतिनिधि सभा और समितियों में जाते हैं, केन्द्रीय सभा और समितियों में वे राज्य सम्बन्धी नियमों को बनाते हैं। वे नियम सारे राज्य के लिए होते हैं। ऋग्वेद में ऐसे राज्य के लिए 'बहुपाटय' शब्द आया है।[४०] सम्राट् प्रणाली में छोटे-छोटे माण्डलिक शासक होते हैं, उनके ऊपर सम्राट् होता है। इसी प्रकार ऐतरेय-ब्राह्मण में नौ प्रकार की शासन प्रणालियाँ है।[४१] राज्य शासन की अन्य विधियाँ भी वेद में उपलब्ध होती हैं- जनराज्य, विप्रराज्य, समर्यराज्य, अधिराज्य आदि। इस प्रकार वेद की मान्यता है कि किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए वहाँ की राज्यव्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन आवश्यक होता है। साथ ही राष्ट्र की इकाई के रूप में व्यक्ति के अन्त:करण का शोधन आवश्यक है। वैदिक साहित्य में राष्ट्र से सम्बन्धित विशद वर्णन उपलब्ध होता है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त भूमिसूक्त में बताया गया है कि यदि किसी देश या राष्ट्र के लोग चाहते हैं कि उनका राष्ट्र दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करता चला जाये तो उस राष्ट्र के निवासियों को राज्याधिकारियों को अपनी मातृभूमि के प्रति समर्पण व श्रद्धा का भाव रखते हुए अपने कार्य करने चाहिए।

वेद वर्णित राजधर्म वर्तमान में भी राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर ले जा सकता है, परन्तु उसके लिए सर्वप्रथम सामाजिक जागृति की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक अपने हृदय में राष्ट्र को प्रमुख स्थान पर प्रतिष्ठित करे। वेद प्रतिपादित राष्ट्र को धारण करने वाले सात तत्त्व - बृहत्- सत्य, बृहत्-ऋत, क्षत्रशक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्मशक्ति और यज्ञ सदैव राष्ट्रवासियों को स्मरण रखने चाहिए[४२] तथा अपने अन्दर इन सातों गुणों का आधान कर राष्ट्रोन्नति हेतु राष्ट्रयज्ञ में अपनी आहुति देनी चाहिए। राज्यव्यवस्था का दायित्व निभाने वालों की योजना में दो बातें मुख्य रूप से समाहित होनी चाहिये, प्रथम दुष्टों का संहार द्वितीय श्रेष्ठों का उपकार। ब्रह्म व क्षत्र शक्ति, विचार व कर्म, राज व धर्म सदैव साथ-साथ चलने चाहिए, तभी राजधर्म का पालन संभव है।

---

३६. अथर्व० १३-१-१०
३७. अथर्व० १५-९-१२, अथर्व० १-२०-१
३८. यजु० २०-९
३९. अथर्व० १७-१-२२
४०. ऋ० ५-६६-६
४१. ऐतरेय ब्राह्मण ८-१५

४२. अथर्व०१२.१

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०७०-७९)

वेदों में ऋत-तत्त्व और उसका दार्शनिक स्वरूप एवं वैशिष्ट्य

डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य

'वेद' आर्यों के प्राचीन गौरव ग्रन्थ हैं। इसके साथ-साथ विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ होने का श्रेय भी वेदों को प्राप्त है। वेद ज्ञान के पर्याय हैं। यह ज्ञान ईश्वर से निःसृत होने के कारण स्वतः प्रमाण के रूप में वैदिक परम्परा के अन्तर्गत स्वीकार्य है और संख्यात्मक दृष्टि से चार भागों में विभक्त है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में वैदिक ज्ञान के अध्ययन, मनन एवं आचरण से मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक योग क्षेम की ससिंद्धि होती है।

वेद एवं ऋत-तत्त्व का अभिन्न सम्बन्ध है। ऋत के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिये वेदों का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है, तो वेदों का यथार्थ स्वरूप ऋत तत्त्व के अर्थ बोध के माध्यम से उद्घाटित हो सकता है। ऋत मूलतः एवं प्रथमतः वैदिक शब्द तो है ही इसके साथ-साथ एक व्यापक अवधारणा एवं दृष्टिकोण भी है। इस कारण 'ऋत' शब्द के स्वरूप बोध के लिये वेदों का गम्भीर अध्ययन एवं तात्त्विक चिन्तन आवश्यक है, परन्तु एक शोध-निबन्ध की समय सीमा के अन्तर्गत न तो यह सम्भव ही है और न आवश्यक ही। हाँ, शोध-निबन्ध के अन्तर्गत उन आधारों एवं प्रमाणों का उल्लेख करते हुए एक सामान्य निष्कर्ष या दिशाबोध की ओर यथेष्ट संकेत किया जा सकता है, जिससे ऋत के तात्त्विक विवेचन की महत्ता अनुभव की जा सके। प्रस्तुत निबन्ध में ऋत तत्त्व पर विचार करते समय यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। जैसा कि आगामी विवरण पर दृष्टिपात करने से विदित हो सकेगा कि चारों वेदों में कुल बीस हजार तीन सौ उनहत्तर मन्त्र हैं। जिनमें ऋत शब्द सबसे अधिक ऋग्वेद में २४८ बार आया है, उसके बाद अथर्ववेद में ३२ बार और यजुर्वेद में २७ बार तथा सामवेद में कम से कम २२ बार ऋत शब्द का प्रयोग मिलता है। वेदों में जिन प्रमुख रूपों में ऋत शब्द का प्रयोग हुआ है, वे यहाँ उल्लेखनीय हैं, यथा- ऋतम्, ऋतेन, ऋतावृधा, ऋतावा, ऋते, ऋतावरी, ऋतायत, ऋतयाः, ऋतचित, ऋत्विय, ऋतज्येन, ऋतधीतयः आदि।

यद्यपि ऋत शब्द से सम्बन्धित उपर्युक्त सूची अपूर्ण है, तथापि इससे यह तथ्य भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में ऋत शब्द का प्रयोग अनेक बार और भिन्न रूपों में हुआ है। वेदों के अलावा, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों तथा दर्शनग्रन्थों में भी ऋत शब्द मिलता है, परन्तु जहाँ तक ऋत शब्द के अर्थ का प्रश्न है और जो दार्शनिक दृष्टि से विचार करने हेतु प्रस्तुत सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है, उसके विषय में यहाँ यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में ऋत शब्द अनेक अर्थों का वाचक है जैसा कि निम्न उद्धरणों पर

दृष्टिपात करने से पता चलता है-१. 'ऋतमेव परमेष्ठी'।[1] २. इयं (पृथिवी) वा ऋतम् असौ (द्यौः) सत्यम्।[2] ३. ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किंचन। ४. ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियमाश्रिता॥[3]

पुनः तैत्तिरीय-ब्राह्मण में वरुण को ऋत का संचालक बतलाया गया है,[4] वही ऋत के साम्राज्य को व्यवस्थित करता है, यथा **'ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे'**॥ निरुक्तकार ने में ऋत का निर्वचन करते हुए लिखा है कि **ऋतं सत्यं वा यज्ञं वा।**[5] वेदभाष्यकार सायण ने ऋत शब्द का सत्य, यज्ञ, आदित्य एवं इन्द्र अर्थ किया है। **'ऋतशब्दे नेन्द्रोवादित्योवासत्यं वा यज्ञो वोच्यते'**[6] निरुक्तकार ने ऋत शब्द का प्रयोग जल के लिये भी किया है। ऋतमित्युदकनाम वैदिक ऋचाओं में नदियों को ऋतावरी बतलाया है तथा जल के स्रोतों के लिये ऋताधीन जैसे शब्द भी वेदमन्त्रों में मिलते हैं।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में ऋत शब्द की अनेकार्थता को स्वीकार किया है। जिसका मूलाधार उनके द्वारा स्वीकृत यौगिक भाष्य प्रणाली है। ऋत शब्द की अनेकार्थ बोधकता के निम्न उद्धरणों पर दृष्टिपात करने से भलीभाँति विदित हो जाती है। यथा-'ऋत' का सत्य वाचक अर्थ दयानन्द के वेदभाष्य में निम्न स्थलों पर प्राप्त होता है।[7]

इसी तरह सत्य के अनेक रूपों का वर्णन भी ऋषि दयानन्द ने निम्न स्थलों पर ऋत के सन्दर्भ में किया है यथा-सत्य ब्रह्म।[8] यथार्थ सत्य विज्ञान।[9] सत्य व्यवहार।[10] सत्यकरण।[11] सत्य का प्रकाशकर।[12] सत्य से प्रसिद्ध।[13] सत्य से उत्पन्न।[14] सत्य के विभाग कर्ता- प्रकाशमान।[15] सत्य के सृदश आचरण।[16] सत्य स्वरूप।[17] सत्य विद्या।[18] सत्य धर्म।[19]

---

१. तैत्ति०ब्रा०१.५.५
२. तैत्ति सं० ५.१.५.८
३. तैत्ति०सं० १.५.५.१
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण २.८.५.६
५. निरुक्त ४.१.४५
६. ऋ०४.२३.८
७. ऋग्वेदभाष्य - ३.३.५५, ३.३.६१, ४.३, ३.३.५३ तथा यजुर्वेदभाष्य के अन्तर्गत ४.१२, ५.१; २.१३, १२.१०५, १८.३८, २०.३०, २९.६, २९.३६, ३३.३ पर मिलता है।
८. ऋग्वेद ५.४.१२, यजुर्वेद १९.१२
९. यजुर्वेद १९.७७
१०. ऋग्वेद ४.३.८, ४.३.४०
११. ऋग्वेद ३.३.५४, ५.४.१२, ५.४.१५, ५४.६२
१२. ऋग्वेद ३.३.५४
१३. ऋग्वेद ३.३.५४

इनके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द ने ऋत शब्द का अर्थ यथार्थ व्यवहार ऋग्वेद व यजुर्वेद में किया है।[२०] इसी तरह यजुर्वेद का भाष्य करते हुये महर्षि ने ऋत को विद्या तथा विनय से युक्त बतलाया है[२१] तथा यजुर्वेद में ऋत का अर्थ बाहर का वायु किया है।[२२] महर्षि ने ऋत का जलपरक अर्थ ऋग्वेद में किया है।[२३] दयानन्दभाष्य में ऋत के अन्य अर्थ भी यहाँ द्रष्टव्य हैं- परमेश्वर एवं प्रकृति।[२४] जल के सदृश सत्य।[२५] सत्य अथवा जल।[२६] जल।[२७] प्राप्त होने योग्य कारण।[२८]

ऋत सम्बन्धित उपर्युक्त भिन्न अर्थों पर विचार करते हुये निम्न तथ्य निष्कर्ष रूप में सामने आते हैं। (१) महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में ऋत शब्द का अर्थ सत्य के रूप में सर्वाधिक किया है (२) ऋत एवं सत्य पूर्णतः समान अर्थवाची नहीं है, उनसे प्रकरण अनुसार भेद भी है। ऋत एवं सत्य का यह सूक्ष्म अन्तर इन उपनिषदीय वचनों से ध्वनित होता है यथा-'**ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।**'[२९] (३) महर्षि को सत्य के भी अनेक प्रकार ग्राह्य हैं यथा-सत्य ब्रह्म, प्रकृति, सत्य स्वरूप, सत्य का प्रकाशन, सत्य से उत्पन्न, सत्य का विभाग कर्ता, सत्य कारण, यथार्थ। सत्य विज्ञान, सत्य विद्या, सत्य धर्म, सत्य सदृश आचरण सत्य के वेद विज्ञान। (४) सत्य के अतिरिक्त 'ऋत' शब्द का प्रयोग जल के लिये भी ऋषि दयानन्द को ग्राह्य है। कम से कम पाँच सन्दर्भ ऐसे मिलते हैं, जिनमें ऋषि दयानन्द ने ऋत को जल के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

---

१४. ऋग्वेद ३.३.५८
१५. ऋग्वेद ४.३.१
१६. ऋग्वेद ४.३.७
१७. ऋग्वेद ५.४.६२
१८. ऋग्वेद ६.४.५२
१९. ऋग्वेद ६.५.६७
२०. ऋग्वेद ४.३.३ व यजुर्वेद १९.७९
२१. यजुर्वेद १९.७५
२२. यजुर्वेद १९.१६
२३. ऋग्वेद ३.३.३७, ४.३.२ व ३ तथा ५.४.१२
२४. ऋग्वेद ५.४.५८
२५. ऋग्वेद ५.४.८० व ६.४.३९
२६. यजुर्वेदभाष्य २९.३६
२७. ऋग्वेद ३.३.३३, ४.३.२ व ३,५.४.१२
२८. ऋग्वेदभाष्य ३.३.५४
२९. तैत्तिरीय आरण्यके प्रपा०७, अनु०९. (तै०उपनिषद शि०व०१.९.)

उपर्युक्त बिन्दुओं पर विचार करने से यह विदित होता है कि महर्षि ऋत के अर्थ के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्काचार्य से न केवल सहमत हैं, जो सत्य एवं जल के अर्थ में ऋत को ग्रहण करते हैं, अपितु उनकी अपेक्षा और अधिक वर्गीकृत अर्थों में सत्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु निरुक्तकार ने बाहर के वायु के अर्थ के रूप में ऋत शब्द का प्रयोग नहीं किया है। यह महर्षि का अपना मौलिक अर्थ है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि वैदिक शब्दों के अर्थ करते समय पूर्वोक्त यास्काचार्य आदि द्वारा स्थापित अर्थ परम्परा को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु उसके साथ-साथ प्रसङ्गानुकूल नये अर्थ देकर उसे विस्तृत आधार भी प्रदान करते हैं। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में ऋत शब्द के तात्त्विक स्वरूप को समझने के लिये एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि यदि ऋत शब्द अनेक अर्थों का वाचक है तो उसके किस अर्थ को कहाँ ग्रहण किया जाये। यह विचारणीय समस्या सामने उपस्थित हो जाती है। इस समस्या के समाधान हेतु ऋत शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर विचार किया जाना आवश्यक है। जो ऋषि दयानन्द की भाष्य प्रणाली का मूलाधार रहा है। ऋत शब्द की व्युत्पत्ति दो रूपों में संस्कृत कोश में प्राप्त होती है।

ऋ - गति प्रायणयो: (स्वादिगण, परस्मैपद)।

ऋ - सृ गतौ (जुहोत्यादिगण परस्मैपद)।

उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्तियाँ गत्यर्थक हैं और ये गत्यर्थ है-**'ते ज्ञानगमनप्राप्त्यर्था:।'** अत: यह शब्द उन सभी अर्थों का वाचक बोधक एवं ग्राहक स्वीकार करना व्याकरणसम्मत है, जिनसे ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति सम्भव है। इसका निर्णय सन्दर्भगत विशिष्ट देवता, क्रिया आदि को दृष्टिगत रखकर किया जा सकता है। यही प्राचीन वैदिक अर्थ प्रणाली ऋषि ने भी स्वीकार की है, जैसा कि निम्न सन्दर्भों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है-

ऋतेन- ज्ञानार्थक। ऋतावृधौ- ज्ञान, गमन, प्राप्ति। ऋतस्पृश- ज्ञान, गमन प्राप्ति के अर्थ में। ऋताय- ज्ञानार्थक अर्थ में। ऋतेन- ज्ञानार्थक के अर्थ में। ऋतावृधौ- गमन के अर्थ में। ऋतस्य- ज्ञानार्थक अर्थ में। ऋतम्- ज्ञान के अर्थ में। ऋतस्य- प्राप्ति के अर्थ में। ऋत्विजम्- प्राप्ति के अर्थ में।[३०] **ऋतावृध:- ज्ञानार्थक अर्थ में।**[३१]

ऋत विषयक उपर्युक्त अनेकार्थकता को दृष्टिगत रखते हुए यह शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि महर्षि के वेदभाष्य के आधार पर ऋत के तात्त्विक स्वरूप को विवेचित नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भ्रान्ति इसलिये सर्वथा निराधार प्रतीत होती है कि ऋषि ने वैदिक शब्दों को यौगिक अर्थ में ही ग्रहण किया है। उन्हें लौकिक या रूढ़िगत ग्राह्य नहीं है। किसी शब्द का यौगिक अर्थ उसके व्यापक आधार को प्रस्तुत करता है,

---

३०. ऋग्वेदभाष्य १.९.४४.११

३१. ऋग्वेदभाष्य १.९.४४.१४

जबकि रूढ़िगत अर्थ उसे सीमित या संकुचित बना देता है। यही कारण है कि ऋषिवर ने अन्य वैदिक शब्दों की भाँति ऋत शब्द की अनेकार्थकता को ग्रहण करते हुए उस व्यापक ग्राह्यता को स्थापित किया है। महर्षि की दृष्टि में ऋत प्रथमतः एवं मूलत जगत् की सर्वोच्च निर्मात्री, विधायक सत्ता, ब्रह्म या परमेश्वर है। महर्षि दयानन्द ने ऋत शब्द का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ सत्य का प्रकाशक भी किया है। सत्य के दो रूपों का संकेत ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में किया है।

पदार्थ मूलक सत्य के रूप में सम्पूर्ण जागतिक विस्तार हमारे सामने है, जिस नियम या दैवी विधान के आधार पर जगत् का निर्माण, विकास एवं संचालन होता है, वह सत्य का दूसरा प्रकार ज्ञानमय सत्य वेद है, जो परम ऋत की ज्ञानमय अभिव्यक्ति है। इसीलिये महर्षि ने ऋग्वेद में ऋत का अर्थ सत्य विद्या किया है।[३२] यह जगत् और उसका ज्ञान पूर्ण परमेश्वर की अभिव्यक्ति है, इसलिये जगत् एवं वेद दोनों ही पूर्ण हैं, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण होता है, यह एक प्रमुख वैदिक सिद्धान्त है।

उसी पूर्ण परमेश्वर को श्री अरविन्द ने परम ऋत चित कहा है। उससे उत्पन्न ऋत या जगत् के दैवी विधान द्वार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डगत ग्रह, उपग्रह आदि संचालित एवं व्यवस्थित होते रहते हैं। अतः एक सार्वभौम एवं अटल नियम के रूप में ऋत तत्त्व ऋषि दयानन्द को मान्य है। जिसके ऊपर किसी बाह्य परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह सभी गतियों एवं परिवर्तनों का निर्धारक है तथा सदैव स्वयं अपरिवर्तित बना रहता है। यजुर्वेद के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने उसे यथार्थ सत्य विज्ञान की संज्ञा दी है।[३३] जिसका प्रकाशन ऋग्वेद आदि चार मूल संहिताओं के रूप में ईश्वर द्वारा अग्नि, वायु आदि चार ऋषियों के अन्तःकरण में किया गया। वेद में ऋत एवं सत्य दोनों तत्त्वों का वर्णन एक साथ भी मिलता है। यथा-

ॐ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥[३४]

इस मन्त्र में ऋत एवं सत्य का साथ-साथ प्रयोग यह दर्शाता है कि ऋत शब्द सत्य का पर्याय मात्र न होकर उससे भिन्न एवं विशिष्ट भी है। विशिष्ट इस अर्थ में कि वह सत्य से प्रथम है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म को सत्य कहा है-**'सत्यं ज्ञानं अनन्त ब्रह्म'**[३५] तथा **ओ३म् भूः। ओ३म् भुवः। ओ३म् स्वः।.... ओ३म् सत्यम्।**[३६] वस्तुतः ऋत एक गत्यात्मक अवधारणा है और सत्य है-**सन्तीति सन्तस्तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्** अर्थात् सत्तावान्

---

३२. ऋग्वेद ६.४.५२
३३. यजुर्वेद १९.७७
३४. ऋ०१०.१९०.१.
३५. तैत्तिरीयोपनिषद्.२.१.
३६. तैत्ति० प्रपा०१० । अनु०१९।।

परमेश्वर का साधुमान् स्वरूप होने से उसका नाम सत्य है, परन्तु उपर्युक्त मन्त्र में ऋत का प्रयोग वेद के लिये तथा सत्य का प्रयोग त्रिगुणात्मक प्रकृति के लिये हुआ है, जिसे महर्षि दयानन्द ने जगत् का उपादान कारण बतलाया है। किन्तु वही जड़ प्रकृति ईश्वरीय विधान से अनुप्रेरित होकर जगत् निर्माण की प्रक्रिया की दिशा में अग्रसर होती है। उस गत्यात्मक प्रकृति को भी ऋषि दयानन्द ऋत सत्ता के रूप में देखते है्। जैसा कि ऋग्वेद की ऋचा का भाष्य करते हुए उन्होंने ऋत को परमेश्वर व प्रकृति के अर्थ में ग्रहण किया है।[३७] इसके अतिरिक्त महर्षि ने ऋत का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अर्थ यथार्थ व्यवहार या सत्य व्यवहार भी किया है।[३८]

परन्तु यथार्थ या सत्य व्यवहार की कसौटी क्या हो? यह एक महत्त्वपूर्ण आचार मीमांसीय प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। इस प्रश्न के समाधान में महर्षि द्वारा प्रस्तुत पाँच प्रकार की परीक्षा की अवधारणा प्रस्तुत की जा सकती है, जिसकी कसौटी पर परीक्षा करने से मनुष्य का जो-जो आचरण खरा उतरता है, उसे यथार्थ व्यवहार कहा जा सकता है। इन परीक्षाओं में सर्वप्रथम जो-जो कर्म ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव और वेद विद्या के अनुकूल हो वे करणीय है। दूसरी जो-जो कर्म प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान शब्द आदि आठ प्रमाणों के अनुकूल हो तो करने योग्य हैं। तीसरे जो-जो कर्म सृष्टि क्रम के अनुकूल हों, वे करणीय हैं। चौथे आप्त पुरुषों के आचरण के अनुकूल हो वे कर्म करने योग्य हैं और पाँचवे कर्म स्वात्मा की पवित्रता तथा विद्या के अनुकूल हों, वे करने के योग्य हैं।[३९] ऐसे यथार्थ व्यवहार को महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद की ऋचा में वर्णित ऋत शब्द का अर्थ सत्य धर्म किया है।[४०] इसी सत्यधर्म के महर्षि मनु ने १० लक्षण प्रतिपादित किये हैं।[४१] जिनके साथ अहिंसा को संयुक्त करते हुए महर्षि ने धर्म के ये एकादश लक्षण स्वीकार किये हैं- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध एवं अहिंसा।

वस्तुतः धर्म मनुष्य के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों पुरुषार्थों की संसिद्धि का मूलाधार है। इसी कारण महाभारतकार ने यह कहा है कि '**ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिद् शृणोति मे। धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।**'[४२]

धर्म के इसी व्यापक स्वरूप को महर्षि मनु ने वर्ण, धर्म, आश्रम धर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, दण्ड विधान, कर्मफल-व्यवस्था के रूप में वर्गीकृत किया है। धर्म का यह वैदिक रूप मानवधर्म के रूप में विचारणीय है, जो किसी भी स्थान, काल, जाति पन्थ, समाज के लिये ग्राह्य एवं अनुकरणीय है। इस अर्थ में यह सार्वभौम एवं

---

३७. ऋग्वेद ५.४.५८

३८. यजुर्वेद १९.७९; ऋग्वेद ३.३.८

३९. स०प्र०स्वमन्त०प्र०

४०. ऋग्वेद ६.५.६७

४१. मनु०६.९२.

४२. महा०१८.५.४९

सार्वकालिक व्यवहार का निर्धारक है। ऋत को सत्य धर्म के अर्थ में ग्रहण करने से ऋषि का यही अभिप्राय है। ऋषि के शब्दों में सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये मानते है और मानेंगे भी, इसीलिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं। मुण्डकोप० के अनुसार 'सत्यमेव जयते नानृतम्'।[४३] परन्तु जो मनुष्य इस सर्वधारक धर्म या ऋत का उल्लंघन करता है, उसको नियन्त्रित करने के लिये परमेश्वर का दण्डविधान लागू होता है, जिसे महर्षि ने में विद्या तथा विनय से युक्त न्याय कहकर ऋत को परिभाषित किया है।[४४]

महर्षि का ऋत विषयक दृष्टिकोण इतना व्यापक है कि संसार की रचना क्रिया, सामाजिक संगठन व व्यवस्था न्यायप्रणाली के अलावा मुक्ति जैसे परमपुरुषार्थ की संसिद्धि का साधन यथार्थ योगाभ्यास भी उसमें समाविष्ट हो जाता है। ऋषिवर ने यजुर्वेद के मन्त्र में वर्णित ऋत शब्द का अर्थ यथार्थ योगाभ्यास किया है।[४५] इस दृष्टि से देखे तो परम ऋत या परमेश्वर के साक्षात्कार साधन भी महर्षि ने ऋत या यथार्थ योगाभ्यास बतलाया है, जिसकी संसिद्धि से महर्षि पतञ्जलि ने 'ऋत को धारण करने वाली प्रज्ञा की प्राप्ति होना बतलाया है'।

किन्तु योगाभ्यास के साथ यथार्थ शब्द कितना सटीक एवं भावव्यञ्जना का बोधक है। इसका अनुमान योग के नाम पर प्रचलित 'वर्तमान योगा' पर दृष्टिपात करने से हो जाता है। योगा का मुख्य आधार आसन एवं प्राणायाम है और जिसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य को शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एवं सुडौल बनाये रखना है, ताकि भोग व भौतिकता की वर्तमान प्रतिस्पर्धा में वह अन्य किसी से पिछड़ न जाये, जबकि प्राचीन योग का वास्तविक उद्देश्य है-मनुष्य को निःश्रेयस् या मुक्ति की प्राप्ति कराना। ताकि वह दुःख के मूल भवबन्धन को काटकर परमानन्द प्राप्त कर सके। योगसूत्रकार ने इसका साधन चित्तवृत्तियों का निरोध बतलाया है। वृत्तियों के निरोध से द्रष्टा आत्म एवं परमात्मस्वरूप को साक्षात् कर लेता है। यह स्थिति समाधि की सिद्धि कहलाती है। महर्षि पतञ्जलि ने समाधि की सिद्धि के लिये अष्टाङ्गयोग, क्रिया योग, अभ्यास एवं वैराग्य तथा ईश्वर-प्रणिधान आदि साधन बतलाये हैं। जो साधक की योग्यता, प्रवृत्ति तथा अवस्था के अनुरूप ब्रह्मवेत्ता द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है कि साधक के लिये कौन सा साधन प्रयोग में लाना रुचिकर एवं अभीष्ट की सिद्धि में सहायक होगा।

सामान्यतया अष्टाङ्गयोग की पद्धति सर्वाधिक व्यापक है। इसके अन्तर्गत क्रियायोग के तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये तीनों अङ्ग आ जाते हैं। अभ्यास और वैराग्य भी इसी में समाहित हो जाता है। अष्टाङ्ग

---

४३. मुण्ड०३.१.६.

४४. यजुर्वेद १९.७८

४५. यजुर्वेद १९.७३

योग के प्रमुख अङ्ग, जिन्हें ऋषि दयानन्द ने ऋत का अर्थ करते हुये यथार्थ योगाभ्यास के रूप में स्वीकार किया है, संक्षेप में इस प्रकार हैं-

१.**यम**-ये सार्वभौम, पञ्च महाव्रत हैं। इनके अन्तर्गत सत्य, अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच आचरण के निर्देशक सिद्धान्त हैं।

२.**नियम**-इनकी संख्या भी पाँच है। इनका पालन यम के सापेक्ष है। यह शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान है।

३.**आसन**-'**स्थिरं सुखमासनम्**' कहकर योगदर्शनकार ने आसन को परिभाषित किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि शरीर के सुखपूर्वक स्थिर हो जाने की अवस्था आसन कहलाती है। आसन के अन्तर्गत सुखासन, पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि अनेक साधनोपयोगी आसनों का वर्णन योगसम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है।

४.**प्राणायाम**-न्यायसूत्रकार के अनुसार श्वास और प्रश्वास की गति को रोक देना प्राणायाम है। इसके चार भेद हैं-बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति तथा बाह्याभ्यान्तर विषयाक्षेपी। प्राणयाम के अभ्यास से अज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है तथा मन की धारणा सम्बन्धी योग्यता विकसित हो जाती है, जैसे अग्नि में तपाने से धातु के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम के अभ्यास से मन और इन्द्रियों के दोष क्षीण हो जाते हैं।

५.**प्रत्याहार**-इन्द्रियों की विषयाभिमुखता पर नियन्त्रण होने की अवस्था का नाम प्रत्याहार है। इस अवस्था में इन्द्रिय अन्तर्मुखी होकर इन्द्रियजय की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

६.**धारणा**-धारणा की परिपक्व अवस्था ध्यान कहलाती हैं। धारणा के प्रमुख केन्द्र हैं- नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धा, नासिकाग्र और जिह्वाग्र आदि। धारणा योग का आन्तरिक अङ्ग है।

७.**ध्यान**-धारणा की परिपक्व अवस्था ध्यान कहलाती है। सांख्यसूत्रकार के अनुसार राग की निवृत्ति ध्यान है। '**रागोपहतिर्ध्यानम्, ध्यानं निर्विषयं मनः**' कहकर भी सांख्यसूत्रकार ने ध्यान का स्वरूप विवेचित किया है।[४६]

८.**समाधि**-ध्यान की परिपूर्णता समाधि में होती है। इस अवस्था में चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। तब जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप साक्षात् हो जाता है। यह मुक्ति की स्थिति है, जिसके लिये योगविद्या का प्रतिपादन हुआ है।

---

४६. रागोपहतिर्ध्यानम् सांख्य ३.३०; ध्यानं निर्विषयं मनः। सांख्य ६.२५

अष्टाङ्गयोग के इस संक्षिप्त विवेचन से पता चलता है कि महर्षि दयानन्द की दृष्टि में ऋत अर्थात् योग विद्या से ऋत या सत्य ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है।

महर्षि ने अपने यजुर्वेदभाष्य में ऋत शब्द का अर्थ सत्य अथवा जल किया है[४७] तथा ऋग्वेद में ऋत शब्द को जल के सदृश सत्य बतलाया है।[४८] यहाँ पर यह विचारणीय प्रश्न है कि ऋत जल के सदृश कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर जल के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से खोजा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि जल शोष्य है व पृथिवी वायु द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। ऋत भी विश्व धारक विधान होने के कारण सभी भूतों एवं प्राणियों में परिव्याप्त रहता है। जल जीवन है, वह जन्तु एवं वनस्पति का महत्त्वपूर्ण आधार है। यही स्थिति ऋत की भी है। वह जल की भाँति सभी अणु, परमाणु, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि में परिव्याप्त है- गति एवं व्यवस्था के अटल या दैवी विधान के रूप में। ऋत के कारण दिन-रात ऋतु परिवर्तन आदि का नियमबद्ध तथा अनवरत चक्र चलता रहता है। यदि विश्व से एक क्षण के लिये भी ऋत वैश्विक विधान शिथिल हो जाये तो अविलम्ब प्रलयकारी सर्वनाश का दृश्य उपस्थित हो जायेगा।

वस्तुतः पृथिवी की गति उसका अपनी धुरी पर सूर्य की ओर झुकाव तथा परिभ्रमण का व्यवस्थित क्रम यह सभी विश्व नियन्ता के सुस्थिर एवं नियामक विधान के कारण ही सम्भव है। जल की एक अन्य प्रमुख विशेषता है- उसका स्वाभाविक रूप से नीचे की ओर बहना। ऋत भी जगत् सृष्टा ब्रह्म से निःसृत होकर प्राकृतिक नियमों के रूप में भौतिक जगत् को एक प्रमुख आयाम प्राकृतिक नियम के रूप में ऋषि दयानन्द को मान्य है। ऋत का एक अन्य प्रमुख आयाम है-जैविक नियम इस रूप में वह जन्तु एवं वनस्पति जगत् के निर्माण एवं व्यवस्था की प्रक्रिया के संचालन के मूलाधार के रूप में क्रियाशील रहता है। परन्तु महर्षि दयानन्द की दृष्टि में ऋत की भूमिका का विस्तार इससे कहीं आगे तक है। वह व्यक्ति और समाज के कार्य, संगठन एवं व्यवस्थापन के रूप में धर्म अथवा नैतिक विधान के माध्यम से प्रतिपल सक्रिय रहता है।

ऋत का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आयाम है- उसका आध्यात्मिक विधान। इस रूप में वह उन साधकों भक्तों एवं तत्त्वचिंतको तथा जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त करता है, जो सांसारिक ऐषणाओं एवं भोगों की निःसारता को अनुभव करते हुये उससे मुक्ति पाने की लालसा लिये जीवनयात्रा प्रारम्भ करते हैं। ऐसे पुण्यशील, संस्कारित व्यक्तियों के मार्गदर्शन के लिये ऋत यथार्थ योगाभ्यास के रूप में सहायक सिद्ध होता है।

ऋत की इसी सर्वव्यापकता को शतपथ ब्राह्मणकार ने यज्ञो वै ऋतस्य योनि कहकर स्वीकार किया है।[४९] ऋत से निःसृत यज्ञ के विधिपूर्वक सम्पादन करने से जिस विशेष शक्ति की उत्पत्ति होती है, उसे

---

४७. यजुर्वेदभाष्य (२९.२६)

४८. ऋग्वेद ५.४.८० एवं ६.४.३९

४९. श०ब्रा० १३.४.१.६

मीमांसाकार ने अदृष्ट की संज्ञा दी है। न्याय-वैशेषिक दर्शनपरम्परा के अन्तर्गत उसे ही अपूर्व के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः यज्ञ अदृष्ट, अपूर्व- ये सभी ऋत के अभिव्यक्त रूप हैं। महर्षि की दृष्टि में ऋत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है। उसकी अभिव्यक्तियाँ जगद्सृष्टा, मूलकारण, ईश्वरीय नियम, धर्म, यज्ञ, योग, न्याय, अदृष्ट अपूर्व, मुक्ति आदि रूपों में होती रहती है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाशन है। उनमें निहित रहस्यों का अनावरण ऋषिप्रणीत यौगिकवादी आर्षपद्धति द्वारा किया जा सकना सम्भव है। महर्षि दयानन्द इस पद्धति के पुनरुद्धार कर्ता वेदभाष्यकार के रूप में इस कारण स्वीकार्य एवं वरणीय हैं कि उन्होंने ही सर्वप्रथम वेदों में छिपे रहस्यों का सफलतापूर्वक अनावरण किया। जिनमें वेदों में वर्णित ऋत तत्त्व का स्वरूप उद्घाटन भी उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। ऋत वेदों की मूल अवधारणा है। ऋषि दयानन्द ने वेदों में भिन्न-भिन्न मन्त्रों में प्रयुक्त ऋत की अनेकार्थता को स्वीकार किया। इससे ऋत के व्यापक सन्दर्भ का तो पता चलता ही है, इसके साथ-साथ ऋत तत्त्व के बहु आयामी स्वरूप का भी उन्होंने यथा प्रसङ्ग उद्घाटन किया है, जिनमें जगत् नियन्ता से लेकर सृष्टि नियम, जैव नियम, सामाजिक नियम, न्याय व्यवस्था, कर्म विधान, आध्यात्मिक नियम, व्यवस्था आदि सम्मिलित हैं।

ऋग्वेदीय शाखाएँ: एक विश्लेषण

डॉ० मीनाक्षी उपाध्याय

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले चरण, शाखा और अनुशाखा शब्दों का पृथक् अर्थों में प्रयोग किया जाता है। शाखा चरण के बाद का विभाग है। जैसे -शाकल, बाष्कल, वाजसनेय, चरक आदि चरणों के अन्तर्गत क्रमश: पाँच, चार, पन्द्रह और बारह शाखाएँ आती हैं।[१] वेद की शाखाएँ वेद के अङ्ग अथवा पदार्थ नहीं, अपितु पूर्णरूप से वेद हैं।[२]

वैदिक साहित्य में कई ऐसी शाखाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध किसी भी वेद से नहीं है। इन शाखाओं के अन्तर्गत त्रिखर्व शाखा, मीमांसाशाखा, सौकरसद्मशाखा, शैखण्ड शाखा, तैत्तिलशाखा, सांकृत्य शाखा, प्लाक्ष शाखा, पौष्करसाद शाखा, काश्यपशाखा, कौडशाखा कार्शश्व शाखा आती हैं।[३] ऋग्वेद का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इसकी शाखाओं का विश्लेषण अपेक्षित है।

ऋग्वेद की शाखाएँ-

महाभाष्य में ऋग्वेद की शाखाओं की संख्या के बारे में कहा गया है-**'एकविंशतिधा बाह्वच्यम्'**[४] इसकी इक्कीस शाखाएँ हैं, जिनमें से पाँच मुख्य हैं- १.शाकल शाखा, २.बाष्कल शाखा, ३.आश्वलायन शाखा, ४.शाङ्खायन शाखा, ५.माण्डूकायन शाखा।[५] उपर्युक्त शाखाओं को चरणव्यूहकार ने भी स्वीकृति दी है।

१.शाकल शाखा

शाकल्य ऋषि इस शाखा के प्रवर्तक थे। ऋग्वेद की शाकल शाखा का ही आजकल अधिक प्रचलन है। इस संहिता का आठ अष्टकों, चौंसठ अध्यायों, दस मण्डलों, १०१७ सूक्तों और १०५८० ऋचाओं में विभाजन है।[६]

---

१. वै० वा०इ., पं० भगवद्दत्त - १०,१११
२. परन्तु वेदशाखास्ववयवत्वं नास्ति, प्रत्येकं शाखाया: शाखन्तरनैरपेक्ष्येण यावदपेक्षितार्थावबोधकत्वात्। वे.शा.प. डॉ० श्री किशो - मिश्र, पृ० १२
३. वे.शा.प. भाग-१, पृ० ३३९-३४१ पं० भगवद्दत्त
४. महाभाष्य पस्पशाह्निक
५. एतेषां शाखा: पञ्चविधा भवन्ति आश्वलायनी शांखायनी शाकला बाष्कला माण्डूकायनाश्चेति। च. व्यू. १.७.८
६. अध्यायाश्च चतु:षष्टि मण्डलानि दशैव तु। च.व्यू.१.१०

शाकल शाखाएँ

शाकल शाखा के अन्तर्गत पाँच अन्य शाखाएँ भी आती हैं, जो शाकल्य के पाँच शिष्यों से सम्बन्ध रखती हैं। ये पाँच शाखाएँ क्रमशः मुद्गल, गालव, शालीय, वात्स्य और शौशिरीय हैं।[७] ये पाँच शाकल शाखाएँ निम्नलिखित हैं :-

मुद्गल शाखा

इस शाखा से सम्बन्धित कोई संहिता प्राप्त नहीं हो पायी है। इस शाखा से सम्बन्धित ब्राह्मणग्रन्थ और सूत्रग्रन्थ भी नहीं मिलते हैं। इस शाखा का उल्लेख प्रपञ्च-हृदय नामक ग्रन्थ में मिलता है। उस समय यह शाखा अस्तित्व में थी।

गालव शाखा

इस शाखा से सम्बन्ध रखने वाली संहिता की जानकारी नहीं मिल सकी है। इस शाखा से सम्बन्धित ब्राह्मण और सूत्रादि ग्रन्थ भी नहीं प्राप्त हुए। गालव पाँचाल देश के रहने वाले थे।[८] ऋग्वेद का क्रमपाठ गालव द्वारा प्रणीत है।[९] इनका उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य, निरुक्त, अष्टाध्यायी और बृहद्देवता में मिलता है।[१०]

शालीय शाखा

इस शाखा के ब्राह्मण और सूत्रादि ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। काशिकावृत्ति में एक शाखाकार ऋषि के रूप में शालीय का स्मरण किया गया है।[११]

वात्स्य शाखा

इस शाखा के विषय में ज्ञान पूर्ववत् शाखाओं की ही भाँति है।

शैशिरि शाखा

इस शाखा का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में हुआ है। ऋक् प्रातिशाख्य में भी इस शाखा का उल्लेख मिलता है।[१२]

---

७. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० १६१, प्रथम भाग, पं० भगवद्दत्त

८. वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृ० १६१, पृ० १६३

९. वही, पृ० १६३

१०. वही, पृ० १६३

११. वही, पृ० १६५

१२. छन्दोज्ञानमाकारं भूतज्ञानं छन्दसा व्याप्तिं स्वर्गामृतत्वप्राप्तिम्। अस्य ज्ञानार्थमिदमुत्तरत्र वक्ष्ये शास्त्रमखिलं शैशिरीये। ऋक्.प्रा. - १.७

शाकल संहिता

इस संहिता को वैदिक सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। व्याकरण महाभाष्य में शाकल शाखा की संहिता का उल्लेख है।[१३]

२.बाष्कल शाखा

इस समय यह संहिता अनुपलब्ध है, किन्तु कई स्थानों पर बाष्कलशाखा का वर्णन मिलता है। बाष्कल शाखा के अनुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र **'तच्छंयोरावृणीमहे०'** है, किन्तु शाकल-संहिता का अन्तिम मन्त्र **'समानी व आकूतिः०'** है। बाष्कल संहिता में शाकल संहिता की अपेक्षा आठ सूक्त अधिक हैं। इसके सूक्तों की संख्या १०२५ है।[१४]

बाष्कल शाखाएँ

बाष्कल ने अपने चार शिष्यों को चार संहिताएँ बनाकर पढ़ायीं।[१५] उन चार शिष्यों के नाम पर बाष्कल शाखा के चार भाग हुए। इन शिष्यों के नाम क्रमशः- बौध्य, अग्निमाठर, पराशर और जातूकर्ण्य हैं।[१६]

बोध्य शाखा

बोध्य बोध का पुत्र था, जिसका गोत्र आंगिरस था।[१७] इस ऋषि की संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों का पता नहीं चल पाया है।

अग्निमाठर शाखा

इस शाखा के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिली है। माठर ऋषि का उल्लेख बृहद्देवता में आया है।[१८] इससे अधिक ज्ञान इस विषय में प्राप्त नहीं है।

पराशर शाखा

इस शाखा से सम्बन्धित संहिता प्राप्त नहीं है। पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य में एक उदाहरण के रूप में ऋग्वेदीय पराशर शाखा के कल्प का उल्लेख मिलता है- **'पराशरकल्पिकः'**।[१९] उस समय इस कल्प का अस्तित्व होने का प्रमाण मिलता है।

---

१३. शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत्। महाभाष्य - १.४.८४
१४. वै.सा.वि., डॉ० वेद प्रकाश उपाध्याय, पृ० १६३
१५. वै.वा. इतिहास, पृ० १६७
१६. वही-
१७. वही-

१८. वही- पृ० १६८

जातूकर्ण्य शाखा

जातूकर्ण्य चौथी बाष्कल शाखा है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में एक जातूकर्ण्य का उल्लेख है, जो काशी के राजपुरोहित के रूप में प्रसिद्ध थे।[२०] एक जातूकर्ण्य का उल्लेख शाङ्खायन गृह्यसूत्र में मिलता है।[२१] सम्भवत: यह वही शाखाकार जातूकर्ण्य हैं।

३.आश्वलायन शाखा

आजकल इस शाखा के केवल श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र ही उपलब्ध हैं, अन्य कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। किसी समय में इस शाखा की संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थ भी उपलब्ध थे।[२२] आश्वलायन शाखा से सम्बन्धित संहिता के विषय में मतभेद हैं। चरणव्यूह में इस शाखा के होने का उल्लेख है, किन्तु पुराणों में इस विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।[२३] आश्वलायन से सम्बन्धित अवान्तर शाखाओं के विषय में ज्ञात नहीं है। इसका सारा विषय अभी तक संदिग्ध है।

४.शांखायन शाखा

चरणव्यूह में निर्दिष्ट शाखाओं का विभाग चौथा है। इस शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक उपलब्ध हैं, किन्तु इस शाखा की संहिता उपलब्ध नहीं है।[२४] कुछ विद्वान् शाङ्खायन और कौषीतकि शाखा को एक मानते हैं, किन्तु यह मत ठीक नहीं है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में कौशीतकि और शाङ्खायन इन दो ऋषियों का उल्लेख है। भगवद्दत्त ने शाङ्खायन शाखा और कौषीतकि शाखा को अलग-अलग माना है।[२५]

शाङ्खायन शाखाएँ

शाङ्खायन शाखा के कल्प, ब्राह्मण और आरण्यक उपलब्ध होने से इस शाखा के विषय में ज्ञान भी पूर्ण है। इस शाखा से सम्बन्धित अन्य चार शाखाएँ हैं- शाङ्खायन, कौषीतकि, महाकौषीतकि और शाम्बव्य शाखाएँ।

---

१९. महाभाष्य, ४.२.६०

२०. वै.वा.इति., पृ० १६८

२१. वही, पृ. १६८

२२. वही, पृ. १६३

२३. वही, पृ. १७२

२४. वै.वा.इ. प्रथम भाग, अध्याय-१२, पृ. २०९

२५. वही-प्रथम भाग, भवगद्दत्त, अध्याय १२, पृ. २१२

शाङ्खायन शाखा

यह शाखा ब्राह्मण, आरण्यक, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों से युक्त है। शाङ्खायन शाखा के पहले दो अध्याय महाव्रत नाम से जाने जाते हैं।[२६] तीसरे अध्याय को शाङ्खायन उपनिषद् नाम से जाना जाता है।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र पर एक प्राचीन टीका का मुद्रण हुआ है, जिसके कर्ता के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।[२७]

कौषीतकि शाखा

इस शाखा से सम्बन्धित संहिता का भी पता नहीं चलता। इस शाखा से सम्बन्धित ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध हैं।

महाकौषीतकि शाखा

आश्वलायन गृह्यसूत्र के तर्पण प्रकरण में आचार्य महाकौषीतक का नाम मिलता है।[२८] इसका अपना ब्राह्मणग्रन्थ भी था, जिसका उल्लेख विनायक भट्ट ने अपने कौषीतकि ब्राह्मण के भाष्य में अनेक स्थानों पर प्रमाण के रूप में किया है।[२९]

शाम्बव्य शाखा

इस शाखा से सम्बन्धित संहिता और ब्राह्मण के विषय में अभी तक कोई ज्ञान नहीं है। इसका कल्पसूत्र अवश्य था, जिसका उल्लेख जैमिनीय श्रौतभाष्य में मिलता है।[३०] शाम्बव्यकृत कल्प चौबीस पटलों का था।

५.माण्डूकेय शाखाएँ

आर्च शाखाओं के अन्तर्गत पाँचवाँ विभाग माण्डूकेय का आता है। वर्तमानकाल में इस शाखा की कोई भी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक उपलब्ध नहीं है। भागवत पुराण में माण्डूकेय ऋषि शाखाकार के रूप में बताए गए हैं।[३१]

---

२६. वै. वा. इति. पृ. १७६
२७. वही, - पृ. १७७
२८. वै. वाङ् इति., पृ. १८० - भगवद्दत्त
२९. वही, - पृ. १८०
३०. क वही, - पृ. १८०
३१. अध्याप्य संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम्। भा.पु. १२.६.५६

ऋग्वेदीय शाखाओं का पुराणोक्त विभाग

पुराणों में ऋग्वेद की दो शाखाओं के विभाग पाए जाते हैं-(क)शाकपूणि विभाग, (ख)बाष्कलि विभाग। ब्रह्माण्ड पुराण में शाकपूणि का विवरण प्राप्त होता है। शाकपूणि ने माण्डूक्य से जो शिक्षा प्राप्त की, उसकी तीन शाखाएँ प्रचलित थीं।[३२] पं० भगवद्दत्त ने उन चार शिष्यों का उल्लेख किया, जिनके नाम पर शाकपूणि विभाग के उपविभाग बन गए।[३३] १.पैङ्ग्य शाखा एवं महापैङ्ग्य शाखा। २.उद्दालक या औद्दालकि शाखा। ३.शैलालक शाखा ४.शतबलाक्ष शाखा

बाष्कलि विभाग

बाष्कल शाखा के अन्तर्गत यह उल्लेख मिलता है कि बाष्कलि शाखाकार ऋषि नहीं था।[३४] बाष्कल के पुत्र भरद्वाज के तीन शिष्य थे - आपनीय, पन्नागिरि और आर्यव। बाष्कलि विभाग के तीन उपविभाग है।[३५] (क)आपनीय शाखा, (ख)पन्नागिरि शाखा, (ग)आर्यव शाखा।

ऋग्वेद की अनिश्चित शाखाएँ

इन शाखाओं के अन्तर्गत वे शाखाएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध उपर्युक्त चरणों से निश्चित नहीं हो पाया।[३६] १.ऐतरेय शाखा, २.महा ऐतरेय शाखा, ३. शांखायन, ५. वसिष्ठ शाखा. ६. सुलभ शाखा, ७.शौनक शाखा।

---

३२. प्रोवाच संहितास्तिस्रः.... द्विजोत्तमाः ।। ब्र.पु.पू.भा. २.३५.३४

३३. वै. वा. इ., प्र० भाग - अ. १२, पृ. २२६-२२९

३४. वही, प्र० भाग - अ. १२, पृ. २३०

३५. वही, पृ. २३१

३६. वै. सा. वि., डा० वेदप्रकाश उपाध्याय, पृ. २६६

अमृतनादोपनिषद् और योग

डॉ० मंजुल गुप्ता

अमृतनादोपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है और इसमें योग का प्रतिपादन किया गया है तथा पतञ्जलि के योगसूत्र का भी प्रतिपाद्य योग ही है, किन्तु दोनों में अन्तर और साम्य दृष्टिगत होता है। अमृतनादोपनिषद् कलेवर में लघु है, अतः इसमें योग को अधिक विस्तार से नहीं लिया गया है, जबकि योगसूत्र में योग का प्रतिपादन अत्यन्त विस्तार से व्यापक रूप में चार पादों में किया गया है। अमृतनादोपनिषद् में योग के विवेचन को देखकर ऐसी सम्भावना की जा सकती है, यह सम्भवतया योगसूत्र से पूर्व की रचना है।

अमृतनादोपनिषद् में योग के प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि ये ६ अङ्ग बताये गये हैं[१] जबकि पातञ्जल योगसूत्र में योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग बताये गये हैं।[२] योग के इन अङ्गों में अमृतनादोपनिषद् में प्राणायाम को मुख्य रूप से लिया गया है और उसके साथ ही अन्य अङ्गों का संक्षेप में वर्णन है, अतः अमृतनाद का मुख्य वर्ण्य प्राणायाम है, जबकि योगसूत्र का समाधि मुख्य लक्ष्य है,क्योंकि निर्बीज समाधि ही योग है।

अमृतनाद में सर्वप्रथम 'ओंकार' (प्रणव) को लिया गया है और कहा गया है कि ओंकार रूपी रथ पर चढ़कर साधक विष्णु को सारथि बनाकर परम पद को पहुँच जाता है तथा प्रणव की अकारादि मात्राएँ और उन मात्राओं में स्थित लिङ्ग पद, तथा उन सभी के आश्रयभूत संसार का चिन्तन करते हुए, उनका त्याग कर स्वरहीन 'मकार' वाची ईश्वर का ध्यान करने से साधक उस सूक्ष्म पद को प्राप्त कर लेता है, जो शब्द और व्यञ्जन (अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यञ्जन) से रहित है।[३] योगसूत्र के अनुसार ईश्वर का वाचक प्रणव है अर्थात् ईश्वर वाच्य है और प्रणव उसका वाचक है। प्रणव का जप और उसके अभिधेय ईश्वर का बार-बार भावन करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये।[४] यहाँ अमृतनादोपनिषद् और योगसूत्र दोनों में साम्य दृष्टिगत होता है, क्योंकि योगसूत्र के अनुसार भी **'ईश्वरप्रणिधानाद् वा'**[५] ईश्वर प्रणिधान से समाधि (योग) सिद्ध होती है। इसके पश्चात अमृतनादोपनिषद् में प्रत्याहार को लिया गया है।

---

१. अमृनादोपनिषद्, मन्त्र ६, प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणोयामोऽथ धारणा। तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।
२. पातञ्जल योगसूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र २९, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि
३. अमृ.ना. २,४ ओंकाररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाथ सारथिम्। ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः।।२
४. पा.यो.सू. २७,२८ 'तस्य वाचकः प्रणवः।' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'।
५. यो०सू० १.२३

अमृतनादोपनिषद् के अनुसार शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पाँच विषयों तथा इनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियों (श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और त्वक्) तथा अत्यन्त चंचल मन इन सबको आत्मा की रश्मि समझे, यही प्रत्याहार कहा जाता है[६] अर्थात् जैसे सूर्य की रश्मियाँ सूर्य से प्रकाशित होती हैं, सूर्य उन्हें समेट लेता है, ऐसे ही ये शब्द स्पर्शादि आत्मा की रश्मियाँ हैं, आत्मा के प्रकाश से ही मन की सत्ता है और उसी प्रकाशस्वरूप आत्मा की बाह्य सत्ता से शब्दादि विषयों की भी सत्ता है, यही चिन्तन प्रत्याहार है। योगसूत्र में प्रत्याहार योग के छठे अङ्ग के रूप में और उसके अनुसार '**स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।**'[७] इन्द्रियों का अपने विषयों से सन्निकर्ष न होने पर चित्त के स्वरूप के समान हो जाना प्रत्याहार है। यहाँ दोनों में स्पष्ट अन्तर है, किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर साम्य भी प्रकट होता है कि इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप के समान हो जाना तथा इन्द्रियों के विषयों को आत्मा की रश्मि के रूप में समझना लगभग एक सा ही प्रतीत होता है।

अमृतनादोपनिषद् में प्रत्याहार के पश्चात् प्राणायाम को लिया गया है और कहा गया है कि जैसे पर्वत में उत्पन्न धातुओं का मैल अग्नि में तापने से भस्म हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न दोष प्राणों को धारण करने अर्थात् प्राणों को रोकने, प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा भस्म कर दिये जाते हैं।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।

तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात्॥[८]

प्राणायाम के प्रकार बताते हुए कहा गया है कि रुचिर (अर्थात् अपने इष्ट के सुन्दर रूप का ध्यान करते हुए वायु को अन्तःकरण में स्थिर करना- कुम्भक), रेचक (श्वास को निःसृत करना) और वायु को खींचना (पूरक) इस प्रकार रेचक, पूरक, कुम्भक तीन प्रकार के प्राणायाम कहे गये हैं।[९] प्राणायाम की परिभाषा करते हुए कहा गया है-

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।

त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते।[१०]

व्याहृतियों एवं प्रणवसहित गायत्री मन्त्र का उसके शीर्ष भाग सहित तीन बार विशाल या नियमित प्राण वाला (आयत प्राणः) होते हुए पाठ करे, पूरक, कुम्भक तथा रेचक करे, यह प्राणायाम कहलाता है। पुनः रेचक

---

६. अमृ.ना.५ शब्दादिविषयान् पञ्च मनश्चैवातिचंचलम्। चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते।

७. यो.सू द्वि.पा. ५४

८. अमृतनादोपनिषद् ६

९. अमृ.ना. १० रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा। प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकपूरककुम्भकाः॥

१०. अमृतनादोपनिषद् ११

का लक्षण करते हुए कहा है कि प्राणवायु को आकाश में निकालकर हृदय को वायु से रहित तथा चिन्तन से रिक्त करके, शून्य करके, शून्यभाव में मन को नियोजित करे यही रेचक का लक्षण है,

उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम्।। [११]

पूरक का लक्षण किया है कि जैसे मुख से कमल की नाल द्वारा शनैः जल को ग्रहण किया जाता है, इसी प्रकार वायु को धीरे–धीरे अन्दर खींचना चाहिये यह पूरक का लक्षण है,

एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्। [१२]

कुम्भक को परिभाषित करते हुए कहा है कि न उच्छ्वास ले अर्थात् वायु को अन्दर खींचे न निःश्वास ले, वायु को बाहर निकाले न शरीर को हिलाये डुलाये, इस प्रकार नियोजित करना, प्राणवायु को रोकना कुम्भक का लक्षण है–

नोच्छ्वसेन्न च निःश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं भावं नियुञ्जीयात्कुम्भकस्येति लक्षणम्।। [१३]

प्राणायाम के प्रसङ्ग में ही प्रशान्त का लक्षण करते हुए कहा गया है कि अन्धे के समान रूप को देखे, जैसे अन्धे को कुछ दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार साधक नाम–रूपात्मक कुछ भी न देखे, बधिर की भाँति सुने, जैसे बहरे को कुछ सुनाई नहीं देता, इसी प्रकार साधक शब्द का श्रवण करे और लकड़ी के समान देह को देखे, जैसे लकड़ी निर्जीव है, इसी प्रकार शरीर को समझे, यही प्रशान्त का लक्षण है।[१४] पुनः कहा गया है कि सब दोषों से रति, रम्य भूमि पर दर्भासन पर मनोमयी रक्षा करता हुआ रथमण्डल (ऊँकार) का जाप करे। एक नासिकापुट (दायें छिद्र) को अङ्गुली से बन्द करके दूसरे खुले छिद्र से (बायें) वायु को खींचे, फिर अग्नि (प्राणवायु) को धारण करे और शब्द (तेजः स्वरूप ओंकार) का ही चिन्तन करे। 'ओम' एकाक्षर ब्रह्म है इसका रेचन न करे, इस प्रकार ओंकार रूपी दिव्य मन्त्र से मलों की मुक्ति के लिये (प्राणायाम की क्रिया द्वारा) बहुधा प्रयत्न करे। जिस मार्ग से साधक जाता है अर्थात् योगी मन से जिस स्थान को प्रवेश योग्य मानता है, उसी से प्राण भी जाता है, अतः प्राण श्रेष्ठ मार्ग से गमन करे, इसके लिये साधक को नित्य नियमित अभ्यास करना चाहिये। हृद्द्वार वायु का द्वार है, इससे अपर मूर्धद्वार या ब्रह्मरन्ध्र है, जो मोक्ष का द्वार है, इसे ही सुषिर मण्डल या सूर्य मण्डल के रूप में जानते हैं। प्राण का परिमाण और प्राण तथा बाह्य प्राण में अन्तर करते हुए

---

११. अमृ.ना.१२
१२. वही, १३
१३. वही, १४।
१४. वही, १५

कहा गया है कि साढ़े तीस अङ्गुल लम्बा प्राण, प्राणों (श्वासों) के साथ जिसमें प्रतिष्ठित है, वही प्राण है, बाह्य प्राण इन्द्रियों से देखा जा सकता है। इस बाह्य प्राण में एक लाख तेरह हजार एक सौ अस्सी निश्वासों (श्वास-प्रश्वास) का आवागमन दिन और रात्रि के प्रमाण से होता है। प्रथम या आदि प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि देश में और उदान कण्ठ में आश्रित है, व्यान सब अङ्गों में सदा व्याप्त होकर रहता है। इन पाँच प्राणवायुओं के रंग का भी वर्णन किया गया है- प्राणवायु मणि के समान लाल रंग का, उसके मध्य में अपान इन्द्रगोप (वीर बहूटी) के समान गहरे लाल रंग का, दोनों के मध्य समान गो दुग्ध के समान धवल कान्ति वाला, उदान थोड़ा पाण्डुर अर्थात् धूसर और व्यान अग्नि शिखा के समान कान्ति वाला है। जिस योगी का प्राण इस मण्डल (पञ्च तत्त्वात्मक शरीर-क्षेत्र, वायु स्थान एवं हृदय प्रदेश) का वेधन कर मस्तिष्क में प्रवेश कर जाता है, वह कहीं भी मरे, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। दूसरे शब्दों में ब्रह्मरन्ध्र से प्राणवायु का निकलना सर्वोत्तम है।[१५]

योगसूत्र में प्राणसूत्र को यम, नियम और आसन के बाद लिया गया है। योगसूत्र के अनुसार, **तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**[१६] आसन सिद्ध होने पर श्वास (बाह्य वायु को अन्दर लेना), प्रश्वास (अन्दर की वायु को बाहर निकालना) की स्वाभाविक गति का विच्छेद अर्थात् दोनों को रोक देना प्राणायाम है। यहाँ योगसूत्र और अमृतनादोपनिषद् की प्राणायाम की परिभाषा में स्पष्ट अन्तर है। योगसूत्र में रेचक, पूरक और कुम्भक का पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं दिया गया है, किन्तु प्राणायाम के तीन प्रकार बताते हुए कहा गया है-'**बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।**'[१७] वही प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है और वह बाह्य तथा आभ्यन्तर, देश-क्षणों की इयत्ता रूप काल एवं श्वास-प्रश्वास की गिनती रूप संख्या इन तीनों के अभ्यास द्वारा परीक्षित तथा परिवर्द्धित होता हुआ दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है। इस पर भाष्यकार का कथन है- '**यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभाव इति।**'[१८] बाह्य रेचक, आभ्यन्तर-पूरक और तृतीय कुम्भक के रूप में लिया जा सकता है, किन्तु रेचक और पूरक में गति का अभाव नहीं होता। योगसूत्र में एक चतुर्थ प्रकार भी बताया है- '**बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः**'[१९] बाह्य (रेचक), आभ्यन्तर (पूरक) के विषय का आक्षेप करने वाला एक चतुर्थ प्रकार है। तृतीय और चतुर्थ में अन्तर करते हुए भाष्य में कहा गया है-'**तृतीयस्तु**

---

१५. अमृ.ना. १८, २०, २१, २६, २७, २७, ३३-३९

१६. योगसूत्र द्वितीय पाद, ४९

१७. वही, द्वितीय ५०

१८. व्यासभाष्य, पृ० ३०२

१९. यो.सू. ५१

विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण। भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः।[२०] तृतीय देश काल, संख्या द्वारा अनिश्चित, स्तम्भवृत्ति एक ही बार के अभ्यास से निष्पन्न एवं देश, काल, संख्या के द्वारा नियमित होता हुआ दीर्घसूक्ष्म होता है, जबकि चतुर्थ प्राणायाम (केवल कुम्भक) पूरक, रेचक के देश, काल, संख्या के निश्चय करने के पश्चात् अनुक्रम से सकल भूमियों को जीतने से, पूरक, रेचक दोनों का उल्लंघन करता हुआ स्तम्भवृत्तिरूप है, यही विशेष है। अमृतनादोपनिषद् के कुम्भक में तृतीय और चतुर्थ दोनों ही कुम्भक आ गये हैं। योगसूत्र में प्राणायाम का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है-'**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्, धारणासु च योग्यता मनसः।**'[२१] प्राणायाम से प्रकाशस्वरूप विवेकज्ञान का आवरण करने वाला अविद्यादि क्लेशजन्य पाप नष्ट हो जाता है और मन की धारणाओं में योग्यता प्राप्त होती है। प्राणायाम मन को स्थिर करके धारणाविषयक सामर्थ्य वाला कर देता है। भाष्यकार का कथन है-'**तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवित प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम् - तपो न परं प्रणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।**'[२२] योगी का ज्ञान का आवरण रूप संसार में बांधने वाला कर्म प्राणायाम के अभ्यास से प्रतिक्षण दुर्बल हो जाता है, जिसे एक उद्धरण से पुष्ट किया है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, क्योंकि उससे मलों की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है।

अमृतनादोपनिषद् में धारणा के विषय में कहा गया है-'**मनःसंकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिया।**'[२३]

बुद्धिमान् मन को संकल्प करने वाला जानकर उसे आत्मा में संक्षिप्त (लय) करके तथा आत्मा रूपी सद्बुद्धि को धारण करके (परमात्मा सत्ता में) स्थिर कर दे, यही धारणा कही गयी है। आगे बताया गया है कि पृथ्वीतत्त्व की धारणा के समय ओंकार रूप प्रणव की पाँच मात्रा, वरुण (जल) की धारणा के समय चार मात्रा, अग्नि की धारणा के समय तीन मात्रा, वायु की धारणा के समय दो मात्रा, आकाश की धारणा के समय एक मात्रा, ओंकार रूप प्रणव की धारणा के समय अर्धमात्रा का चिन्तन करें। अपने में ही मानसिक धारणा से पञ्चभूतों (पृथ्वी आदि तत्त्व) की सिद्धि प्राप्त करे और उनका ध्यान करे।[२४] इस तरह धारणा से पञ्च भूतों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

---

२०. व्यासभाष्य पृ० ३०६

२१. यो.सू० द्वितीय, ५२; ५३

२२. व्यासभाष्य पृ. ३०७, ३०८

२३. अमृतनादोपनिषद् १६

२४. अमृ.ना. ३२- पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः। आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः।३१ एकमात्रस्तथाकाशे ह्यर्थमात्रं तु चिन्तयेत्। संधिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि।।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर आते-आते प्रणव की मात्राओं में भी कमी आती गई है। योगसूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि योग के अन्तरङ्ग साधन बताये गये हैं, जबकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बाह्य साधन हैं। **'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'**।[२५] धारणा के लिये कहा गया है, **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'**।[२६] इस पर भाष्यकार का कथन है कि नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मस्तिष्क में स्थित ज्योति नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि आन्तर देश रूप विषय में अथवा हिरण्यगर्भ तथा सूर्य आदि बाह्य देश विषय में चित्त का केवल वृत्तिमात्र से बन्ध या चित्त को लगाये रखना धारणा है।[२७] योगसूत्र में धारणा को अत्यन्त संक्षेप से लिया गया है।

अमृतनादोपनिषद् में ध्यान को पृथक् न लेते हुए कहा गया है कि एक अङ्गुली से एक नासिका छिद्र (दायें०को बन्द करके दूसरे (बायें) से वायु खींचे और शब्द (ओंकार) का ही चिन्तन करे तथा आगे कहा है कि 'ओम्' यह एक अक्षर ही ब्रह्म है, 'ओम्' इसका रेचन न करे और मलों की मुक्ति के लिये दिव्य मन्त्र से बहुधा जप करे, इस प्रकार मन्त्रविद् विद्वान् पूर्वोक्त क्रम से (अकार, उकार, मकार) बाद में ध्यान करे। इस तरह नाभि के ऊर्ध्व (हृदय) भाग में ध्यान करते हुए स्थूलातिस्थूल, सूक्ष्म मात्रा में सम्पन्न करे। पुनः महामति तिरछे, ऊपर, नीचे दृष्टि हटाकर, स्थिरतापूर्वक, विना किसी कम्पन के, स्थिर, विनिष्कम्प योग का अभ्यास करे। यह स्थिर होना तालमात्रा वाला है, कुछ ही काल में फल देने वाला है, धारण योजना के अनुसार ही किया जाना चाहिए, द्वादश मात्रा वाला योग यह काल के अनुसार ही नियम से पूर्ण करना चाहिए। यह प्रणव अघोष, अव्यञ्जन, अस्वर, अतालु, अकण्ठ, अनोष्ठ और अननुनासिक है अर्थात् इसका उच्चारण इन बाह्य प्रयत्नों - तालु, कण्ठ, ओष्ठ, नासिकादि से नहीं होता। यह रेफ रहित और ऊष्म रहित है, इसका उच्चारण दाँतों से भी नहीं होता, यह अक्षर है जो कभी नष्ट नहीं होता, मन को सदैव गुंजायमान घोष में लगाना चाहिये।[२८] यो.सू० के अनुसार **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'**[२९] उस यथोक्त हृदयादि देश रूप विषय में ध्येयाकार चित्तवृत्ति की

---

२५. योग.सू. तृ.पा. ७

२६. योगसूत्र तृ. १

२७. यो.सू., भाष्य, पृ० ३१४

२८. अमृ.ना. २०.२५, 'नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम्। आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत्।२० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतन्न रेचयेत्। दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यादात्मविमुक्तये। २१ पश्चाद् ध्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद्बुधः। स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वक्रमः।।२२ तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः। स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत्।।२३ तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा। द्वादशमात्रो योगस्तु कालतो नियमः स्मृतः।।२४ अधोषमव्यंजनस्वरं च अतालुकण्ठोष्ठमनासिकं च यत्। अरेफजातमुभयोष्मवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित्।।

२९. यो.सू. तृ.२

एकाग्रता ध्यान है अर्थात् धारणा काल में जिस ध्येय के आधार रूप देश में पूर्वोक्त धारणा द्वारा चित्तवृत्ति को लगाया गया है, उसी ध्येय के आधार रूप देश में ध्येय रूप अवलम्बन में चित्तवृत्ति की एकतानता-एकाग्रता, विजातीय वृत्ति से रहित, सजातीय वृत्ति का निरन्तर प्रवाह ध्यान कहा जाता है। अन्य विषयक वृत्ति के व्यवधान से रहित केवल ध्येय विषयक वृत्ति की स्थिति ध्यान है।[३०]

अमृतनादोपनिषद् में तर्क की परिभाषा करते हुए कहा गया है-'आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते'।[३१] आगम- वेद शास्त्रों के विपरीत न होते हुए, उनके अनुकूल 'ऊहा' विचार करना तर्क कहा जाता है। योगसूत्र में इसके समकक्ष कोई अङ्ग नहीं है, यद्यपि वहाँ यम - 'तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:।'[३२] अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा पाँच नियम- 'शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:'॥[३३] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान बताये गये हैं जिन्हे 'तर्क' शास्त्रानुकूल विचार करने में लिया जा सकता है। यद्यपि अमृतनादोपनिषद् में यम और नियम नहीं बताये गये हैं, तथापि वहाँ कहा गया है-'**भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्। अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्॥**'[३४] योगी को भय, आलस्य, अत्यन्त सोना, अत्यन्त जागना, अधिक आहार करना या आहार न करना, यह सब नित्य छोड़ देना चाहिए, से सब नियम के अन्तर्गत ही आते हैं।

अमृतनादोपनिषद् में आसन को अङ्ग रूप में न लेते हुए उसकी कोई परिभाषा नहीं दी गई है और केवल इतना ही कहा गया है-'**पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा। बुद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थित:।**'[३५]

योगी सब दोष से रहित, रम्य भूमि पर दर्भासन पर पद्मासन, स्वास्तिक या भद्रासन में से किसी में भी अच्छी प्रकार योगासन बाँधकर उत्तर की ओर अभिमुख हो कर बैठे। योगसूत्र में आसन को एक अङ्ग रूप में लेते हुए उसकी परिभाषा दी गयी है-- '**स्थिरसुखमासनम्**'[३६] स्थिर और सुखपूर्वक बैठना आसन है। भाष्य में कहा गया है-'**तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यंकं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि।**'[३७] जो अमृतनादोपनिषद् के समान ही

---

३०. यो.सू. भाष्य,पृ. ३१४, तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।'
३१. अमृतनादोपनिषद् १७ अ
३२. यो.सू. २.३०
३३. यो.सू. २.३२
३४. अमृतनादोपनिषद् २८
३५. अमृतनादोपनिषद् १९
३६. यो.सू. २.४६
३७. व्यासभाष्य पृ. २९९

है। आसन कैसे सिद्ध होता है, उसके लिये बताया गया है-**'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।'**[३८] शरीर की स्वाभाविक चेष्टाओं को रोकने से आसन सिद्ध होता है, जिससे शरीर चंचल नहीं होता या अनन्त नामक नाग नायक भगवान् शेष में या अनन्त में (अनन्त का अर्थ अनन्त नाग या अनन्त अन्त रहित दोनों ही लिया जा सकता है।) एकातानता को प्राप्त हुआ चित्त आसन का निष्पादन करता है। आसन का प्रयोजन है **'ततो द्वन्द्वाभिधात:'**[३९] की आसन के सिद्ध हो जाने से योगी शीत-उष्णादि विपरीत द्वन्द्वों से विचलित नहीं होता, वह सहनशील, तितिक्षु बन जाता है।

अमृतनादोपनिषद् में समाधि की परिभाषा देते हुये कहा गया है-**'समं मन्येत यल्लब्ध्वा स समाधि: परिकीर्तित:'**।[४०] जिसको (तर्क) प्राप्त करके अन्य सभी पदार्थ समान मान लिये जाते हैं, उनमें अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच में कोई भेदभाव या अन्तर प्रतीत नहीं होता वह स्थिति समाधि है, समाधि का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही निकलता है कि सम्यक् या अच्छी प्रकार से चित्त को समान भाव से लगाना या केन्द्रित करना। (आचार्य श्रीराम शर्मा ने यहाँ सम का अर्थ तुच्छ या निकृष्ट लेते हुए इसका अनुवाद किया है-ऐसे तर्क को प्राप्त कर दूसरे अन्य प्राप्त होने वाले सभी पदार्थों को तुच्छ मान लिया जाता है, इस प्रकार की स्थिति को ही समाधि की अवस्था कहा जाता है। (पृ.३०) योगसूत्र में समाधि साधन भी है और साध्य भी, संप्रज्ञात समाधि साधन है तो असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि साध्य। योगसूत्र में समाधि को परिभाषित करते हुए कहा है **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:।'**[४१] वही पूर्वोक्त ध्यान जब ध्येय स्वरूपमात्र का प्रकाशक एवं अपने ध्यानाकार रूप से रहित के जैसा हो जाता है, तब समाधि कहा जाता है। ध्यान काल में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय रूप त्रिपुटी का भान होता है, किन्तु जब वही ध्यान अभ्यासवश अपनी ध्यानाकरता को त्यागकर केवल ध्येय रूप से स्थित होता हुआ प्रतिभासित होता है तब समाधि कहा जाता है। ये तीनों धारणा, ध्यान तथा समाधि मिलकर संयम कहलाते हैं **'त्रयमेकत्र संयम:'**[४२] इस संयम को जीतने से समाधि प्रज्ञा का आलोक होता है, जैसे-जैसे संयम स्थिर होता है, वैसे-वैसे समाधि प्रज्ञा और स्पष्ट होती है। ये तीनों निर्बीज समाधि के तो बहिरङ्ग ही हैं।[४३]

अमृतनादोपनिषद् में योगी के लिये कहा गया है कि इस विधि से नियमपूर्वक जो भी साधक क्रम से अभ्यास करता है और उत्तरोत्तर प्रगति करता है तो तीन मास में ही स्वयं ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, चार महीनों में देवताओं के दर्शन कर लेता है, पाँच महीनों में देवगणों के समान शक्ति सामर्थ्य

---

३८. यो.सू. २.४७
३९. यो.सू. २.४८
४०. अमृतनादोपनिषद् १७
४१. यो.सू. ३.३
४२. यो.सू. ३.४
४३. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ३.८

से युक्त हो जाता है और छठे महीने में इच्छानुसार कैवल्य प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई संशय नहीं है।[४४] योगसूत्र के अनुसार **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'**[४५] योग चित्तवृत्ति का निरोध है और यह निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है–**'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:'**।[४६] तथा परवैराग्य को परिभाषित करते हुए भाष्यकार का कथन है- **'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति'**।[४७] और **'सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।'**[४८] दोनों प्रकार के योगियों जिसको विवेक ज्ञान प्राप्त हुआ और जिसे विवेक ज्ञान नहीं हुआ है, बुद्धि और पुरुष की शुद्धि के तुल्य हो जाने पर कैवल्य या मोक्ष हो जाता है। आगे कहा गया है, **'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'**[४९] पुरुष के भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ को सम्पादन करने से शून्य, कार्यकारणादि सत्त्वादि गुणों का अपने–अपने कारणों में लय होना प्रधान का मोक्ष कहा जाता है और फिर से बुद्धिसत्त्व के साथ सम्बन्ध न होने से स्वस्वरूप में स्थित्यात्मक स्वरूपप्रतिष्ठ चितिशक्तिरूप पुरुष ही केवल रह जाना तथा उस चितिशक्तिरुप पुरुष का सर्वदा उसी प्रकार से अवस्थित रहना पुरुष का कैवल्य कहा जाता है।[५०]

इस प्रकार अमृतनादोपनिषद् तथा योगसूत्र की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अमृतनादोपनिषद् में जिस क्रम से अङ्गों का निर्देश किया गया है, उसी क्रम से उनका विवेचन नहीं किया गया है, साथ ही ध्यान की परिभाषा नहीं दी गयी है और अन्य अङ्गों को प्राणायाम के अङ्ग रूप में ही लिया गया है, जबकि पतञ्जलि के योगसूत्र मे जिस क्रम से अङ्गों को लिया गया है, उसी क्रम से विवेचन किया गया है। योगसूत्र में योग और उसके अङ्गों का अधिक वैज्ञानिक, व्यवस्थित तथा व्यापक प्रतिपादन है।

---

४४. अमृ.ना. २९,३०, अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात्। स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशय:।। चतुर्भि: पश्यते देवान्पंचभिर्विततः क्रम:। इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशय:।।३०

४५. यो.सू. १.२

४६. वही, १२

४७. व्यासभाष्य सू.१.१६, पृ. ५७

४८. यो.सू० ३.५५

४९. यो.सू.४.३४

५०. यो.सू.भाष्य, चतुर्थ पाद, सूत्र, ३४, पृ. ५४९-५५०

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०९५-९८)

छन्दों का नामकरण

डॉ० विनोद कुमार गुप्त

छन्दों के प्रस्तारगत विकसित विविध रूपों की संख्या असीमित है। इनमें से सभी रूपों का न तो कभी प्रयोग हो सकता था और न ही लक्षण निरूपण। इनमें थोड़े से छन्द, जिनकी ओर महाकवियों का मन आकर्षित हुआ, वे ही काव्य प्रयोग में प्रचलित हुए तथा इन प्रयुक्त छन्दों मे से जो छन्द आचार्यों को अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए, उनको उन्होंने अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ में लक्षण निरूपण का विषय बनाया।

नामों का वैशिष्ट्य-आचार्य पिङ्गल, भरत, जयदेव, भट्टकेदार, हेमचन्द्र, गङ्गादास प्रभृति छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने वर्णवृत्तों के जिन नामों का कथन किया है, उनको नाम वैशिष्ट्य के आधार पर तीन समूहों में विभाजित कर सकते हैं-

१.प्रथम समूह में उन छन्दों को रखा जा सकता है, जो स्त्रियोचित विशेषताओं के व्यञ्जक एवं कामिनी के अङ्गों के उपमान के रूप में भी व्याख्येय हैं, यथा - तनुमध्या, शशिवदना, मनोरमा, शालिनी, मंजुभाषिणी, सुन्दरी, प्रियम्वदा आदि। छन्दों के नामों में स्त्रीप्रक नामों की अधिकता है। इस समूह में छन्दों के उन नामों का भी अन्तर्भाव हो जाता है, जिनके बोधक शब्द प्राकृतिक दृश्य व्यापारों से सम्बद्ध तथा शृङ्गारिक वातावरण के व्यञ्जक या उनके पोषक हैं, यथा- मत्ताक्रीडा, अनङ्गक्रीडा, कुसुमितलतावेल्लिता आदि। इन नामों के विषय में डॉ० शिवनन्दन प्रसाद का अभिमत है कि इस प्रकार के छन्दों के नामकरण शायद उन शृङ्गारिक कवियों की देन हैं, जो अनुमानतः पिङ्गलाचार्य के युग में तथा कुछ पूर्व से नव-नव छन्दों के विविध प्रयोग कर रहे थे। किसी विशेष छन्द के नाम का सूचक हो सकता है, उसी छन्द में रचित काव्यानुच्छेद या पद्य में प्रेम या शृङ्गारवर्णन के प्रसङ्ग में प्रमुख रूप से आया हो और बाद में लक्षणकार द्वारा उसे छन्द विशेष के नाम के रूप में स्वीकार कर लिया गया हो।[१]

२. छन्दों के नामकरण के दूसरे समूह में वे छन्द परिगणित किये जा सकते हैं, जिनका सम्बन्ध शृङ्गारेतर प्रकृति व्यापार एवं पशु-पक्षियों से हैं, यथा मत्तमयूर, जलोद्धतगति, भुजङ्गप्रयात, शार्दूलविक्रीडित, वंशपत्रपतित आदि। इस समूह में जिन-जिन छन्दों का परिगणन किया जाता है, वे जहाँ एक ओर प्राकृतिक दृश्य-व्यापारों के सूचक हैं, वहीं दूसरी ओर उन छन्दों की विशेष गतिभङ्गिमा या लक्ष्य वैशिष्ट्य के व्यञ्जक थी।

---

१. मात्रिक छन्दों का विकास, पृ. १३८, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।

इसके अन्तर्गत छन्दों के नामकरण में छन्दों की गति लय से तुलनीय प्राकृतिक उपकरणों तथा पशुपक्षियों आदि के नाम के आधार पर छन्दों के नाम से ही उनके गति लय की यथासम्भव अभिव्यञ्जना होती है।

३.तीसरा समूह उन शब्दों के नामों का है, जिनका सम्बन्ध न तो शृङ्गारिक कामिनी के अङ्गविच्छित्ति से है और न ही शृङ्गारेतर प्राकृतिक दृश्य-व्यापार आदि से, अपितु छन्दोगत साङ्गीतिकता, गति- लय तथा रचना वैशिष्ट्य की व्यञ्जकता से है, यथा- द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, पदचतुरूर्ध्व आदि।

छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में ऐसे छन्द बहुत कम हैं, जिनके नाम का अन्तर्भाव उपर्युक्त तीनों समूहों में न हो सके, यथा-असम्बाधा आदि।

नामों की सार्थकता - छन्दोविधान के प्रायोगिक स्वरूप की चर्चा करते समय जो सबसे पहले प्रश्न उपस्थित होता है, वह है- संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त छन्दों के नामों की सार्थकता कहाँ तक सिद्ध होती है ? प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्योंकि संसार में जितने भी मूर्त-अमूर्त, जड़-चेतन आदि पदार्थ हैं, उनके नाम में प्रायः उनके स्वरूप, व्यक्तित्व आदि की ओर संकेत हुआ करता है। यद्यपि छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने नामकरण में कोई आयास नहीं किया, किन्तु महाकवियों के प्रयोग-विषय, नामों की व्युत्पत्ति एवं उच्चारण- ध्वनि के आधार पर छन्दों के नामों की अर्थवत्ता सिद्ध की जा सकती है। एतदर्थ हम सबसे पहले अनुष्टुप् छन्द को लेते हैं-

अनुष्टुप्- का अर्थ है - **सरस्वती या विद्यारूपिणी शक्तिः**[२] अर्थात् वह ज्ञान जिसके उदय होने पर भव बन्धन छूट जाता है। इसके अतिरिक्त अनुष्टुप को श्लोक भी कहते हैं, जिसका अर्थ है **'शोकं लुनन्ति दूरीकुर्वन्तीति श्लोकाः'** अर्थात् जो शोक को दूर करते हैं, वे श्लोक हैं। संस्कृत के महाकवि अपनी रचना या कविकर्म को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं। यही कारण है कि अनेक ग्रन्थ चाहे वे पुराण हों या रामायण, चाहे महाभारत हो या अन्य कोई पद्यग्रन्थ, सर्वत्र 'अनुष्टुप्' छन्द की बहुलता है। उपदेशवाक्य भी अप्रत्यक्ष रूप से मोक्षप्राप्ति का माध्यम बन सकते हैं। इसीलिए तो क्षेमेन्द्र अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ 'सुवृत्ततिलक' में अनुष्टुप् छन्द के प्रयोग विषय की चर्चा करते हुए कहते हैं कि सर्गबन्ध के आदि में, कथा प्रारम्भ करने के प्रसङ्ग में तथा वैराग्यजनक उपदेश के लिये प्रयुक्त विभिन्न छन्दों के अन्त में अनुष्टुप् छन्द के ही प्रयोग की अनुमति विद्वान् लोग देते हैं-

आरम्भे सर्गवन्धस्य कथाविस्तारसङ्ग्रहे।
समोपदेशवृतान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम्।।[३]

संस्कृत काव्यग्रन्थों में अनुष्टुप् छन्द का सर्वाधिक प्रयोग देखा जाता है। महाकवि कालिदास ने तो रघुवंश का प्रारम्भ ही अनुष्टुप् छन्द से किया है। महाकवि भवभूति ने अपनी नाट्यकृति उत्तररामचरितम् में

---

२. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. ४३, वामन शिवराम आप्टे।
३. सुवृन्ततिलक ३.१६

मंगलाचरण अनुष्टुप् छन्द में किया है। यदि अनुष्टुप् की व्युत्पत्ति अनु उपसर्ग पूर्वक स्तुभ् धातु से मानें तब इसका अर्थ होगा स्तब्ध हो जाना, स्थिर हो जाना अर्थात् अनुष्टुप् का ज्ञान हो जाने पर अन्य विषयों से उपरम हो जाता है। अन्य शब्दों में, जब कवि अनुष्टुप् छन्द में रचना करने लगता है, तब कवि शान्त मन वाला होकर अपने कर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द की सार्थकता सिद्ध होती है।

अनुष्टुप् के बाद संस्कृत काव्यों में जो छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ, वह है इन्द्रवज्रा आदि। इन्द्रवज्रा का शाब्दिक अर्थ है इन्द्र के वज्र के समान कठोर। यहाँ पर यह अर्थ सङ्गत नहीं बैठता। इसे हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि जिस प्रकार वज्र हृदय में गहराई तक पहुँच कर उसके मर्म को बींध देता है, उसी प्रकार इन्द्रवज्रा आदि छन्द महाकवियों के हृदय में प्रवेश कर अपनी मधुरिम लय के द्वारा अन्तस्तल में दृढ़ता के साथ बैठ जाता है अर्थात् जब कवियों का ध्यान इन्द्रव्रजा आदि छन्द की ओर जाता है, तब वह कवियों को अपनी सरल शैली आदि गुणों से आकर्षित करता है। फलस्वरूप कवि बलादाकृष्ट होकर अपने प्रतिपाद्य विषय का अधिकांश भाग इन्हीं छन्दों में प्रस्तुत करने के लिए विवश हो जाता है। इस प्रकार इनकी सार्थकता उपपन्न है।

महाकवियों ने प्रायः शान्त एवं भक्तिभाव को प्रकाशित करने के लिए शिखरिणी को उपयुक्त छन्द माना है। **शिखरिण सन्ति अस्यामिति शिखरिणी** अर्थात् शिखर है जिस पर ऐसी छोटी पहाड़ी के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे कोई व्यक्ति ऊँची चोटियों वाले पर्वत पर चढ़ता जाता है, उसी प्रकार इस छन्द के आश्रय से कवि एवं पाठक दोनों भक्तिभाव की ऊँचाई पा लेता है। दूसरी दृष्टि से भी इसकी अर्थवत्ता उत्पन्न हो सकती है। यदि शिखरिणी का अर्थ उच्च स्थल या पर्वत लें तो यह कहा जा सकता है कि पर्वतीय वातावरण की अपेक्षा शान्त वातावरण कहीं नहीं मिल सकता तथा आराध्य की आराधना के लिए शान्तिमय वातावरण का होना आवश्यक है। अतः प्रयोग विषय के आधार पर शिखरिणी का नाम उपपन्न हो सकता है।

शार्दूलविक्रीडित एक समस्त पद है, जिसका अर्थ है- **शार्दूलात् विक्रीडितम्** अर्थात् सिंह से डरा हुआ अथवा भाव अर्थ में डरना। महाकवियों के प्रयोग विषय के आधार पर हम इसकी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं। जिस प्रकार शार्दूल अर्थात् व्याघ्र वन के भयावने रूप का प्रतीक है, उसी प्रकार छन्दों में यह छन्द भी भयावने रूप (विशेष रूप से प्रकृति के भयावने रूप) का बोध कराता है। संस्कृत काव्यों में प्रायः इसी रूप को अभिव्यञ्जित कराने के लिए प्रकृत छन्द का प्रयोग किया गया है। एक अन्य प्रकार से भी हम इसकी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं। शार्दूल की प्लुति (कूद) बारह हाथ की मानी जाती है। चूँकि इस छन्द में बारह अक्षरों पर यति होती है, अत एव इसका नाम शार्दूल विक्रीडित छन्द पड़ा होगा। प्रायः इस छन्द में दीर्घ समासवत्ता होती है, परन्तु अनेक अपवाद भी उपलब्ध होते हैं और कदाचित् असमस्त पदावली का प्रयोग भी मिलता है।

इस प्रकार उपलक्षणभूत उपर्युक्त कतिपय छन्दों के नामों की सार्थकता सम्बन्धी विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि स्वरूप पाठ की गति तथा व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की दृष्टि से अर्थवत्ता सिद्ध की

जा सकती है।[४] अधिकांश छन्दों के नाम किस आधार पर रखे गये हैं, यह स्पष्ट नहीं होता। जहाँ तक छन्दों के नामकरण का प्रश्न है, छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने सुन्दरता को ही ध्यान में रखकर नामकरण किया होगा। यह संयोग की ही बात कही जा सकती है कि नाम एवं उसकी अर्थवत्ता दोनों एक साथ छन्द में घटित हो गये हों। छन्दों के नामों को देखें, तो उनमें दो प्रकार के नामों की बहुलता परिलक्षित होती है- पहला स्त्रीपरक नाम तथा दूसरा प्राकृतिक वस्तुपरक नाम। इन दोनों के नामों में सौन्दर्य एवं लालित्य ही दिखाई देता है। ऐसे छन्द बहुत कम हैं, जिनके नामों में कठोरता की गूँज सुनायी पड़ती हो। अतः हम यह कह सकते हैं कि आचार्यों ने जब भी छन्द का नामकरण किया होग, वे सौन्दर्य एवं लालित्य को ही ध्यान में रखकर किये होंगे, न कि उसकी अर्थवर्त्ता को।

४. लेखक का शोध प्रबन्ध संस्कृत छन्दोविधान का सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विश्लेषण।

वेदों में ज्योतिष

डॉ० भगवानदास शास्त्री

वेद के छः अङ्ग है। व्याकरण मुख, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कान, कल्प-हाथ, शिक्षा-नासिका और छन्द-पैर। वेद पुरुष का नेत्ररूप होने के कारण ज्योतिष शास्त्र सब अङ्गों में उत्तम गिना जाता है, क्योंकि अन्य सब अंगों से समन्वित होते हुए भी प्राणी नेत्ररहित होने पर कुछ नहीं कर सकता।

ज्योतिष क्या है? यह ज्योति का शास्त्र है। ज्योति आकाशीय पिण्डों-नक्षत्र, ग्रह आदि से आती है, परन्तु ज्योतिष में हम सब पिण्डों का अध्ययन नहीं करते। यह अध्ययन केवल सौरमण्डल तक ही सीमित रखते हैं। ज्योतिष का मूलभूत सिद्धान्त है कि आकाशीय पिण्डों का प्रभाव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर पड़ता है। इस प्रकार मानव संसार पर भी इन नक्षत्रों एवं ग्रहों आदि का प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में आकाशीय पिण्डों एवं मानव संसार में पारस्परिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को अथर्ववेद के तीन मन्त्र स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं-

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्।। [१]

अर्थात्- द्युलोक - सौरमण्डल में चमकते हुए विशिष्ट गुणवाले अनेक नक्षत्र हैं, जो साथ मिलकर अत्यन्त तीव्र गति से टेढ़े-मेढ़े चलते हैं। सुमति की इच्छा करता हुआ मैं प्रतिदिन उनको पूजता हूँ, जिससे मुझे सुख की प्रासि हो। इस प्रकार इस मन्त्र में नक्षत्रों को सुख तथा सुमति देने में समर्थ माना गया है। यह सुमति मनुष्यों को नक्षत्रों की पूजा से प्राप्त होती है। यह मनुष्यों पर नक्षत्रों का प्रभाव हुआ, जिसे ज्योतिष शास्त्र ही मानता है। दूसरा मन्त्र है-

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु।। [२]

अर्थात्- जिन नक्षत्रों को चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है; वे सब नक्षत्र मेरे लिए आकाश में अन्तरिक्ष में, जल में, पृथ्वी पर, पर्वतों पर और सब दिशाओं में सुखदायी हों।

अब प्रश्न उठता है कि चन्द्रमा किन नक्षत्रों को समर्थ करता हुआ चलता है। वेदों में इन नक्षत्रों की संख्या २८ बताई गयी है। इनके नाम अथर्ववेद के १९ वें काण्ड के ७वें सूक्त में मन्त्र सं० २ से ५ तक ४ मन्त्रों

---

१. अथर्व० १९.७.१
२. अथर्व० १९.८.१

में दिये गये हैं। अश्विनी, भरणी आदि २८ नाम वही है, जो ज्योतिष ग्रन्थों में है। इस प्रकार नक्षत्रों के नाम तथा क्रम में पूरी समानता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि ज्योतिष का मूल वेदों में है।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।

योगं प्र पद्ये क्षेम च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु।[३]

अर्थात्- अट्ठाइस नक्षत्र मुझे वह सब प्रदान करें जो कल्याणकारी और सुखदायक हैं। मुझे प्राप्ति सामर्थ्य और रक्षा सामर्थ्य प्रदान करें। दूसरे शब्दों में पाने के सामर्थ्य के साथ-साथ रक्षा के सामर्थ्य को पाँऊ और रक्षा के सामर्थ्य के साथ ही पाने के सामर्थ्य को भी मैं पाऊँ। दोनों अहोरात्र (दिवा और रात्रि) को नमस्कार हो।

इस मन्त्र में योग और क्षेम की प्राप्ति के लिये प्रार्थना है। साधारणतया जो वस्तु मिली नहीं है, उसको जुटाने का नाम 'योग' है। जो वस्तु मिल गयी है, उसकी रक्षा करना ही क्षेम है। नक्षत्रों से इनको देने की प्रार्थना से स्पष्ट है कि नक्षत्र प्रसन्न होकर यह दे सकते हैं। इस प्रकार इस मन्त्र का ज्योतिष से सम्बन्ध है। इस मन्त्र में जो अहोरात्र पद आया है, उसका ज्योतिष के होराशास्त्र में अत्यन्त महत्त्व है। यथा-

अहोरात्राद्यंतलोपाद्धोरेति प्रोच्यते बुधैः।

तस्य हि ज्ञानमात्रेण जातकर्मफलं वदेत्।।[४]

अर्थात् अहोरात्र पद के आदिम (अ) और अन्तिम (त्र) वर्ण के लोप से होरा शब्द बनता है। इस होरा (लग्न) के ज्ञानमात्र से जातक का शुभाशुभ कर्मफल कहना चाहिए। आकाशीय पिण्डों में नक्षत्र और ग्रह दोनों आते हैं। ज्योतिष ने इन दोनों में कुछ अन्तर किया है, जो निम्न श्लोकों से स्पष्ट है -

तेजः पुंजा नु वीक्ष्यन्ते गगने रजनीषु ये।

नक्षत्रसंज्ञकास्ते तु न क्षरन्तीति निश्चलाः।।

विपुलाकारवन्तोऽन्ये गतिमन्तो ग्रहाः किल।

स्वगत्या यानि गृह्णन्ति यतोऽतस्ते ग्रहाभिधाः।।[५]

अर्थात्- रात्रि के समय आकाश में जो तेजपुंज दीखते हैं। वे ही निश्चल तारागण नहीं चलने के कारण नक्षत्र कहे जाते हैं। कुछ अन्य विपुल आकार वाले गतिशील वे तेजपुंज अपनी गति के द्वारा निश्चल नक्षत्रों को पकड़ लेते हैं, अतः वे ग्रह कहलाते हैं।

---

३. अथर्व० १९.८.२

४. बृ.पा.हो.शा.पू. ३.२

५. बृ.पा.हो.शा.अ० ३.४-५

ऊपर तीन मन्त्रों में नक्षत्रों से सुख सुमति, योग, क्षेम देने की प्रार्थना की गयी। अब ग्रहों से दो मन्त्रों में इसी प्रकार प्रार्थना का वर्णन हैं। दोनों मन्त्र अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के नवम सूक्त में हैं। इस सूक्त के सातवें मन्त्र का अन्तिम चरण 'शं नो दिविचरा ग्रहा:'[6] है, जिसका अर्थ है, आकाश में घूमने वाले सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हों। यह प्रार्थना सामूहिक है। इस सूक्त का दसवाँ मन्त्र है-

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसा: शमादित्यश्च राहुणा।

शं नो मृत्युर्धूमकेतु: शं रुद्रास्तिग्मतेजस:।।[7]

अर्थात्- चन्द्रमा के समान सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हों। राहु के साथ सूर्य भी शान्तिदायक हो। मृत्यु, धूम और केतु भी शान्तिदायक हों। तीक्ष्ण तेजवाले रुद्र भी शान्तिदायक हों। राहु के साथ सूर्य भी शान्तिदायक हों।

अब प्रश्न उठता है चन्द्र के समान अन्य ग्रह कौन हैं? इसका उत्तर एक ही है कि पाँच ताराग्रह मंगल, बुध, गुरु, शुक्र एवं शनि हैं, जो चन्द्र के समान सूर्य की परिक्रमा करने से एक ही श्रेणी में आते हैं। सूर्य किसी की परिक्रमा नहीं करता। इसलिये इसको भिन्न श्रेणी में रखा गया है। राहु और केतु प्रत्यक्ष दीखने वाले ग्रह नहीं है। इसलिये ज्योतिष में इसे छायाग्रह कहा जाता है, परन्तु वेदों ने इन्हें ग्रह की श्रेणी में ही रखा है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु को ज्योतिष में 'नवग्रह' कहा जाता है। कुछ भाष्यकारों ने 'चान्द्रमसा:' का अर्थ चन्द्रमा के ग्रह भी किया है और उसमें नक्षत्रों (कृत्तिका आदि) की गणना की है; परन्तु यह तर्कसंगत नहीं लगता। इस मन्त्र में आये हुए मृत्यु एवं धूम को महर्षि पराशर ने अप्रकाशग्रह कहा है। ये पाप ग्रह हैं और अशुभ फल देने वाले हैं। कुछ के अनुसार गुलिकको ही मृत्यु कहते हैं। उपर्युक्त मन्त्रों में इनकी प्रार्थना से यह स्पष्ट है कि इनका प्रभाव भी मानव पर पड़ता है। श्री पराशर के अनुसार पितामह ब्रह्मा ने वेदों से लेकर ज्योतिषशास्त्र को विस्तारपूर्वक कहा है-**'वेदेभ्य समुद्धृत्य ब्रह्मा प्रोवाच विस्तृतम्।'**[8]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान फलित ज्योतिष को वेद में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

---

६. अथर्व० १.९.७

७. अथर्व०१९.९.१०

८. बृ.पा.हो.सा. उत्तरखंड अ० २०.२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१०२-१०७)

कर्मफल-विधान

प्रो. ईश्वर भारद्वाज

मानव चेतना का लक्ष्य चेतना का चरम विकास है, उसकी पूर्णता है। मानव चेतना विकसित होकर पूर्ण बने, इसके लिए कर्म रहस्य का ज्ञान आवश्यक है। कर्म स्वयं में एक विलक्षण पहेली है। कर्म करने से बचा नहीं जा सकता। गीताकार के शब्दों में कहें तो **'नहि कश्चिक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'**[१] एक क्षण भी काम किये विना नहीं रहा जा सकता। शरीर और मन के क्रियाकलाप सोते-जागते किसी न किसी रूप में सदैव होते रहते हैं।[२]

कर्म

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है, इसका समान्य अर्थ करना, व्यापार या हलचल होता है। 'करना' अर्थ में मनुष्य जो कुछ करता है, वही उसका कर्म है। इसी सामान्य अर्थ में गीता में इसका उपयोग हुआ है, परन्तु कर्म के अर्थ में - 'मनुष्य जो कुछ करता है- खाना-पीना, खेलना, रहना, बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूंघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना-लेना, जागना, मारना, मनन व अध्ययन करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ, योग करना, खेती व्यापार और धन्धा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि ये सब कर्म हैं।[३]

महर्षि कणाद के शब्दों में, कर्म वह है जो द्रव्य के आश्रित हो, गुण न हो और संयोग तथा विभाग में अनपेक्ष कारण हो।' अन्नंभट्ट के अनुसार 'कर्म वह है जो संयोग तो न हो परन्तु संयोग का समवायि कारण अवश्य हो।' पं० श्रीराम शर्मा के चिन्तन में कर्म का स्वरूप बहुत उदात्त है, वह प्रचलित सीमाओं से ऊपर उठकर कहते हैं-'जीवन शाश्वत अस्तित्व अविरल चेतना का प्रवाह है। शरीर की नावें उसमें बदले रूपों में प्रकट होती रहती हैं। इन्हीं के द्वारा जीवन अभिव्यक्त होता है और यह अभिव्यक्ति है-कर्म। दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं। जीवन संवेदना बाह्य जगत् में स्वयं को कर्म के रूप में प्रकट करती है। कर्म का यही उदात्त स्वरूप हमें पूर्ण बनने के लिए बाध्य करता है।' बाध्यता इन अर्थों में है कि सुख-दुःख की अनुभूतियाँ, प्रकृति की शक्तियाँ जाने-अनजाने रूप से मानवी व्यक्तित्व को गढ़ती-सँवारती रहती हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब

---

१. गीता-३.५

२. एकं द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणात्' - वै०द० १.१.१७

३. तिलक - गीता रहस्य, पृ० ५५

तक मानव के प्रत्येक कर्म में अन्तरात्मा की उज्ज्वल ज्योति प्रकाशित न हो जाये। इस प्रक्रिया के विकास के स्तर को देखकर कर्म के प्रेरक तत्त्वों को अनुभव किया जा सकता है।

कर्म के प्रेरक तत्त्व

सामान्यतया व्यक्ति दो ही कारणों से कर्मों में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। ये दो कारण हैं-लोभ और भय। कुछ पाने का लोभ अथवा खोने का भय व्यक्ति में कर्म की प्रेरणा का संचार करता है। यह पाने का लोभ, धन, यश, वैभव, श्रेय, स्वर्ग किसी का भी हो सकता है। इसी प्रकार तिरस्कार, पद-प्रतिष्ठा, छीनने, दण्डित होने से भयभीत होकर कर्मों में प्रवृत्ति देखने को मिलती है। लेकिन यह कर्म की अपूर्णता है, दूसरे शब्दों में यह कर्म की निम्न अवस्था है। गीता में कहा गया है- 'प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं।[४] अन्य शब्दों में कहा जाये तो ये अज्ञानजनित कर्म हैं। लोभ और भय की प्रेरणा से प्रेरित कर्म करने वालों को गीता अच्छी तरह न समझने वाले मूर्ख कहकर सम्बोधित करती है।

ज्ञान में होने वाले कर्मों का प्रेरक तत्त्व स्वयं परमात्मा है। ऐसी अवस्था में कर्त्ता लोभ और भय के कारण नहीं, अपितु परमात्मा से प्रेरित होकर परमात्मा के लिए परमात्मा में ही कर्म करता है। इस स्थिति में कर्त्ता अपनी शक्ति विश्व के निर्माता या नियामक में समाहित कर देता है और अनन्त शक्तिवान् हो जाता है।

कर्म के भेद

कर्म के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं, ये निम्नवत् हैं-

विधान के आधार पर कर्म के भेद- विधान के आधार पर कर्मों के दो भेद किये गए हैं- विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्म। विहित कर्म के अन्तर्गत नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म आते हैं। प्रतिदिन किये जाने वाले कर्म, यथा-स्नान, संध्या आदि नित्य कर्म कहलाते हैं। इन्हें करने से पुण्य की प्राप्ति होना आवश्यक नहीं है, परन्तु न करने से पाप लगता है। नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं, जिन्हें पहले किसी निमित्त के उपस्थित हो जाने पर करना पड़ता है, जैसे- अनिष्ट ग्रहों की शान्ति, प्रायश्चित्त आदि। इन्हें करने से पुण्य, न करने से पाप लगता है। काम्य कर्म वह होता है, जिसे व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति हेतु शास्त्रानुसार कर्म करता है, जैसे वर्षा होने के लिए या पुत्र प्राप्ति हेतु विशेष यज्ञ करना आदि। इन्हें करने से पुण्य की प्राप्ति होती है, परन्तु न करने से पाप नहीं लगता। ये तीनों कर्म विहित कर्म के अन्तर्गत सम्मिलित हैं, क्योंकि शास्त्रों में इनको करने का विधान किया गया है, परन्तु कछ कर्म ऐसे भी हैं, जिन्हें शास्त्रों में त्याज्य कहा गया है, ये कर्म निषिद्ध कर्म कहलाते हैं, यथा-मदिरापान, असत्य भाषण आदि।

---

४. गीता - ३.२९

प्राकृतिक गुण के आधार पर कर्म के भेद

प्रकृति के तीन गुणों के आधार पर मनु ने कर्म को तीन रूपों में विभाजित किया है, जैसे- सात्त्विक, राजसिक व तामसिक। सात्त्विक कर्म वह है, जिसे करने से भूत, वर्तमान और भविष्य में मनुष्य लज्जित नहीं होता, जिस कर्म को सदैव जानने की इच्छा रहती है तथा जिस कर्म से मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। वह सत्त्व गुण से प्रभावित होने के कारण सात्त्विक कर्म है।[५] इनसे देवत्व की प्राप्ति होती है। राजसिक कर्म वह है, जिनके प्रति शीघ्र ही रुचि हो जाती है और फिर अधैर्य उत्पन्न होता है, जैसे- निरन्तर विषय भोग की इच्छा करना, दूसरों पर विजय प्राप्त करना आदि। इन कर्मों से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। तमस् गुण से उत्पन्न कर्मों को तामसिक कर्म कहा गया है, जैसे लोभ, निद्रा, क्रूरता, प्रमाद, अनाचार आदि। इन्हें करने से मनुष्य के उपरान्त निकृष्ट गति या तिर्यक् योनि प्राप्त करता है। गीता में इसी प्रकार सात्त्विक, राजसिक व तामसिक तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं। कर्मफल की आशा को त्यागकर धर्मानुसर किये गये कर्मों को सात्त्विक कर्म कहा गया है।[६] फल की इच्छा रखते हुए अहंकार पूर्ण मनोभाव से किया गया कर्म राजसिक है।[७] और तामसिक कर्म वह है, जो मोहवश वर्तमान तथा भविष्य को न सोचकर किया जाता है।[८]

कर्म-विपाक-प्रक्रिया के आधार पर कर्म के भेद

कर्म-विपाक-प्रक्रिया अर्थात् कर्म एवं कर्मफल का चक्र अनन्त है। फलभोग की दृष्टि से कर्म के तीन भेद माने गये हैं- (१) संचित कर्म (२) प्रारब्ध कर्म (३) संचीयमान अथवा क्रियमाण कर्म।[९] किसी मनुष्य के द्वारा पूर्व जन्मसहित वर्तमान जन्म में इस क्षण तक किया गया कर्म संचित कर्म है।[१०] यह शुभ व अशुभ दो प्रकार का होता है, इसलिए इनको एक साथ भोगना असम्भव होता है। इन्हें एक के उपरान्त एक-एक करके क्रमशः भोगना पड़ता है। अतः संचित कर्म में से जितने कर्मों के फलों का भोगना पहले प्रारम्भ होता है, उतने अंशों को ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं।[११] क्रियमाण का तात्पर्य है - वह कर्म जो अभी हो रहा है अथवा जो अभी किया जा रहा है।[१२]

---

५. मनुस्मृति, १२.३१
६. श्रीमद्भवगद्गीता - १८.२३
७. वही, १८.२४
८. वही, १८.२४५
९. रामचरितमानस - १.२५५.४
१०. देवीभागवत पुराण - ६.१०.९
११. वही, ६.१०.१३-१४
१२. वही, ६.१०.१२, एवं तिलक - गीता रहस्य, पृ० २८४

अधिष्ठान माध्यम के आधार पर कर्म के भेद- कर्मों का वर्गीकरण कर्म के कारणों के आधार पर भी किया गया है, जैसे शरीर, वाणी या मन से किये गए कर्म, इन्हें क्रमशः कायिक, वाचिक व मानसिक कर्म कहा गया है। मनु के अनुसार समस्त कर्म मन, वाणी तथा शरीर की ही उपज हैं और ये कर्म शुभ अथवा अशुभ भाव उत्पन्न करते हैं, जिनके अनुसार मनुष्य को उत्तम, मध्यम या अधम गति प्राप्त होती है।[१३]

पातञ्जल योगसूत्र में कर्म के प्रकार

पातञ्जल योगसूत्र में कर्मों को चार वर्गों में रखा है - (१) शुक्ल कर्म (पुण्य कर्म), (२) कृष्ण कर्म (पाप कर्म) (३) शुक्ल कृष्ण कर्म (पुण्य-पाप मिश्रित कर्म)। (४) अशुक्ल अकृष्ण (न पुण्य न पाप कर्म)।[१४] जिन कर्मों से अपना या पराया किसी का अहित नहीं होता, अपितु हित होता है, वह कर्म शुक्ल या पुण्य कर्म कहलाते हैं। अन्यों का अहित करने वाले कर्म कृष्ण कर्म या पाप कर्म कहलाते हैं। शुभ व अशुभ मिश्रित कर्म शुक्ल कृष्ण कर्म के अन्तर्गत रखे गये हैं। साधारणतया सामान्य व्यक्ति के कर्म शुक्ल-कृष्ण प्रकार के ही होते हैं। जो कर्म, कर्मफल की आशा से रहित होकर किये जाते हैं, उन्हें अशुक्ल-अकृष्ण कहते हैं। गीता में इन्हें ही निष्काम कर्म की संज्ञा दी गई है।

कर्म, अकर्म और विकर्म

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के तीन रूप और बताये हैं- कर्म, अकर्म और विकर्म। कर्म दो प्रकार के कहे गये हैं। सकाम कर्म और निष्काम कर्म। कर्मफल की आशा से युक्त होकर किये गए कर्म सकाम कर्म कहलाते हैं और इसके विपरीत कर्मफल की आशा से रहित होकर किये गए कर्म निष्काम कर्म के अन्तर्गत आते हैं।[१५] कर्म और कर्मफल दोनों से सर्वथा निस्पृह होकर किये जान वाले कर्म ही अकर्म हैं।[१६] इसे ही कर्मसंन्यास भी कहा गया है। इससे तात्पर्य यही है कि कर्मफल की आशा के साथ ही उनमें कर्त्तापन का त्याग। विकर्म से तात्पर्य निषिद्ध कर्म से है।

कर्मफल-विधान

मानव चेतना एक व्यापक, शाश्वत एवं अनुल्लंघ्य नियम से बंधी हुई है। यह अनुल्लंघ्य नियम है- कर्म का नियम। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है, चाहे वह शुभ करता है या अशुभ, उचित या अनुचित, उस सबका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। वह फल कर्ता को भोगना पड़ता है, कोई भी

---

१३. मनुस्पमृति १२.३७

१४. पातञ्जल योगसूत्र ४.७

१५. श्रीमद्भागवद्गीता २.४७-४८

१६. वही, ४.२०

कर्ता अपने किये हुए कर्मों के फलभोग से न वंचित रह सकता है और न छुटकारा ही पा सकता है।[१७] व्यक्ति जो भी सुख-दुःख भोगता है, वह किसी अन्य का किया हुआ नहीं होता, अपितु उसके अपने कर्मों के ही फल का परिणाम होता है। इस प्रकार कर्मवाद का विश्लेषण करने पर इसके अन्तर्गत तीन पक्ष आते हैं- कर्ता, क्रिया और फल। इस तथ्य को वेद, उपनिषद् सहित समस्त शास्त्रों में स्वीकृत किया गया है। अक्ष्युपनिषद् में कहा गया है - 'ज्ञान का उदय हो जाने पर भी पूर्वकृत कर्मों का प्रारब्ध भोग तो भोगने ही पड़ते हैं। उनका नाश नहीं होता। धनुष से छूटा हुआ तीर प्रहार करता ही है।[१८] महाभारतकार का इस सन्दर्भ में कथन है कि -'इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों का नाश नहीं होता। यथा बीज खेत को प्राप्त कर पकता जाता है, फल लाता जाता है, उसी प्रकार कर्मों के फल का क्रम भी चलता रहता है। तदनुसार ही मनुष्य शुभ या अशुभ परिणाम प्राप्त किया करता है।[१९]

इस सन्दर्भ में महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि हे कल्याणी! मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसी के अनुरूप फल प्राप्त करताहै। कर्ता अपने पापकर्मों का फल घोरकाल आने पर अवश्यमेव प्राप्त करता है, जैसे मौसम आने पर वृक्ष पुष्पों को प्राप्त होते हैं।[२०]

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य का इस सन्दर्भ में कथन है कि मनुष्य का जीवन एक खेत है, जिसमें कर्म बोये जाते हैं और उन्हीं के अच्छे-बुरे फल काटे जाते हैं, जो अच्छे कर्म करता है, वह अच्छे फल पाता है। बुरे कर्म करने वाला बुराई समेटता है। कहावत है - जो आम बोयेगा वह आम खायेगा, जो बबूल, वह काँटे पायेगा। बबूल बोकर जिस तरह आम प्राप्त करना प्रकृति का सत्य नहीं है, उसी प्रकार बुराई का बीज बोकर भलाई पा लेने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[२१]

इस तरह कर्मफल-विधान एक नैतिक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार किये हुए कर्मों का फल अवश्य मिलता है। यह आवश्यक नहीं होता कि कर्म का फल तत्काल प्राप्त हो या इसी जीवन में ही प्राप्त हो, यह आगमी जन्म में भी प्राप्त हो सकता है। इस कर्मफल की व्यवस्था में बाह्य नियन्त्रण की आवश्यता नहीं पड़ती, यह प्रकृति की स्व-संचालित प्रक्रिया है। वस्तुतः कर्मफल क्रिया की प्रतिक्रिया है।

---

१७. इतिहास समुच्चय- २.५२

१८. ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति। यदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् - अक्ष्युपनिषद् २.३

१९. शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम्। प्राप्य प्राप्य तु पच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा। क्षेत्रं कर्ममाप्नोति शुभं वा यदि वाशुभम्। महाभारत आश्वमेधिक प.अ. १८.५

२०. यदा चरति कल्याणि शुभं वा यदि वा शुभम्, तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मणात्मनः। अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः। घोरं पश्यागते काले द्रुमपुष्पनिवातपम् - वाल्मीकीय रामायण, आरण्य, स. २९

२१. आचार्य श्रीराम शर्मा - कर्मों की फूलती-फलती खेती, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२,अंक ७, पृ० १

कर्मफल–विधान से यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त भाग्यवाद या नियतिवाद नहीं है। केवल कुछ अंश तक इसमें नियतिवाद की झलक प्राप्त होती है। व्यक्ति को जन्म से प्राप्त परिवेश व परिस्थितियाँ, शारीरिक व मानसिक क्षमताएँ भाग्यानुसार प्राप्त होते हैं। यद्यपि इनके चुनाव में वह स्वतन्त्र नहीं होता, परन्तु इनका उपयोग करने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, इसे कर्म स्वातन्त्र्य कहा गया है। वह अपनी संकल्प शक्ति से पुराने कर्म संस्कारों को परिवर्तित कर सकता है। नये संस्कार अर्जित कर सकता है और अपने आगामी जीवन को नई दिशा दे सकता है।

कर्मफल–विधान में यदि कहीं कोई विरोध–व्यवधान अनुभव किया जाता है तो इसका कारण चेतना के विभिन्न स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों और इन विविध स्तरों की देश, काल, व्यवस्था की सूक्ष्मता को न समझ पाना है। इसे समझने और परखने पर कर्मफल के सूत्र सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं। यह नियम सृष्टि का अटल एवं अनिवार्य सत्य है। कर्म अपना फल अवश्य देते हैं। शुभ कर्मों का फल शुभ होता है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है।

गुरुकुल शोध भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१०८-११३)

विवेकानन्द का भक्तियोग : आत्मसंस्कार की दिशा

डॉ० वीरेन्द्र कुमार अलङ्कार
डॉ. सुषमा अलंकार

पारदृश्वा मनीषी स्वामी विवेकानन्द ने वेद को प्रमाण कोटि में स्वीकार करके वेदान्त और योग की समन्वयात्मक व्याख्या की है। वे हिन्दू शब्द का व्यवहार वैदिक धर्म के लिए करते दीखते हैं।[१] वेद को अनादि और अनन्त मानना कदाचित् किसी को हास्यास्पद लगे पर स्वामी विवेकानन्द ने बड़ा व्यावहारिक और बुद्धिग्राह्य समाधान प्रस्तुत किया है-'वेदों का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य जाति उसे भूल भी जाए, तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा। इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करने वाले ऋषि कहलाते हैं।[२] इसी वेद वेदान्त की पृष्ठभूमि में स्वामी विवेकानन्द ने योग की चर्चा की है। इस वेदान्त धर्म के चार मार्गों का विभाजन उन्होंने किया है। कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग।[३]

स्वामी विवेकानन्द ने आत्मा, पुनर्जन्म, ईश्वर, जगत् आदि तत्त्वों की निरूपण अपने व्याख्यानों में की है, किन्तु वे लोक की अपेक्षा करके शुद्ध दर्शन के नीरस सिद्धान्त प्रदर्शनमात्र से बुद्धि व्यायाम करते नहीं दीखते। वे लोक और परम लोक में पूरा तादात्म्य स्थापित करते हैं। यही वैशिष्ट्य भारतीय शास्त्रों का है। स्वामी जी की मान्यता है कि क्षुधातुरों को धर्म का उपदेश देना उनका अपमान करना है, भूखों को दर्शन सिखाना उनका अपमान करना है।[४]

उनका भक्ति योग भी मात्र ब्रह्मप्राप्ति अथवा मुक्ति का ही साधन नहीं है। इस स्थिति में तो ईश्वर को न मानने वाले के लिए उनके भक्तियोग की अर्थवत्ता ही अपार्थ हो जायेगी।

धर्म का आधार साक्षात् अनुभवगम्य अर्थात् प्रत्यक्ष है। प्रत्येक धारा का मूल स्रोत अनुभव है। ईसा ने कहा है, मैंने ईश्वर के दर्शन किए हैं। बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। उन्होंने कुछ सत्यों का अनुभव किया, उनको देखा था उनके संस्पर्श में आए थे और उन्हीं का उन्होंने संसार में प्रचार किया। हिन्दुओं के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। अत: यह स्पष्ट है कि संसार के समस्त धर्म और प्रत्यक्ष अनुभव पर स्थापित

---

१. हिन्दू धर्म से मेरा तात्पर्य वैदिक धर्म है- विवेकानन्द संचयन बौद्ध धर्म: हिन्दू धर्म की निष्पत्ति, पृ० २१
२. वही, हिन्दू धर्म पर निबन्ध पृ० ७
३. वही, कर्मयोग का आदर्श पृ० २५
४. वही, धर्म: भारत की प्रधान आवश्यकता नहीं पृ० २१

हैं, जो हमारे समस्त ज्ञान की सार्वभौमिक और सुदृढ़ आधारशिला है।[५] किन्तु कोई यह कहे कि इस काल में यह साक्षात् दर्शन असम्भव है, स्वामी जी को यह बिल्कुल भी मान्य नहीं है। वस्तुत: जिस विद्या के द्वारा ये अनुभव प्राप्त होते हैं, उसका नाम है योग।[६] स्वामी विवेकानन्द अनुभव पर जोर देते हैं, गुटबन्दी बनाकर अपने धर्म की याद करना कोई महत्त्व की बात नहीं है। उनका मानना है कि भगवान् के नाम पर जितना खून बहा है, उतना और किसी कारण से नहीं। ऐसा क्यों? इसीलिए कि कोई भी व्यक्ति मूल तक नहीं गया। सब लोग पूर्वजों के कुछ आचारों का अनुमोदन करके ही सन्तुष्ट थे, वे चाहते थे कि दूसरे भी वैसा ही करें। जिन्हें आत्मा की अनुभूति या ईश्वर साक्षात्कार न हुआ हो, उन्हें यह कहने का क्या अधिकार है कि आत्मा या ईश्वर है। यदि ईश्वर हो, तो उसका साक्षात्कार करना होगा, यदि आत्मा नामक कोई चीज हो, तो उसकी उपलब्धि करनी होगी, अन्यथा विश्वास न करना ही भला। ढोंगी होने से स्पष्टवादी नास्तिक होना अच्छा है।[७] इन शब्दों में स्वामी जी को जिस व्यथा की अभिव्यक्ति हुई है, वह विचारणीय है। वे तथाकथित धर्म के ठेकेदारों से होने वाले खून-खराबे से पीड़ित हैं। वस्तुत: इन सबसे महत्त्व की बात ईश्वर को मानना नहीं है, बल्कि आचरण करना है। यह आचरण ही भक्ति है।

स्वामी विवेकानन्द ने यद्यपि चरम लक्ष्य मुक्ति ही माना है, किन्तु उनकी व्याख्या एकदम लोकानुविद्ध है। कर्मयोग का अर्थ उनके अनुसार बड़ा विलक्षण है। कर्मयोग नि:स्वार्थपरता और सत्कर्म द्वारा मुक्ति लाभ करने का एक धर्म और नीतिशास्त्र है। कर्मयोगी को किसी भी प्रकार सिद्धान्त में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है। वह ईश्वर में भी चाहे विश्वास करे अथवा न करे। आत्मा के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान करे या न करे, किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी करे अथवा न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसके सम्मुख उसका अपना लक्ष्य रहता है- नि:स्वार्थता की उपलब्धि और उसको अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे प्राप्त करना होता है।[८] इस प्रकार नि:स्वार्थ होना ही कर्मयोग है। कर्मयोगी अपनी समस्या का समाधान कर्म द्वारा करता है, जबकि ज्ञानी उसी समस्या का समाधान अपने ज्ञान और अन्त:स्फुरण द्वारा एवं भक्त अपनी भक्ति द्वारा करता है।

भक्ति का साक्षात् सम्बन्ध ईश्वर से है। इन्द्रिय भोग के पदार्थों धन-धान्य, पुत्र, कलत्र आदि के प्रति प्रीति आसक्ति है, किन्तु जब यही प्रीति ईश्वर के प्रति होती है, तो तब यह भक्ति कहलाती है।[९] यह भक्ति निश्चयेन मनुष्य का संस्कार करती है। भले ही कोई अनीश्वरवादी चरम लक्ष्य से सहमत न हो, पर लोक में इन

---

५. वही, राजयोग का उद्देश्य पृ० ७६
६. वही, पृ० ७७
७. वही, पृ० ७७
८. वही, कर्मयोग का आदर्श पृ० २७-२८
९ वही, विवेकानन्द साहित्य, नवम खण्ड, भक्तियोग पर प्रवचन पृ० २

भक्तिसाधनों से होने वाली इस आत्मसाधनारूप संस्कार का खण्डन सम्भव नहीं है। इस साधना के निम्न पक्ष हैं-

१.विवेक-प्रथम साधना है-विवेक। आहार मीमांसा इसी में अन्तर्भूत है। मांस आदि के भक्षण को वे त्याज्य मानते हैं। इससे अपना ही नहीं, हम दसूरे मनुष्यों का भी अध:पतन करते हैं। प्राणिवध करने वाला स्वभाव से ही निर्दयी हो जाता है, इसीलिए इंग्लैण्ड में कोई भी कसाई न्यायसमिति का सदस्य नहीं बन सकता।[१०] किसी भी देश में होने वाले भयंकर जुर्म, बलात्कार, कत्ल, डकैती आदि के पीछे मांसभक्षण भी एक प्रमुख कारण है। अत: भक्त बनने के लिए मांस का त्याग अनिवार्य है। ध्यातव्य है कि उपनिषत्कार का भी वचन है -'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।[११]

२.विमोक-विमोक का अर्थ है इच्छाओं से मुक्ति। साध्य और साधन का भेद समझ आने पर स्वयं ही उत्कट अभिलाषाओं का त्याग होने लगता है। वस्तुतः मनुष्य यह मान बैठता है कि यह संसार ही अन्तिम ध्येय है, यही जीवन हमारा लक्ष्य है। स्वामी जी के अनुसर ९९ प्रतिशत मनुष्यों की यही अवस्था है। हमारी पूर्णता में जहाँ तक यह संसार साधन बन सके, वहीं तक वह ठीक है। पति, पत्नी, पुत्र, कन्या, धन, दौलत रुपये पैसे विद्वत्ता या पाण्डित्य हमारे लिए तभी तक इष्ट हैं, जब तक वे हमारी उन्नति के मार्ग में सहायक हैं, पर जैसे ही वे ऐसा करने में असमर्थ होते हैं, वे केवल अनिष्टकारक हो जाते हैं।[१२] आवश्यकता आविष्कार की जननी है तो उत्कट अभिलाषा दु:ख की जननी है। यह रहस्य वही समझ सकता है, जो दु:ख से शाश्वत मुक्ति का यत्न करे।

३.अभ्यास-भक्तियोग का तीसरा पहलु अभ्यास है। मन की गति सदा परमात्मा की ओर हो यह साधना बड़ी कठिन है, पर अभ्यास से यह सम्भव है। चक्रव्यूह से बाहर निकलने के लिए सतत अभ्यास आवश्यक है। हमारी यह अवस्था है कि एक क्षण हम हँसते हैं, तो दूसरे ही क्षण रोने लगते हैं, हम हवा के हर झोंके की दया पर आश्रित हैं, हर वस्तु के दास बन गए हैं। यह कितनी लज्जा की बात है, फिर भी हम अपने को आत्मा कहते हैं।[१३] इस दासता से मुक्त होना पड़ेगा, अन्यथा दु:ख से बाहर आना सर्वथा असम्भव है। इसलिए ईश्वर की ओर मुँह करना पड़ेगा। ईशस्मरण के अभ्यास में स्वामी जी ने संगति को सबसे बड़ा सहायक माना है- मानव हृदय पर संगीत का प्रबल प्रभाव पड़ता है, वह क्षण भर में चित्त को एकाग्र कर देता है।[१४]

---

१०. वही, पृ० ५

११. छान्दोग्योपनिषद् ७.२६

१२. विवेकानन्द साहित्य, नवम खण्ड भक्तियोग पर प्रवचन पृ० ८

१३. वही, पृ०८

१४. वही, पृ०९

भक्ति के लिए या दासता से मुक्ति के लिए अभ्यास अनिवार्य है। अनभ्यास में तो न कर्म है, न भक्ति और न ही ज्ञान।

४.**क्रिया**-दूसरों की भलाई करना क्रिया है। स्वामी जी ने कर्म के अन्तर्गत पाँच नित्य क्रियाओं का उल्लेख किया है, जिन्हें उन्होंने पञ्चमहायज्ञ कहा है।[१५] प्रथम है-स्वाध्याय। नित्य पवित्र और कल्याणकारी अध्ययन करना स्वाध्याय है। वैदिक लोग इसे ब्रह्मज्ञान कहते हैं। स्व अर्थात् आत्मा अर्थात् चैतन्य तत्त्व की उपासना याज्ञिक लोग करते हैं। दूसरा है-देवयज्ञ अर्थात् ईश्वर देवता आदि की उपासना। याज्ञिक परम्परा में यह अग्निहोत्र विधि है। तीसरा है-पितृयज्ञ, अपने पूर्वजों के प्रति कर्त्तव्य। चौथा है-मनुष्य यज्ञ अर्थात् मानव जाति के प्रति हमारा कर्तव्य। वैदिक लोग इसे अतिथि यज्ञ कहते हैं। स्वामी जी इस यज्ञ की कर्त्तव्यता के लिए बड़े कठोर दीखते हैं। केवल अपनी उदरपूर्ति हमें पशुओं की श्रेणी में खड़ा कर देती है। व्रत, उत्सव पर की जाने वाली समर्पण विधि उसी परम्परा की प्रतिज्ञा के लिए है। बड़े व्यावहारिक धरातल पर आकर उन्होंने इस यज्ञ की मीमांसा की है। उनका कथन है कि प्रत्येक वस्तु का अग्रांश दीनों को देना चाहिए, अवशिष्ट भाग पर ही हमारा अधिकार है। दीन ही परमात्मा के रूप (प्रतिनिधि) है, दु:खी ही ईश्वर का रूप हैं। जो मनुष्य विना दिए खाता है और ऐसे खाने में सुख मानता है, वह पाप का भागी होता है।[१६] वैदिक ऋचा का भी यही सन्देश है- **'केवलाघो भवति केवलादी'**। पाँचवी क्रिया है-भूतयज्ञ, नीची योनि वाले प्राणियों के प्रति हमारा कर्तव्य। पशु, पक्षी और वनस्पति जगत् के लिए भी अपनी आहुति डालना भूतयज्ञ है। ये पाँच क्रियाएँ लोकातीत तत्त्व की प्राप्ति के लिए ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व को जीवन्त बनाने के लिए भी हैं। लोक की खुशहाली इन क्रियाओं का दृष्ट फल है।

५.**कल्याण** - कल्याण अर्थात् पवित्रता के अन्तर्गत निम्न बातें आती हैं[१७]-१.**सत्य**-जो सत्यनिष्ठ है, सत्यरूपी ईश्वर उनके समीप आता है। मन, वाणी और कर्म मे एकरूपता सत्य की ही दिशा है। २.**आर्जव**-निष्कपटता या सरलता। ३.**दया** करुणा या सहानुभूति। ४.**अहिंसा**- मनसा, वाचा कर्मणा किसी को हानि न पहुँचाना। ५.अनवसाद-चित्त की प्रसन्नता। मैं कितना दु:खी हूँ- ऐसा सोचते रहना आसुरी भावना है, धर्म नहीं।

६.**आचार्य सान्निध्य**-भक्ति के दो रूप हैं-गौणी और परा।[१८] गौणी का अर्थ है साधना भक्ति और परा इसी की परिपक्वावस्था है। इस परिपक्वास्था में आचार्य का सान्निध्य अतिशय सहकारी है। गुरु शब्द शास्त्र का

---

१५. वही, पृ०९

१६. वही, पृ०१०

१७. द्र०-वही, पृ० १०-११

१८. वही, चतुर्थ खण्ड भक्तियोग का ध्येय-आत्मानुभूति पृ० १५

पण्डित हो, यह आवश्यक नहीं। शब्दजाल तो चित्त को भटकाने वाला एक महाजन है-**शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्**।[१९]

भक्ति का ध्येय आत्मानुभूति है। इस दिशा में अध्यात्म आचार्य संजीवनी शक्ति का कार्य करता है। जो शिष्य या आचार्य छुआछूत जैसी बीमारी से ग्रस्त होते हैं, वे जड़ बुद्धि हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इसे **'मुझे मत छूवाद'**[२०] का नाम दिया है। जब तक यह वाद रहेगा, तब तक उसकी आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं है, बल्कि संघर्षों की उत्पत्ति होती है- इसमें सन्देह नहीं कि कट्टरता और धर्मान्धता द्वारा किसी धर्म का प्रचार बड़ी जल्दी किय। जा सकता है, किन्तु नींव उसी धर्म की दृढ़ होती है, जो हर एक को विचार की स्वतन्त्रता देता है।[२१] स्वामी जी मानते हैं कि वास्तव में महान् तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान्, तथा एकसम रहता है।[२२] गुरु सही मिल जाए तो हम गौणी भक्ति से परा भक्ति तक आ पहुँचेंगे, जहाँ प्रतीक तथा रूपाकार विलीन हो जाते हैं। इस स्थिति में वह किसी सम्प्रदाय विशेष का होकर नहीं रह सकता। वह तो बस ईशोन्मत्त बन जाता है।

इन साधनों के द्वारा भक्तिमार्ग पर चलना सुकर है। इस रस को वही जानता है, जो इसका अनुभव करने लगा है, यही ईश्वरानन्द की अनुभूति है। पुनरपि दुर्जन परितोषन्यायेन यदि ईश्वर को न माना जाए, तथापि संसार में प्रत्येक मनुष्य सुख से शान्ति से जीना तो चाहता ही है। इस शान्तिपथ में यह भक्तिमार्ग ही श्रेयस्कर है। भक्ति में दूसरे को नहीं बल्कि स्वयं को शोध ने संस्कारित करने की प्रबल भावना रहती है। आत्मसंस्कार के विना परोपकारी होना हास्यास्पद है। इसलिए भक्ति कोई योगियों, साधुओं की चीज नहीं है, यह प्रक्रिया है- दैनन्दिन जीवन की। स्वामी जी मानते हैं कि भक्ति एक धर्म है। इस धर्म को अपना कर कौन कितना सुखी होना चाहिता है, यह उसके हिस्से की बात है। स्वामी जी भक्ति के नाम पर होने वाले आडम्बर के विरोधी हैं। इसलिए भक्ति फैशन नहीं है, जिसके लिए कीमती संसाधन जुटाने पड़े या किसी संघ में शामिल होना पड़े। भक्ति ऐसों के लिए नहीं है-'यह चाह नहीं है।' चाह वह है जिसके विना हम जी न सकें। हमें हवा की आवश्यता है, भोजन की आश्यकता है, कपड़ों की आवश्यता है, इनके विना हम जी नहीं सकते। जब पति मरता है, तब पत्नी समझती है कि मैं पति के विना नहीं जी सकती, पर फिर भी वह जीती ही है। किसी वस्तु की आवश्यकता की जाँच यही है कि उस वस्तु के अभाव में जीना असम्भव हो जाये- या तो हमें उस वस्तु की प्राप्ति हो या उसके विना हम मर जायें। जब हमें ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा ही लगने लगे अर्थात् संसार के उस

---

१९. विवेक चूडामणि ६०

२०. विवेकानन्दसाहित्य, तृतीय खण्ड भक्तियोग-१ पृ० २६०

२१. द्र० वही, पृ. २६०

२२. वही, कर्म का चरित्र पर प्रभाव, पृ० ५

पार की किसी वस्तु की ऐसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव करने लगे जो इन समस्त जड़ या भौतिक शक्तियों से परे है, उनसे ऊपर है – तभी हम भक्त बनते हैं।[२३]

यहाँ भक्ति अकर्मण्य की दिशा नहीं है। इस भक्ति में कर्म और ज्ञान भी सम्पृक्त हैं। कर्म और भक्ति की यह इतनी व्यावहारिक व्याख्या जो वस्तुत: जीवन जीने की ही कला है, इतनी पूर्ण है कि मनुष्य के लिए कुछ भी शेष नहीं बचता। व्यक्तित्व विकास की यह ऐसी प्रविधि है, जिसमें समष्टि और व्यष्टि दोनों ही समाहित हैं। काम करने का तरीका ही तो योग है-**'योग: कर्मसु कौशलम्'**[२४] वाचिक दिखावे के स्वामी जी पक्षधर नहीं है- मनुष्य की सच्ची पहचान तो अपने कर्तव्यों को करने की उसकी शक्ति और शैली में होती है। एक मोची जो कि कम से कम समय में बढ़िया और मजबूत जूतों की जोड़ी तैयार कर सकता है, अपने व्यवसाय में इस प्राध्यापक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो जीवनभर प्रतिदिन थोड़ी बकवास ही किया करता है।[२५]

अपने जीवन को बदलना ही संन्यास है। संन्यास का अर्थ यह नहीं है कि सारी दुनिया गृहस्थाश्रम छोड़ गेरुवे वस्त्र धारण कर संन्यासी हो जाए- संन्यास मन का होता है।[२६] स्वामी जी की धारणा है कि अनासक्त व्यक्ति ही संसार का सर्वाधिक हित करते हैं। वे शुभ-अशुभ कर्म के विवाद में नहीं पड़ते। उनके अनुसार इन सबमें मुख्य बात है – सत्य। जब वे वेदान्त के ब्रह्म की व्याख्या करते हैं, तो लगता है, जो-जो सत्य है, वह-वह उन्हें ईश्वर मान्य है- जो कुछ ईश्वर नहीं है, उसे अङ्गीकार मत करो। जो कुछ ईश्वर है, उसे प्रतिष्ठित करो। अहर्निश इसका मानस संकल्प करो। इस प्रकार आवरण जीर्ण होता जाता है।[२७] यही देवत्वलब्धि की प्रक्रिया है। सत्य कहीं भी हो उसे स्वीकार करने में स्वामी जी बड़े नि:संकोच हैं- कन्फ्यूशस, मूसा और पाइथागोरस, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद ,लूथर, काल्विन और सिक्ख गुरु, थियोसोफी, आत्मवाद तथा ऐसे ही अन्य सिद्धान्त इन सबका तात्पर्य मनुष्य के अन्त:स्थ देवत्व का उपदेश ही है।[२८]

सम्प्रदाय की संकीर्णता से बाहर आकर ही भक्ति परिपक्व हो पाती है। तभी हो पाता है-स्व का विकास। यही है व्यष्टिगत संस्कार जिसके मूल में सत्य का अनुसन्धान और समष्टि का कल्याण निहित है। यही है-संस्कृति का आदर्श।

---

२३. वही, नवम खण्ड भक्तियोग पर प्रवचन पृ० २०

२४. गीता-२.५०

२५. वही, कर्मयोग,पृ० १८३-१८४

२६. वही, ज्ञान और कर्म, पृ० १९३

२७. वही, पृ० १९५

२८. वही, पृ० १९६

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०११४-१२०)

अनुमान-प्रमाण में हेत्वाभास की भूमिका

डॉ० हरीश्वर दीक्षित

भारतीय तत्त्वचिन्तन परम्परा में तत्त्व का मूल रूप रहस्य के आवरण से आच्छादित है और इसके सम्बन्ध में अत्यधिक मतभेद है। तत्त्वज्ञानार्थ भारतीय आचार्यों ने विभिन्न अनुभवों, तर्कों एवं प्रमाणों आदि का सहारा लिया है। भारतीय नैयायिक चिन्तकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। यद्यपि अर्थापत्ति एवं अभाव का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में तथा अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही कर लिया जाता है। प्रत्यक्ष के अनन्तर दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रमाण है-अनुमान-प्रमाण।

अनुमान-प्रमाण का लक्षण करते हुए तर्कभाषाकार आचार्य केशवमिश्र लिखते हैं- **'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्'**[१] लिङ्ग के परामर्श को अनुमान कहते हैं। लिङ्ग है चिह्न, जिससे तत्त्व अथवा पदार्थ का अनुमान किया जाता है। यथा-'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' में पर्वत अग्नि वाला है या पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहां धूँआ दिखाई पड़ रहा है। इस धूमरूपी लिङ्ग (चिह्न) से हम पर्वत में अग्नि होने का अनुमान करते हैं। पर्वत पर अग्नि है, इसकी परामर्श प्रक्रिया में धूम (हेतु) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी तरह जहाँ हम अनुमान करते है, वहाँ-वहाँ कोई न कोई हेतु अवश्य होता है, विना हेतु के अनुमान प्रमाण की बोध-प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो सकती।

अनुमान-प्रमाण की बोधप्रक्रिया में हेतु का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। हेतुव्याप्ति तथा पक्षधर्मता दोनों से सम्बन्धित है। अनुमान में यदि हेतु शुद्ध हो, तो साध्य की सिद्धि होती है और शुद्ध न हो तो कथमपि साध्य सिद्ध नहीं होता। ऐसे समय यह हेतु अपना व्यपदेश भी खो देता है, अत एव इसे हेत्वाभास की संज्ञा देते हैं।

आचार्य वात्स्यायन के शब्दों में 'जो हेतु के लक्षणों से रहित हो एवं हेतु के साथ सादृश्य होने के कारण हेतु की तरह प्रतीयमान हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं।[२] जैसे- शब्दो नित्यं कृतकत्वात् - यहाँ तृतीया या पञ्चमी से युक्त होने के कारण कृतकत्व पद हेतु जैसा प्रतीत हो रहा है, तथापि यह शुद्ध हेतु नहीं है, जिससे अपने साध्य (नित्यता) की सिद्धि नहीं करा पाता। इस कारण इसे हेत्वाभास कहते हैं। इसे अंग्रेजी में Fallacy कहते हैं। डॉ० चन्द्रधर शर्मा के अनुसार -'It means the middle term appears to be reason but is not a valid reason'[३]

---

१. तर्कभाषा, अनुमानप्रकरण।

२. न्या० स० वात्स्यायनभाष्य

३. दे०

आचार्य केशवमिश्र के अनुसार एक सद् हेतु के ५ रूप होते हैं - १.पक्षे सत्त्वम् जो हेतु पर्वत रूप पक्ष मे रहे- जैसे पर्वत पर धूम होना, २.सपक्षे सत्त्वम्-महानस में धूम का होना, ३.विपक्षाव्यावृत्तिः - महाह्रद में धूम न होना, ४.असत् प्रतिपक्षत्व- जहाँ एक हेतु का विरोधी हेतु न हो, ५.अबाधित विषयक- जहाँ हेतु का साध्य दूसरे प्रबल प्रमाण से खण्डित न हो- जैसे अग्निरनुष्णः कृतकत्वात् - यहाँ कृतककत्व हेतु का साध्य (अनुष्णता) स्पार्शन प्रत्यक्ष से खण्डित हो रहा है, अतः यह शुद्ध हेतु नहीं है।

विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य के अनुसार व्याप्ति तथा पक्षधर्मता विशिष्ट सत् हेतु होता है।[४] यह सद् हेतु ३ प्रकार का होता है, १- अन्वयव्यतिरेकी २. केवल व्यतिरेकी ३. केवलान्वयी। (१) अन्वय व्यतिरेकी हेतु- जिस हेतु के साथ अन्वयं व्यतिरेकी, दोनों व्याप्तियों का सम्बन्ध हो, जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात्' में 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्नि' में अन्वयव्याप्ति।

(२) व्यतिरेक व्याप्ति-जहाँ हेतु के साथ साध्य का सम्बन्ध न बने जैसे- 'यत्र वह्निर्न भवति, तत्र धूमोऽपि न भवति।' इस तरह 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् आत्मवत्' में कृतकत्व शुद्ध हेतु है।

(३) केवल व्यतिरेकी हेतु-जहाँ हेतु के साथ केवल व्यतिरेक व्याप्ति का सम्बन्ध बने, क्योंकि अन्वय-व्याप्ति का अभाव होता है। जैसे- 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्'।

यहाँ प्राणादिमत्व हेतु के साथ केवल व्यतिरेकव्याप्ति का सम्बन्ध बनता है, अन्वयव्याप्ति का नहीं। जैसे-'यत्र सात्मकं न भवति तत्र प्राणादिमत्वं न भवति।' यहाँ जीवच्छरीरं पदं के अन्तर्गत होने पर पुनः दृष्टान्त नहीं बनता।

(४) केवलान्वयी हेतु-जिस हेतु के साथ एक मात्र अन्वयव्याप्ति का सम्बन्ध बनता है, जैसे- 'शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् यथा घटः' यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति का सम्बन्ध बनाने के लिए दृष्टान्त नहीं मिलता जैसे-यत् अभिधेयं न भवति, तत् प्रमेयं न भवति - इसमें दृष्टान्त का अभाव है।

आचार्य विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य भी ३ प्रकार का अनुमान (हेतु) मानते हैं।[५] हेतु के लक्षण स्वरूप मान्य पञ्चरूपता के स्थान पर वैशेषिक बौद्ध तथा सांख्य त्रैरूप सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। उनके सत् हेतु के प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण- केवल ये ३ रूप ही हैं। प्रसिद्ध रूसी विज्ञानी डॉ० शरवउत्सकी ने यह सिद्ध किया है कि वैशेषिकों पर बौद्ध प्रभाव है। बौद्धों के अनेक ग्रन्थों जैसे - अभिधम्म-कोष, प्रमा-समुच्चय, न्याय-प्रवेश, न्याय-बिन्दु, हेतु-बिन्दु, तत्त्व-संग्रह आदि त्रैलप्य सिद्धान्त का ही समर्थन मिलता है।[६] डॉ० दास गुप्त के

---

४. सद्धेतुश्च व्याप्तिः पक्षधर्मताविशिष्ट हेतुः न्या० सि०मु०पृ० ५६

५. वही, पृ० १७७-७८

६. बुद्धिष्ट लाजिक, पृ० २४

अनुसार 'हेत्वाभास' का अर्थ है- 'हेतु का मिथ्या आभास' जो वास्तव में हेतु नहीं है- में उसको भ्रान्ति से हेतु माना जाय। इससे सही अनुमान पर नहीं पहुँचा जा सकता।[७]

डॉ० राधा कृष्णन् के अनुसार हेत्वाभास तब होते हैं, जब ज्ञानोत्पादक शक्तियों के मार्ग में हस्तक्षेप होता है। न्याय हेत्वाभासों के विषय का विस्तृत विवेचन करता है।[८] इस प्रकार इन सत् से भिन्न अन्य हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। इनके पाँच भेद हैं-असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम एवं कालात्ययापदिष्ट या बाधितविषय। गौतम प्रणीत न्याय-सूत्रों के भाष्यकार आचार्य वात्स्यायन भी इन ५ हेत्वाभासों को मानते हैं। विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य ने हेत्वाभास के अन्तर्गत-अनैकान्तिक, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष, कालात्ययापदिष्ट को माना है।[९]

हेत्वाभासों का स्वरूप

१.सव्यभिचारी या अनैकान्तिक हेत्वाभास- जो हेतु व्यभिचार से युक्त हो अर्थात् जो हेतु साध्य या साध्य के अभाव में एक जगह न रहे इसे सव्यभिार हेत्वाभास कहते हैं।[१०] एकस्य साध्यस्य साध्याभावस्य वा अन्ते अधिकरणमात्रे यस्तिष्ठति स एकान्तः। तदन्यः अनैकान्तिकः।[११] सव्यभिचार या अनैकान्तिक - ये दोनों पर्यायवाची शब्द है। इसके साधारण, असाधारण अनुपसंहारी ये ३ भेद हैं।

(क) साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास-जो हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, तीनों में रहे जैसे-'शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत्' यहाँ प्रमेयत्व हेतु आकशादि नित्य तथा पृथ्वी आदि अनित्य आदि में भी है। अतः शुद्ध हेतु ने होकर अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

(ख) असाधारण हेत्वाभास-जो हेतु सपक्ष, विपक्ष दोनों से व्यावृत होकर केवल पक्ष में रहे, जैसे- 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' यहाँ शब्दत्व जाति आकाश नित्य तथा घटादि अनित्य पदार्थों से पृथक् होकर केवल पक्ष शब्द में रहती है।

(ग) अनुपसंहारी हेत्वाभास-जो अन्वय-व्यतिरेक दृष्टान्तों से रहित हो, उस हेतु का अनुपंसहारी हेत्वाभास कहते हैं। जैसे सभी वस्तुएँ अनित्य है, क्योंकि वे प्रमेय है। सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्।[१२]

---

७. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलास्फी वॉल्यूम-प्रथम १९८८ पृ० ३२६

८. इण्डियन फिलास्फी - वाल्यूम द्वितीय, ७२ पृ० ११७

९. अनैकान्तिको विरुद्धश्चाप्यसिद्धा प्रतिपक्षतः। कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासस्तु पंचधा न्या० मु० पृ० ७१

१०. व्यभिचारः एकत्रव्यवस्था। न्यायभाष्य।

११. विवरणकार (खद्योतटीका)।

१२. तर्क-संग्रह।

२. विरुद्ध हेत्वाभास- जो साध्य के अभाव के साथ व्याप्त हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।[१३] आचार्य केशवमिश्र के अनुसार जो साध्य के विपर्यय के साथ व्याप्त हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।[१४] जैसे- 'शब्दो नित्य: कृतकत्वात्' यहाँ कृतकत्व हेतु शब्द में साध्य नित्यत्व क विपरीत अनित्यता के साथ व्याप्त है। अत: इसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार जो सिद्धान्त को स्वीकार करके उसका विरोध करने वाला हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते है।[१५] जैसे-'शब्द: नित्य: अस्पर्शत्वात्' अर्थात् स्पर्श गुण से रहित होकर शब्द नित्य होता है। जैसे स्पर्श गुण से युक्त घट अनित्य होता है। अत: स्पर्श रहित गुण के कारण शब्द नित्य होता है। विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य के अनुसार साध्य का व्यापकीभूत जो अभाव, उस अभाव का प्रतियोगी जो हेतु हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।[१६]

३-सत्यप्रतिपक्ष या प्रकरणसम- आचार्य अन्नंभट्ट के अनुसार जिस हेतु के साध्य अभाव को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु हो- इसी को प्रकरणसम कहते हैं। जैसे (१) शब्दो नित्य: श्रावणत्वात् शब्दवत् (२) शब्दो नित्य: कार्यत्वात् घटवदिति। यहाँ श्रावणत्व हेतु के सथ नित्यता का अभाव सिद्ध करने वाला कार्यत्व दूसरा विरोधी हेतु विद्यमान है। न्यायभाष्यकार के अनुसार निर्णय के लिए जहाँ विमर्श से युक्त कोई विचार प्रयुक्त होता है, उसे प्रकरणसम कहते हैं। जैसे शब्द का नित्यत्व एवं अनित्यत्व।[१७] विश्वनाथ पंचानन के अनुसार साध्य के अभाव--साधक प्रति हेतु को सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहते हैं।[१८] केशवमिश्र के अनुसार जहाँ साध्य के विपरीत बात को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु हो।[१९]

४-बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट -अन्नभट्ट के अनुसार जिसके साध्य का अभाव दूसरे प्रबल प्रमाण (प्रत्यक्ष)से होता है, उसे बाधित विषय या बाधित हेत्वाभास कहते हैं अर्थात् जिस हेतु का विषय (साध्य) दूसरे प्रबल प्रमाण से बाधित होता है।[२०] जैसे- वह्निरनुष्ण: द्रव्यत्वात् - यही द्रव्यत्व हेतु से वह्नि में साध्य अनुष्णता का स्पार्शन प्रत्यक्ष (प्रबल) प्रमाण से बाध्य (खण्डन) होता है। इसी को कालात्ययापदिष्ट या कालातीत भी कहते हैं। जैसे- 'नित्य: शब्द: संयोगविरहितत्वात्।' यहाँ शब्द के साध्य नित्यता का हेतु संयोग से

---

१३. अन्नंभट्ट, तर्कसंग्रह।
१४. न्या० भास पृ० ९४
१५. सिद्धान्तमभ्युपेत्य मद्विरोधी विरुद्ध: न्यायभाष्य १.२.३
१६. न्या० सि० मु० पृ० ७३
१७.न्या० भ० १.२.७
१८. न्या० सि० मु० पृ० ७३
१९. त० भा० पृ० ९५
२०. न्या० सि० मु० का० ६८

व्यञ्जित होना है। परन्तु यह अशुद्ध हेतु है, क्योंकि जिस समय शब्दश्रवण होता है, उस समय मेरुदण्ड का संयोग नहीं, अपितु विभाग होता है, क्योंकि दण्ड के मेरु से विभाग होने पर ही शब्द सुनाई पड़ता है-'सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येति, न संयोगनिर्मिता भवति।[२१]

५-प्रसिद्ध या साध्यसमः न्या० भा० के अनुसार जो हेतु साध्य तथा पक्ष दोनों में अनिश्चित होता है। उसी को साध्यसम या असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।[२२] डॉ० सी०डी० शर्मा इसको अनप्रूव्ड मिडिल कहते हैं। जैसे- 'द्रव्यं छाया गतिमत्वात्' अनुमान वाक्य में छाया को द्रव्य कहते हैं, क्योंकि यह गति से युक्त है, छाया पक्ष में द्रव्यता साध्य है, हेतु गतिमत्ता है। परन्तु वार्तिककार उद्योतकर[२३] के अनुसार आवरण द्रव्य से खिसकने पर जो छाया खिसकती प्रतीत होती है, वह प्रतीतिमात्र है। वस्तुतः छाया नहीं खिसकती और न तो उसमें गति होती है।

केशवमिश्र के अनुसार लिङ्ग रूप से असिद्ध हेतु को असिद्धि हेत्वाभास कहते हैं। इस असिद्ध हेत्वाभास के ३ भेद होते हैं। (१) आश्रयसिद्ध- जिस हेतु का आश्रय या पक्ष असिद्ध हो जैसे-'गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' यहाँ अरिवन्दत्वात् हेतु गलत है, पक्ष (आश्रय) की दृष्टि से। क्योंकि आकाश में कोई कमल नहीं खिलता।

(२) स्वरूपासिद्ध- जो हेतु स्वरूप की दृष्टि से गलत हो उसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे- 'शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात् रूपवदिति।' यहाँ शब्द (पक्ष) में साध्य अनित्यता का हेतु चाक्षुषत्व (चक्षु से गृहीत होना) स्वरूप की दृष्टि से अशुद्ध है, क्योंकि शब्द चक्षु से नहीं बल्कि श्रोत्र से गृहीत होता है। अतः चाक्षुषत्व स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

(३) व्याप्यत्वासिद्ध-(क) केशव मिश्र आदि के अनुसार जहाँ हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का बोधक (ज्ञापक) कोई प्रमाण न हो उसे व्याप्ति दृष्टि से गलत हेतु या हेत्वाभास कहते हैं। डॉ० सी०डी० शर्मा इसे Conditional middle कहते हैं। जैसे-'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' में सत्य हेतु और क्षणिकत्व साध्य का बोधक कोई प्रमाण नहीं हैं। न्यायमत में शब्द एक क्षण से अधिक स्थिर रहता है, अतः क्षणिक नहीं।

(ख) जब हेतु और साध्य के बीच कोई उपाधि हो, तब उसे व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे- 'देवदत्तो श्यामो मैत्रीतनयत्वात्, क्रत्वन्तवर्तिनी हिंसा अधर्मसाधने हिंसात्वात्।' यहाँ मैत्रीतनयत्व हेतु श्यामत्व

---

२१. न्याय० भा०१

२२. साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः न्या० भा० १.२.३

२३. आवरके द्रव्ये प्रसरति तेजसोऽसंनिधिः विशिष्टं द्रव्यं यदुपलभ्यते सदैव छायेत्युच्यते इत्यादि वार्तिके स्पष्टम् - न्या० सू० भा० १.२.८

साध्य के बीच शाकाद्यन्न परिणाम उपाधि है तथा हिंसात्व हेतु के साथ निषिद्धत्व उपाधि वर्तमान है। अत: ये दोनों शुद्ध हेतु न होकर व्याप्ति की दृष्टि से अशुद्ध हेतु हैं।

हेत्वाभास के स्वरूप एवं संख्या में मत वैभिन्य

प्राचीन न्यायसूत्रों के प्रणेता महर्षि गौतम (अक्षपाद) ने निम्न हेत्वाभासों को मान्यता दी है, जिन्हें सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम एवं कालातीत कहते हैं। इन्हें तर्कभाषाकार श्री केशव मिश्र अनैकान्तिक, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध एवं कालात्ययापदिष्ट या बाधितविषय कहते हैं। आचार्य केशव मिश्र ने हेत्वाभासों का क्रम इस प्रकार किया है- असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम, कालात्ययापदिष्ट

(१) आचार्य श्री केशव मिश्र ने सर्वप्रथम असिद्ध हेत्वाभास का उल्लेख किया है। परन्तु इसे न्यायभाष्य में साध्यसम नाम दिया गया। यदि हम असिद्ध के स्थान पर साध्यसम स्वीकार करें, तो असिद्ध के तीन भेद-आश्रय, स्वरूप, व्याप्ति, की दृष्टि से असिद्ध का कहीं भी उल्लेख नहीं है, न न्यायसूत्रों में और न न्यायभाष्य में।

दूसरी बात यह है कि साध्यसम का जो उदाहरण वात्स्यायनभाष्य में है, वह तर्कभाषा के उदाहरण से भिन्न हैं, जैसे-'द्रव्यं छाया गतिमत्वात्' हेतु में छाया पक्ष द्रव्य साध्य एवं गतिमत्व हेतु है, परन्तु न्यायमत में छाया द्रव्य नहीं है, न तो उसमें गति है।[२४] आवरक द्रव्य के चलने से उसमें गति होती है, अत: छाया में गति न होने के कारण यह साध्यसम हेत्वाभास है।

(२) श्री केशव मिश्र सव्यभिचार तथा अनैकान्तिक दोनों को एक हेत्वाभास मानते हैं। परन्तु इसके जो-जो भेद साधारण अनैकान्तिक हैं, वे न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य में उपलब्ध नहीं हैं।

(३) विरुद्ध एवं प्रकरणसम- तर्कभाषा तथा न्यायभाष्य दोनों ग्रन्थों में समान नाम है। परन्तु प्रकरण सम का दूसरा नाम सत्प्रतिपक्ष- न्यायसूत्र या भाष्य में उपलब्ध नहीं हैं।

(४) न्याय के समान वैशेषिक दर्शन में हेतु के ५ रूपों की जगह केवल ३ रूप माने गये हैं, अत: विरुद्ध, असिद्ध, असंदिग्ध, केवल ये ३ हेत्वाभास हैं।[२५]

न्याय- वैशेषिक के आचार्य (गौतम तथा कणाद) दोनों के अनुयायी या सर्वज्ञ ५ के अतिरिक्त अनध्यवसित को छठा हेत्वाभास कहते हैं।[२६]

---

२४. द्रष्टव्य-न्या० भा० १.२.३ आधुनिक विचारकों ने अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से साध्यसम का नाम असिद्ध, सव्यभिचार, अनैकान्तिक, प्रकरणसम, सत्प्रतिपक्ष, कालातीत, बाधितविषय रखा है।

२५. विरुद्धासिद्धसंदिग्धमलिङ्गंकाश्यपोऽब्रवीत् - प्रश० पा० भा० पृ० ४८०

२६. असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-अनध्यवसित-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमा - न्याय-सार।

बौद्ध आचार्य दिङ्नाग (५०० वि०सं०) ने अपने न्याय-प्रवेश ग्रन्थ में असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैकान्तिक तीन ही हेत्वाभास स्वीकार किये हैं। सांख्यकारिका की टीका माठरवृत्ति में भी इन्हीं तीन हेत्वाभासों का उल्लेख है। जैनदर्शन के आचार्य सिद्धसेन (४८०-५५०ई०) तथा वादिदेव ने भी इन्हीं तीन हेत्वाभासों को माना है।[२७]

पाश्चात्य मत- पाश्चात्य तर्कशास्त्र में हेत्वाभास के लिये पद अर्थात् किसी नियम भंग के कारण उत्पन्न अशुद्धि को हेत्वाभास कहते हैं। यूनानी विद्वान् अरस्तु के अनुसार हेत्वाभास दो प्रकार के हैं। १. भाषा के कारण, २. विचार के कारण। भाषाश्रित हेत्वाभास छ: प्रकार का एवं विचाराश्रित चार प्रकार का है।

तर्कभाषा में असिद्ध के ३ भेद हैं, परन्तु वैशेषिक दर्शन में इसके ४ भेद होते हैं- उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, तद्भावासिद्ध, अनुमेयासिद्ध।[२८]

इस प्रकार न्यायदर्शन में अनुमान-प्रमाण में हेतु की महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ हेत्वाभास का ज्ञान नितान्त उपयोगी है, क्योंकि हेतु के यथार्थ ज्ञान के लिए हमें हेतु विषय असत् ज्ञान हटाने के लिए हेत्वाभास का भी स्वरूप परिचय होना अपरिहार्य है।

---

२७. दे० धर्मकीर्ति - प्रमाण वार्तिक - ६.४१

२८ दे० माठरवृत्ति, उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धि: संदिग्धासिद्ध: आश्रयासिद्धश्चेति।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१२१-१२८)

कालिदास और प्रसाद का सौन्दर्यबोध
(अभिज्ञान शाकुन्तलम् और कामायनी के सन्दर्भ में)

डॉ० सत्य प्रकाश शर्मा

कालिदास एवं जयशंकर प्रसाद - दोनों को ही भारतीय साहित्य में मूल्यवान् स्थान प्राप्त है। दोनों ही महान् नाटककार एवं महान् कवि हैं। वे भारतीय संस्कृति, सौन्दर्य, शिवता एवं कर्म के उपासक एवं गायक हैं। दोनों का ही सौन्दर्य बोध शिवमय है, अस्तु, आनन्द का विधायक है। कालिदास के काव्य में सौन्दर्य के लिए मनोज्ञ, मधुर, मनोहर, रमणीय, चारु, ललित, सुभग, रमणीयता, माधुर्य, चारुता एवं लालित्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। वे निसर्ग के कवि हैं, इसलिए जहाँ सहजता हो, चित्त को बरबस हर ले, उसी की उन्हें तलाश है, तथा वही उनके काव्य में विद्यमान भी है। वे कृत्रिमता में सौन्दर्य मानते ही नहीं हैं-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।[१]

कालिदास इसी सम्पूर्ण मधुर के उपासक एवं गायक है, जिसके लिए प्रत्येक वस्तु शोभा बन जाती है। चन्द्रमा में कलंक मनोरम हो जाता है तथा कमल से आविष्ट शैवाल में भी मनोरमता आ जाती है। कालिदास के सौन्दर्य मात्र कायिक नहीं हैं। वहाँ भावों का औदात्त्य, हृदय की विशालता है। उनका प्रेम उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित है, वह बाह्य न होकर आन्तरिक है, असीम है और उज्ज्वल है, इसीलिए उनका सौन्दर्य भी विराट् है और वैराट्य से साक्षात्कार कराने वाला है। दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर बरबस ब्रह्मा का स्मरण करने लगता है। कामुकता का वहाँ जन्म नहीं है, वहाँ तो दिव्यता है, सुध-बुध को हर लेने वाला इन्द्रजाल है-

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥[२]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.२०
२. वही, - २.९

प्रसाद जी के प्रेम का धरातल भी उच्च है, उनका सौन्दर्य भी उदात्त है। उनके यहाँ प्रेम में समर्पण एवं त्याग है। निष्कपटता एवं निश्छलता प्रेम की पहली शर्त है। प्रेम पथिक में वे कहते हैं-

प्रेम पवित्र पदार्थ न उसमें कहीं कपट की छाया।

उसका सीमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे।

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करनी होगी।

तब तुम प्रियतम स्वर्ग बिहारी होने का सुख पाओगे।

प्रेम सौन्दर्य में जन्मता है। यद्यपि प्रेम का आधान कुरूपता में भी हो सकता है। परन्तु उसका कारण लोभ, वासना या स्वार्थ होगा। प्रसाद जी सौन्दर्य को कायिक मानते ही नहीं हैं। डॉ० पुरुषोत्तम गणेश सहस्रबुद्धे का विचार है- 'उचितसन्निवेश अथवा सुश्लिष्ट संगठन ही कला सौन्दर्य की आत्मा है। सभी कलाओं का यह समान धर्म है। इस सुसंगति अथवा रचना को देखकर दर्शक के मन में जो भावना जाग्रत होती है, उसे सौन्दर्य कहते हैं।[३] प्रसाद जी भी सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानते हैं-

उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।

जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।।[४]

हृदय में प्रेम के आधान का द्वार रूप ही है। रूपलिप्सा मन में आकर्षण का भाव भरती है, कौतूहल की सृष्टि करती है तथा प्रेम को पुष्ट करती है। अतः सौन्दर्य के सभी चितेरों में रूपचित्रण का मोह संवरित नहीं हो पाता है। शकुन्तला के रूप से प्रभावित दुष्यन्त के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह किसकी भोग्या बनेगी-

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररूहै-

रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं

न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।[५]

यह जिज्ञासा भक्तप्रवर महाकवि सूरदास के यहाँ भी है। यमुना के तट पर पीतवसन से आवृत, लम्बी वेणी, वाली राधा को देखकर नागर श्रीकृष्ण अपनी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए राधा से पूछ बैठते हैं

बूझत स्याम कौन तू गौरी?

कहाँ रहति काकी तू बेटी, देखी नहिं कबहूँ ब्रज खोरी?

श्रद्धा के रूप वैभव को देखकर मनु के मन में भी कौतूहल की सृष्टि होती है-

---

३. रस चिन्तन के विविध आयाम, सं० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० १९३

४. कामायनी लज्जा सर्ग, पृ० ५२

५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् २.१०

एक झिटका सा लगा सहर्ष, निरखने लगे लुटे से कौन-

गा रहा यह सुन्दर संगीत? कुतूहल रह न सका फिर मौन[६]

नारी के रूप वर्णन में कालिदास की दृष्टि जितनी रमी है, प्रसाद की दृष्टि भी उतनी ही रूप स्नात है। आँसू एवं कामायनी दोनों की नायिकाओं के रूप-ऐश्वर्य अत्यन्त प्रभावकारी एवं मनोहारी हैं-

(क) चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी

उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।[७]

(ख) और उस मुख पर वह मुस्क्यान! रक्त किसलय पर ले विश्राम।

अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।।[८]

लहर की नायिका का रूप है-

अधरों में राग अमन्द पिये, अलकों में मलयज बन्द किये।

अधरों में राग और अलकों में मलयज-कालिदास की याद दिलाते हैं। शकुन्तला के अधर भी किसलयवत् रागिमा से आपूरित हैं-

अधर: किसलय राग: कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।

कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्।।[९]

कालिदास की नायिकायें धातुनिर्मित आभूषणों से अपना श्रृंगार नहीं करती हैं। वे अशोक, कुरबक, शिरीष, कमल आदि से अपने को सजाती-संवारती हैं। पतिगृह के गमन के अवसर पर शकुन्तला का श्रृंगार प्रकृति करती है-

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतररुणा मांगल्यमाविष्कृतं

निष्ठ्यूतश्चरणोपभोग सुलभो लाक्षारस: केनचित्।

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-

र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभि:।।[१०]

जीवन से पराङ्गमुख कहलाने वाली अध्यात्मवादी महादेवी की श्रृंगार भावना भी अद्भुत है, जो कालिदास से मेल खाती है। मानो उन्हीं को याद कर वे कहती हैं-

---

६. कामायनी, पृ० २९

७. आँसू, पृ०-१४

८. कामायनी, पृ० ३०

९. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - १.२१

१०. वही, - ४.४

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगन्धा का पराग
यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कबरी संवार।[११]

कालिदास और प्रसाद की रचनाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न युगों की सृष्टि हैं, परन्तु प्रेम एवं सौन्दर्य के विषय में वे असाधारण रूप से समान हैं। कालिदास से प्रसाद तक आते-आते जीवन का दायरा संकुचित हुआ। प्रकृति से मानव का सम्बन्ध विच्छिन्न होता गया, नारी पराधीन होती गयी, वह चहारदीवारी में कैद होकर रह गयी। उसके प्रसाधन की सामग्रियों में परिवर्तन हुआ, प्राकृतिक आभूषणों का स्थान कृत्रिम गहनों ने ले लिया। प्रसाद ने इस कृत्रिमता को जान लिया था, इसलिए उन्होंने भी नारी का श्रृंगार प्राकृतिक आभूषणों से किया है। श्रद्धा के सौन्दर्य के लिए जिन उपमानों का प्रयोग किया गया है, वे प्रकृति से ही हैं-

कुसुम वैभव में लता समान, चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।
मधु पवन क्रीडित ज्यों शिशु साल, सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।[१२]

इन दोनों महान् रचनाकारों की माधुर्यदृष्टि का प्रमुख आयाम है- अन्योन्यता का अर्थ है- एक दूसरे के लिए पूरक होना। यह अन्योन्यता ही प्रेम को तीव्र बनाती है, उसमें समर्पण का भाव जगाती है, उत्सर्ग का भाव लाती है तथा उसे उदात्त स्वरूप प्रदान करती है। इसी अन्योन्यता के कारण ही शकुन्तला को शाप का भागी होना पड़ता है।

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न सा बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।[१३]

पूरक होने का यह भाव ही मानव के लिए समन्वय, सामञ्जस्य, समरसता एवं आनन्द की पृष्ठभूमि तैयार करता है। विरह विदग्ध दुष्यन्त के इस चिन्तन में यही भाव विद्यमान है-

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
श्रृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।[१४]

---

११. सन्धिवी, पृं० १०३
१२. कामायनी, पृ०-२९
१३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४.१
१४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ६.१७

काले हिरण की नुकीली सींग पर अपनी बायीं आँख रगड़ती हुई हिरनी। सींग जितनी कठोर एवं नुकीली है, आँख की पुतली उतनी ही कोमल है, परन्तु हिरनी को विश्वास है कि उसका हिरन सींग हिला ही नहीं सकता है। यह अद्भुत विश्वास ही कालिदास के प्रेम को अमर बनाता है॥

कविवर प्रसाद ने भी समर्पण, त्याग, उत्सर्ग, सेवा, परोपकार आदि दिव्यवृत्तियों को हृदय की भाव-निधियाँ बताया है। समर्पण करने के लिए कोई उद्यत तभी होगा, जब सुख-दुःख में साथ देने का विश्वास होगा। श्रद्धा इसी विश्वास के बल पर मनु का सहचर बनने का प्रस्ताव रखती है।

समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार।
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।[१५]

समर्पित होने से पूर्व कामगोत्रजा श्रद्धा काम से विरत मनु को आकर्षण, काम एवं भोग से युक्त जीवन के प्रति उल्लसित होने को कहती है। कामना करती है कि मनु आत्मविस्तार करें। आत्मविस्तार तभी होगा, जब श्रृंगार पूर्ण होगा और श्रृंगार के लिए उक्त भावों का होना अपरिहार्य है। साहचर्य होने पर काम का भाव उत्पन्न होना सहज है। लहर के एक गीत में प्रसाद जी ने कहा है-

उस दिन जब जीवन के पथ में,
फूलों ने पंखुरियां खोलीं
आंखे करने लगी ठिठोली
हृदयों ने न सम्हाली झोली
लुटने लगे विकल पागल मन।[१६]

हृदय लुटने के लिए विवश हो जाता है। मन को सम्बोधित करते हुए प्रसाद जी कहते हैं-

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिनकर
यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू फिर क्यों उठता है पुकार।
मुझको न मिला रे कभी प्यार॥[१७]

---

१५. कामायनी, पृ०-३३
१६. लहर, पृ०-१६
१७. लहर, पृ०-३१

श्रद्धा मनु को तो आनन्दलोक ले ही जाती है, स्वयं काम भी समय–समय पर आत्मा की आवाज बनकर जीवन का सन्देश दे जाया करता है। मनु के जीवन वन में यह मधुमय बसन्त चुपके से प्रवेश कर जीवन को पूर्णतः प्रभावित कर देता है। वैदर्भी रीति को पुष्ट करने वाले महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव काव्य में काम का प्रभाव स्थावर जंगम पर इस प्रकार दिखाया है–

तं देशमानोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने।
कष्टागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया बभूवुः॥

जड़–चेतन सभी परस्पर अनुकूल जोड़े को देखकर श्रृंगार की दशा में वर्णन करने लगे। यही नहीं विश्व व्यास ब्रह्म भी **'एकोऽहं बहुस्याम्'** के रूप में 'काम' (इच्छा) की भावना से प्रेरित होकर सृष्टि रचता है–

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥[१८]

यह काम मनु की दशा को विचित्र बना देता है–

श्रुतियों में चुपके-चुपके से कोई मधुधारा घोल रहा है,
इस नीरवता के परदे में जैसे में कोई कुछ बोल रहा है।
है स्पर्श मलय के झिलमिल सा संज्ञा को सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किये तन्द्रा को पास बुलाता है।[१९]

मनु के मन की यह दशा अत्यन्त गूढ़ है। प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित सीधी कामोत्तेजना से इसकी कोई तुलना नहीं है।

कालिदास एवं प्रसाद दोनों की सौन्दर्य प्रतिमाओं को प्रकृति के वातावरण से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता है। उनके प्रेम की सीमा मानवमात्र तक न होकर पशु जगत् तक विस्तीर्ण है। शकुन्तला का हिरनप्रेम किसी को भी प्रभावित करने में समर्थ है। वह हिरनी के घायल मुख में इंगुदी का तेल लगाती है, बच्चे की तरह उसका पालन करती है–

यस्यत्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धतको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥[२०]

शकुन्तला की भाँति श्रद्धा भी हिरन को पालती है, उसके साथ क्रीडा में रत रहती है। हिरन की सहज क्रीड़ा उसे अत्यधिक प्रसन्न करती है–

---

१८. ऋ०१०.१२९.४
१९. कामायनी, पृ०–३६
२०. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – ४.१३

चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अङ्ग,
स्नेह से करता चमर-उद्ग्रीव हो वह संग।
कभी पुलकित रोम राज से शरीर उछाल
भाँवरों से निज बनाता अतिथि सन्निध जाल।।[२१]

श्रद्धा मनु की हिंसाप्रवृत्ति का विरोध करती है। मनु दिन भर पशुओं का शिकार करते हैं। श्रद्धा प्रतिरोध करते हुए करती है–

दिन भर थे कहाँ भटकते तुम बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह
यह हिंसा इतनी प्यारी है जो भुलवाती है देह-गेह।
चमड़े उनके आवरण रहें, ऊनों से मेरा चले काम।
वे जीवित हो मांसल बन कर, हम अमृत दुहें, वे दुग्ध-धाम।[२२]

नारीसौन्दर्य उस व्यापक सौन्दर्य का एक अङ्गमात्र है, जो सम्पूर्ण प्रकृति में बिखरा हुआ है। कालिदास एवं प्रसाद दोनों ही प्रारम्भ से प्रकृति के प्रेमी रहे हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रकृति का बहुविध चित्रण किया है। कामायनी में हिमालय, समुद्र, रात्रि, सन्ध्या आदि का बहुत ही प्रभावकारी एवं रमणीय चित्रांकन हुआ है। मेघदूत और कुमारसम्भवम् हिमालय के सुन्दर चित्रों के धनी है। कामायनी से हिमालय का एक चित्र प्रस्तुत है–

छूने को अम्बर मचली सी बढ़ी जा रही सतत ऊँचाई।
विक्षत उसके अङ्ग, प्रगट थे भीषण खड्ड भयंकारी खाई।
रविकर हिमखंडों में पड़कर हिमकर कितने नये बनाता,
द्रुततर चक्कर काट पवन भी फिर से वहीं लौट आ जाता।[२३]

वस्तुतः अभिज्ञानशाकुन्तलम् और कामायनी दोनों ही सृष्टियाँ आशा और प्रमोद के वातावरण से प्रारम्भ होकर नियति के गम्भीर प्रवाह में प्रविष्ट होती हुई प्रतीत होती हैं और फिर एक अद्भुत प्रत्यभिज्ञा से परिचालित होकर स्वर्गीय आनन्द की भूमिका पर पहुँचती हैं। दोनों कवियों के काव्य में सौन्दर्य का चित्रण जितना आदर्शवादी हुआ है, प्रेमाभिव्यक्ति भी उतने ही आदर्शवादी धरातल पर हुई है। दोनों की ही भूमिका उदात्त है। इस उदात्तवृत्ति ने प्रसाद एवं कालिदास को ऐसी सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि दी है कि उन्होंने नारी के चटकीले रंगों के साथ ही सूक्ष्म रेखाओं और वर्णच्छटाओं चित्रांकन में भी सफलता प्राप्त की है। इसी उदात्तवृत्ति के कारण उन्हें प्रेम की बारीक से बारीक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की शक्ति मिल गई। परिणामतः वे प्रेम का

---

२१. कामायनी, पृ०-४२
२२. कामायनी, पृ०-६८

२३. कामायनी, पृ०-३१

ऊँचा आदर्श प्रस्तुत कर सके। हम यह कह सकते हैं कि दोनों ही महाकवि सौन्दर्य-चित्रण की अपनी प्रतिभा में महान्, अप्रतिम और अपराजेय हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१२९-१४४)

वाल्मीकि के राजा राम की महामानवता

डॉ. मृदुला जोशी

महाकवि वाल्मीकि राम की महामानवता के कायल हैं। राम के मर्यादित रूप में उन्होने उन गुणों का समुच्चय दिखलाई दिया हैं जो एक मनुष्य को श्रद्धा के उच्च शिखर पर आरूढ़ कर सकता है। सत्य, निष्ठा, न्याय, सहानुभूति, दया, धर्म, परोपकार, आज्ञापालन, विनय व नीति के अधिवक्ता के रूप में राम अनुकरणीय है। वाल्मीकि रामायण में सर्वाधिक सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण चरित्र राम का है। राम में कौन से महामानवीय गुण हैं, जिससे वे राजा बनने के उपयुक्त ठहराये गये, आइये इस पर विचार करें-

१. सत्यवादी

राजा के लिए **'एव ह्यस्य सूनृता'**[१] व **'तेन सत्येन जागृतम्'**[२] सदा मधुर और सत्य वचन बोलने वाला तथा सदा सत्य में जागने वाला कहा है। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर उसे **'सत्य योनिः'**[३] भी कहा गया है। यजुर्वेद के एक मन्त्र का वचन है-'जो ऋत, सत्य को जीतने वाला तथा उत्तम सेना वाला है, मित्रों को समीप रखने वाला तथा शुत्रओं से दूर रहने वाला है, वही गणनीय प्रशंसनीय है।'[४]

वाल्मीकि के राम सत्य तथा प्रतिज्ञा-पालन के दो महान् व्रतों को धारण किये हैं। **'रामो द्विर्नाभि भाषते'**[५] अर्थात् वे कभी दो बातें नहीं कहते। सत्य-निष्ठा व प्रतिज्ञा-निर्वाह उनके दो श्लाघनीय व्रत हैं। जाबालि राम को अयोध्या-प्रत्यावर्तित करने के लिए अनेक युक्तियों का सहारा लेते हैं, किन्तु राम का तो अटल वचन है-

नैव लोभान्न मोहाद्वा ह्यज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः।[६]

वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि न तो लोभ से, न मोह से, न ही अज्ञान से मैं सत्य के सेतु को तोड़ूँगा। यह बात सर्वविदित है कि राम को सत्य-पालन व धर्म से विरत करने की शक्ति किसी में नहीं है-

---

१. ऋग्वेद १.८.८
२. ऋग्वेद १.२१.६
३. ऋग्वेद ४.१९.२
४. वा०स० १७.८३; तै० सं० ४.६५.६; मैं सं० २.६.६, २.११.१; कां० सं० १८.६
५ वा०अयो०१५.१७
६. अयो० ७७.२३

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव।

विनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन॥[७]

सीता द्वारा क्षत्रिय धर्मानुकूल प्रतिज्ञा-पालन से विरत करने के प्रयत्न में वे गरज उठते हैं-

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।

न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥[८]

सीता व लक्ष्मण का साथ वे भले ही छोड़ दें, किन्तु प्रतिज्ञा छोड़कर वे सत्य से विरत कदापि नहीं हो सकते। राम की सुग्रीव के समक्ष भी कुछ ऐसी ही भंगिमा है-

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न वक्ष्ये कदाचन।

एतन्ते प्रति जानामि सत्येनैव च ते शपे॥[९]

'मैने अपने जीवन में मिथ्या-भाषण न पहले किया है न आगे करूँगा।' ऐसी उद्घोषणा दृढ़ संकल्पशील ही व्यक्ति ही कर सकता हैं।

इसलिए तो नारद उन्हें **'सत्यसन्धश्च'**[१०] की उपाधि दे डालते हैं। अयोध्याकाण्ड के द्वितीय सर्ग में राजा दशरथ के राज-सभा में पूछने पर कि राम को राजा क्यों चुनना चाहते हैं- सभी सभासदों का एक मत है कि-

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यो धर्मपरायणः।

साक्षाद्रामाद्विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह॥[११]

सत्यपरायण राम लोक में वस्तुतः श्रेष्ठ पुरुष हैं, क्योंकि उन्हीं से धर्म और अर्थ की प्रतिष्ठा हुई है। दशरथ स्वयं मानते हैं कि राघव नें **'सत्येन लोकाञ्जयति'**[१२] सत्य द्वारा ही प्रजा को वश में कर रखा है। कैकेयी के समक्ष उन्मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए वह कह उठते हैं-

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।

विद्या च गुरुः शुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे॥[१३]

---

७. अयो० २८.२८

८. अरण्यकाण्ड १०.१९

९. कि० का० ७.१९

१०. बांल का० १.१२

११. अयो० २.२०

१२. अयो० ११.१६

१३. अयो० ११.२९७

दान, तप, त्याग, मैत्री, पवित्रता, विद्या व गुरु-सेवा के साथ-साथ 'सत्य' भी राम में निश्चित रूप से विद्यमान हैं। राम तो सत्य को धर्म की प्रथम धुरी के रूप में देखते हैं-**'धर्म सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम्।'**[१४]

राम ने स्वयं सत्य को राजा के आवश्यक गुणों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है-

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।

तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोक: प्रतिष्ठित:॥[१५]

अर्थात् सत्य और दयालुता यही राजाओं का परम्परागत सदाचार है। इसीलिए राजा सत्यरूप ही कहलाता है। सत्य के आश्रय से ही यह संसार टिका हुआ है।

२. पराक्रमी

श्रेष्ठ राजा को अद्भुत पराक्रमी होना चाहिए। वेदों में राजा को **'अप्रतिधृष्टशवसम्'**[१६] (जिसके शवस् अर्थात् बल का कोई घर्षण न कर सके) **'वीरतमाय नृणाम्'**[१७] (जो मनुष्यों में सबसे अधिक वीर हो), **'शूर'**[१८] (जो शूरवीर हो,) **'उग्रम्'**[१९] (जो उदूर्ण बल वाला हो), **'व्याघ्रं ..... सिंहम्......, द्विपिनम्'**[२०] (जो व्याघ्र, सिंह, चीते के समान पराक्रमी है।) **वृद्धवृष्णः**[२१](जिसका बल बढ़ा-चढ़ा हो। **शक्रम्**[२२] (जो शक्तिशाली हो)(जो शक्तिशाली हो,) **सुवीर:**[२३] **असमं क्षत्रम्**[२४] (जिसके बराबर क्षात्र-शक्ति अर्थात् क्षत्रियोचित गुण किसी में न हो) व **सहस्रशृंगो वृषभः**[२५] आदि विशेषणों से पुकारा गया है।

राम स्थान-स्थान पर अतुलित पराक्रम, शौर्य और बल का प्रर्दशन करते दृष्टिगोचर होते हैं। विश्वामित्र बालकाण्ड में ही उन्हें काकपक्षधारी शूरवीर के सम्बोधन से अभिहित करते हैं।[२६]

---

१४. अयो० ७७.२४
१५. अयो० ७७.१८
१६. ऋ० १.८४.२
१७. ऋ० ३.५२.१
१८. ऋ० ४.२२.५
१९. ऋ० १०.४४.३
२०. अर्थववेद ४.८.७
२१. अर्थववेद ७.६२.१
२२. अर्थववेद ७.८६.१
२३. अर्थववेद १३.१.१२
२४. ऋ० १.५४.८२
२५. अर्थववेद १३.१.१२
२६. बालकाण्ड ११.५

बालकाण्ड के त्रयोदश सर्ग में विश्वामित्र मुनि द्वारा प्रदत्त बला और अतिबला नामक विद्या को हस्तगत करके तो वे प्रचण्ड पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं। वाल्मीकि के राम 'महादित्य, दण्डचक्र, कालचक्र, विष्णु चक्र, ऐन्द्रास्त्र, वज्रास्त्र, महादेवास्त्र, ब्रह्मशिर, ऐषीक, मोदकी, शिखरी, धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, शुष्क-आर्द्र अशिनियों, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, अतिशिरास्त्र, क्रौंचास्त्र, कंकाल, मुसल, कपाल, कंकण, विद्याधर, प्रस्वापन, प्रशमन, सौम्य, वर्षण, शोषण, सन्तापन, विलापन, मदनास्त्र, पैशाचास्त्र, तामस महाबली, सौमन, संवर्त्त, दुर्धर्ष, मरणास्त्र, मायाधर, तेजप्रभ, सोमास्त्र, शिशिरास्त्र, त्वाष्ट्रास्त्र, शीतेषु और मानव' नामक विविध अस्त्रों के संचालन में निपुण हैं।[२७] विश्वामित्र द्वारा राम को उपर्युक्त अस्त्र दान कर और उनके संचालन में निपुण दिखाकर रामायणकार ने राम की शूरवीरता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। वे निर्भीकता पूर्वक घोषणा करते हैं-

'गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः॥[२८]

ताडका को मारने के लिए समुत्सुक वह देश के निवासियों को सुखी तथा गो-ब्राह्मण का हितसाधन करना चाहते हैं। निडर राम केवल यह जानना चाहते हैं कि किस समय उनका नाश करना हैं-

भगवंश्रोतुमिच्छावो यस्मिन्काले निशाचरौ।
संरक्षणीयौ तो ब्रह्मन्नातिवर्तेत तत्क्षणम्॥[२९]

अनेक राक्षसों को मार गिराने पर मुनिजन राम की वन्दना वैसे ही करते हैं जैसे असुरों को मारने पर इन्द्र देवताओं में पूजित हुए थे-

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञहनान् रघुनन्दनः।
ऋषिभिः पूजितस्तनाययेन्द्रो विजये पुरा॥[३०]

विश्वामित्र स्वयं उन्हें साधुवाद देते हैं।

कृतार्थोऽस्मि महाबालो कृतं गुरुवस्त्वया।
सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः॥[३१]

---

२७. वा० रा०.बालकाण्ड .१७
२८. वा० रा०.वा० का०. १६
२९. वा० का०, १९-सर्ग.२
३०. बा० रा०.बालकाण्ड .१४
३१. वा० रा०.बालकाण्ड.१९

जनक ने राम के पराक्रम की प्रशंसा **'अत्यद्भुतमचिन्त्यं च अतर्कितमिदं'**[३२] कह कर की है। राम स्वयं परशुराम से **'पश्यामोऽद्य पराक्रमम्'**[३३] कहकर उचित अवसर पर क्रोधप्रदर्शन से भी नहीं चूके हैं।[३४] रामायणकार उन्हें-

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथ: सम्मत:।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारद:॥[३५]

कहकर उन्हें धनुर्विद्या विशारदों में श्रेष्ठ, अतिरथों में पूजित, शुत्रओं पर आक्रमण तथा प्रहार करने वाले और सैन्यसंचालन में कुशल माना है। यही नहीं, उन्हें **'पुरुषव्याघ्र:'**[३६] **'महाबाहो'**[३७] **'नरव्याघ्र'**[३८] **'उदग्र विक्रम:'**[३९] सम्बोधन देकर उनकी पराक्रमशीलता का ही संकेत दिया है। राक्षसों के साथ अनवरत युद्ध में राम ने अपने अद्धितीय शौर्य का ही परिचय दिया है। अरण्यकाण्ड के निम्न श्लोक इसके प्रमाण में प्रस्तुत किये जा सकते हैं-

तत: पश्चान्महातेजा नाराचान् सूर्यसममिमान्।
मुमोच राघवो बाणान् वज्रानिव शतक्रतु:॥[४०]

अर्थात् उन राक्षासों के आक्रमण करने पर महातेजस्वी श्रीराम ने सूर्य के समान देदीप्यमान विना फर के बाण राक्षसों पर उसी प्रकार छोड़े जिस प्रकार इन्द्र अपना वज्र चलाते हैं। तब राम ने भी अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने धनुष को मण्डलाकार कर तीखे बाणों की झड़ी लगा दी।[४१]

युगपत्यतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम्
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाऽभवत्॥[४२]

---

३२. वा० रा०.बालकाण्ड २६.१५
३३. वा० रा०.बालकाण्ड ३५.३
३४. ब्राहमणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्र कृतेन च। तस्माच्छक्तो न ते रामं मोक्तुं प्राणहरं शरम्।'' बालकाण्ड, ३५.६
३५. अयो० का० १.१२
३६. अयो० का० ३८.१
३७. अयो० का० ३८.६
३८. अयो० ३८.१६
३९. अरण्य० २७.२
४०. अरण्य का० १४.६
४१. ततो राम: सुसंक्रुद्धो मण्डली कृतकार्मुक:। ससर्ज निशितान् बाणांशताशोऽथ सहस्रश:।''अरण्यकाण्ड १६.१३
४२. अरण्य १६.२१

रामायणकार कहते हैं उन बाणों से कितने ही राक्षस एक साथ गिर पड़ते, कितने ही अत्यन्त आहत होते और बहुत एक साथ ही मूर्छित होकर गिर पड़ते थे। उन राक्षसों के शरीरों से वह रणस्थली ढ़क गयी थी। दूषण को मारते हुए राम के अद्भुत पराक्रम की चर्चा वाल्मीकि ने विस्तार से की है।[४३] इसी प्रकार त्रिशरा- वध व खर-वध के प्रसङ्ग आये हैं।[४४] यह राम की वीरता की पराकाष्ठा ही है कि खर-दूषण सदृश मुख्य राक्षसों सहित चौदह सहस्र घोर कर्म करने वाले राक्षसों को उन्होंने तीन ही घड़ी (लगभग सवा घण्टे) में मार डाला।[४५] अकम्पन राम के इसी कौशल की चर्चा करते हुए रावण द्वारा उन्हें रण में अविजित मानते हैं-

असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः।
आपगायाः सूपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः।
न हि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं त्वया युधि।
राक्षसां वाऽपि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव॥[४६]

अर्थात् महायशस्वी राम जब क्रुद्ध होकर संग्राम में खड़े हों, तब उनका सामना करना असाध्य है। बाण-विद्या में वे ऐसे निष्णात हैं कि जल से पूर्ण नदी के प्रवाह को अपने बाणों से रोक सकते हैं। सम्पूर्ण राक्षसों की सहायता से भी रावण, राम पर उसी प्रकार विजय नहीं पा सकता है, जैसे अधर्मी जन स्वर्ग नहीं जा सकते। कुछ ऐसे ही विचार मारीच के भी हैं। वह तो रावण को समझाने की चेष्टा करता है-

विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्तस्तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः।
उदीक्षितुं रावणेनेह युक्तः, स संयुगे राघवगन्धहस्ती॥[४७]

हे रावण! विशुद्ध वंश में उत्पन्न होना ही जिसकी लम्बी सूँड है, प्रताप जिसका मद है, जिसकी दोनों भुजाएँ ही हाथी के विशाल दाँतों के तुल्य हैं, ऐसे रामरूपी गन्ध-हस्ती को संग्राम में कोई देख भी नहीं सकता, लड़ना तो दूर की बात है। वैदेही द्वारा शंकाकुल होने पर लक्ष्मण राम को तीनों लोकों में अपराजेय मानते हैं-

पन्नगासुरगन्धर्वदेवमानुषराक्षसैः।
अशक्यस्त्वं वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः।
त्रिभिर्लोकैः समुद्युक्तैः सैश्वरैरपि सामरैः।

---

४३. अरण्य १६.३-११
४४. अरण्य का० १८.५-२३
४५. रामस्योपरि संदृष्टा ववृषुर्विस्मितास्तदा। अर्धाधिकमुहूर्तेन रामेण निशितैः शरैः। चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणान्। खरदूषणमुख्यानां निहतानि महाहवे।'' अरण्यकाण्ड २०.२१-२२
४६. अरण्यकाण्ड २१.सर्ग, १०-११

४७. अरण्यकाण्ड २१.२७

हृदयं निर्वृत्तं तेऽस्तु सन्तापस्त्यज्यतामयम्॥[४८]

(हे वैदेहि! पन्नग, असुर, गन्धर्व, देव, दानव, राक्षस इनमें से कोई भी श्रीराम को जीत नहीं सकता। यदि तीनों लोक और समस्त देवताओं सहित इन्द्र मिलकर श्रीराम के समक्ष आ जाएँ तो भी वे राम पर विजय नहीं पा सकते। अत: तुम अपने हृदय को स्वस्थ बनाओ और संताप को त्याग दो।) उन्हें तो संसार में ऐसा कोई राक्षस दृष्टिगोचर ही नहीं होता, जिससे राम भयभीत हों।[४९] रावण के भ्राता विभीषण भी राम के अद्भुत पराक्रम के समक्ष नतमस्तक हैं-

को ब्रह्मदण्डप्रतिमप्रकाशानर्चिष्मत: कालनिकाशरूपान्।
सहते बाणान् यमदण्डकल्पान् समक्षमुक्तान् युधि राघवेण॥[५०]

अर्थात् जब राम युद्ध क्षेत्र में खड़े होकर ब्रह्मदण्ड अथवा कालाग्नि के समान चमचमाते हुए तीक्ष्ण बाणों को छोड़ेंगे तब यमदण्ड के समान उन बाणों को कौन सहन कर सकेगा? रावण द्वारा प्रेषित दूत सारण प्रत्यावर्तित होकर राम की प्रशंसा इन शब्दों में करता है-

यादृशं तस्य रामस्य रूपं प्रहरणानि च।
वधिष्यति पुरीं लंकामेकस्तिष्ठन्तु ते त्रय:॥[५१]

जिस प्रकार राम का रूप है, जैसे उनके हथियार हैं उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि अकेले राम लंका नष्ट कर देंगे। लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण की सहायता की उन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। यह है राम के पराक्रम के प्रति सारण का दृढ़ विश्वास। ऐसा विश्वास विना किसी दृढ़ आधार के नहीं हो सकता।

३. अद्वितीय गुणसम्पन्न

वेदों में राजा को 'धीषु प्रथमं,[५२] विश्ववित्,[५३] तीक्ष्णे नाग्ने चक्षुषा,[५४] 'असमा मनीषा',[५५] 'असमं क्षत्रम्',[५६] 'सुसंदृशम्'[५७], 'जातवेदा:'[५८], 'वेधा:'[५९], 'शतक्रतो'[६०], 'रथीतमं रथीनाम्'[६१], 'नृणां नृतम:'[६२], 'सतां

---

४८. अरण्यकाण्ड २९.१९-२०
४९. न तत्पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत्'' अरण्यकाण्ड ३४.१४
५०. वा० रा०.युद्धकाण्ड ११.१३
५१. युद्धकाण्ड २०.२५
५२. ऋ० ८.७१.१२
५३. ऋग्वेद १०.९१.३
५४. ऋ० १०.८७.९
५५. ऋग्वेद १.५४.८
५६. ऋग्वेद १.५४.८

ज्येष्ठतमाय'[६३], 'विद्वान्'[६४], 'विप्र:'[६५], 'नृचक्षा:'[६६], 'विपश्चितम्'[६७] 'विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता'[६८] आदि विशेषणों से संयुक्त किया है। स्पष्ट है कि अद्वितीय गुणों से सम्पृक्त व्यक्ति को ही राजा बनाया जाता होगा। उसे अद्भुत मेधा सम्पन्न, सर्वज्ञ, विद्वान्, पारखी, रण-कुशल होने के साथ-साथ सभी प्रकार के कार्य सम्पन्न करने में सर्वोत्कृष्टता का प्रमाण देना भी अनिवार्य रहा होगा। वाल्मीकि के राम अद्वितीय गुणों से सम्पृक्त है। रामायणकार के शब्दों में

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः।।[६९]

अर्थात् राम सभी शास्त्रों के तत्त्वों को भली-भाँति जानने वाले, उत्तम स्मरण शक्ति संयुक्त, प्रतिभाशाली, सर्वप्रिय, सज्जन, कभी दीनता न दिखाने वाले, लौकिक तथा अलौकिक क्रियाओं में कुशल हैं। यही नहीं वे-

प्रजापति समः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता।
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः।।[७०]

राम प्रजापति ब्रह्म के समान प्रजा के रक्षक है। वे अतिशोभावान् और सबके पोषक हैं। वे शत्रु के नाशक, प्राणिमात्र के रक्षक और धर्म प्रवर्तक हैं। वे प्रजा-पालक, स्वजन पालक, वेद-वेदाङ्गों के मर्मज्ञ और

---

५७. ऋग्वेद १.८२.३
५८. ऋग्वेद १.५९.५
५९. ऋग्वेद १.६०.२
६०. ऋग्वेद १.३०.६
६१. ऋग्वेद १.११.१
६२. ऋग्वेद १.१७.४
६३. ऋग्वेद २.१६.१
६४. ऋग्वेद ३.१४.२
६५. ऋग्वेद ३.१४.५
६६. ऋग्वेद २.१५.३
६७. ऋग्वेद १.१.४
६८. ऋग्वेद १.११.४
६९. वाल्मीकि रामायण. बालकाण्ड १.१५

७०. बालकाण्ड १.१३-१४

धनुर्वेद में निष्णात हैं अर्थात् शास्त्र और शस्त्र दोनों विद्याओं में पारङ्गत हैं। राम तो तेजस्वियों में भी तेजस्वी, चन्द्र के समान शीतल एवं सर्वप्रिय हैं-

तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः।

इष्टः सर्वलोकस्य शशांक इव निर्मलः।।'[७१]

अनेक अवसरों पर तो वे पिता से भी बढ़-चढ़कर हैं-

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्सा वेदवित्।

इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः।।[७२]

'असमं क्षत्रम्' व **'रथीतमं रथीनाम्'** के अनुरूप वे धनुर्विदद्या विशारदो में श्रेष्ठ, अतिरथों से पूजित, शत्रुओं पर आक्रमण तथा प्रहार करने वाले और सैन्य-संचालन में कुशल हैं-

धनुर्वेद विदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथः सम्मतः।

अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः।।[७३]

राम तो दिव्य गुणों से अलंकृत हैं-

गुणान्गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः।[७४]

अन्यत्र भी उन्हें **'दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो'**[७५] कहकर इन्द्र के समान दिव्य गुणों से युक्त माना है। प्रजा को सुख देने में चन्द्रमा तुल्य, क्षमा, दान में पृथ्वी के समान, बुद्धि में बृहस्पति तुल्य और पराक्रम में साक्षात् इन्द्र तुल्य कहकर अधिकांश श्रेष्ठ गुणों को राम में ही समाहित कर लिया गया है-

प्रजा सुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः।

बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षात्छचीपतेः।।[७६]

'सतां ज्येष्ठतमाय' उक्ति को सार्थक करते राम अनेक सद्गुणों की खान हैं-

सत्यवादी मेहष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।

स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः।।[७७]

---

७१. वा० रा०, बालभाग ९.१६

७२. वा० रा०, अयो०वा० १.१२

७३. अयो० १.१३

७४. अयो० २.१८

७५. अयो० २.१९

७६. अयो० का० २.२१

७७. अयो० का० २.२४

वे सदा सत्य बोलने वाले, महाधनुर्धर, वृद्धों की सेवा करने वाले, जितेन्द्रिय, हंसकर बोलने वाले और सब प्रकार के धर्म का सेवन करने वाले हैं। सर्वोपरि वे उदारचेता हैं, दूसरों के सुख से सुखी व दूसरों के दुःख से दुःख से दुःखी होने वाले हैं-

व्यसनेषु मनुष्याणां भृषां भवति दुःखितः।

उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।।[७८]

राम इतने गुणवान् हैं कि उनकी धुर विरोधी मंथरा तक मानती है कि वे परम चतुर और समयानुसार तुरन्त कार्य करने वाले हैं-

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।[७९]

उनके इन्हीं गुणों के कारण ही मुक्त कण्ठ से कैकयी ने उनकी प्रशंसा करते हुए राजा पद के सर्वथा योग्य ठहराया है-

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्शुचिः।

रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति।।[८०]

दशरथ भी केवल कुल-परम्परा का निर्वहण करते हुए ज्येष्ठ पुत्र को राज्य हस्तगत नहीं कराना चाहते। वे तो राम में असीम संभावनाओं को देख रहे हैं। उन्हें तो राम **'महर्षिसमस्तेजसि'**[८१] ही नहीं।

क्षमा यस्मिन् दमस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता।

अविहिंसा च भूतानां तमृतं का गतिर्मम।।

के अनुसार क्षमा, तप, त्याग, सत्य भाषण, धार्मिकता, कृतज्ञता, प्राणियों के प्रति अहिंसा आदि अनेक गुणों के समुच्चय दिखायी पड़ते हैं। भ्राता भरत ने भी राम को **'चन्द्रार्कसमतेजसम्'**[८२] अर्थात् सूर्य चन्द्र के समान तेजस्वी बताया है। विपरीत से विपरीत स्थिति भी उन्हें विवेकपूर्ण निर्णय से पराङ्मुख नहीं कर सकती

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।

अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः।।'[८३]

---

७८. अयो० का० २.२३

७९. अयो० का० ७.५

८०. अयो० ७.१०

८१. अयो० ११.१८

८२. अयो० ५८.२५

८३. अयो० ७९.१३

भरत से वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि भले ही चन्द्रमा चन्द्रिका को छोड़ दे, हिमालय हिम को छोड़ दे और हो सकता है समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़कर सीमा लाँघ जाये, परन्तु मैं पिता से की गई प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता। यही नहीं, विना कोई द्वेष-ग्रन्थि वाले वे भरत को यहाँ तक समझाते हैं-

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।

न तन्मनासि कर्त्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥[८४]

हे तात! तुम्हारी माता ने चाहे तुम्हारे स्नेहवश अथवा लोभवश तुम्हें राज दिलाने का जो काम किया है, इस बात को मन में मत रखना और उनके साथ सम्माननीय व्यवहार रखना। **'असमा मनीषा'** की उक्ति को चरितार्थ करते हुए राम इतने विवेकी, जागरूक तथा ज्ञानी हैं कि प्रतिपल, प्रतिपग सूक्ष्मतातिसूक्ष्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने की क्षमता रखते हैं। वे वनवासावधि में किसी को भी अपना प्रतिनिधि बनाना नहीं चाहते, क्योंकि प्रतिनिधि बनाना निन्दित कर्म है।[८५]

माता-पिता के प्रत्येक कृत्य को उचित ठहराने व उनमें किसी भी प्रकार के अवगुण न देखने के पीछे भी उनकी अद्वितीयता की झलक मिलती है। वे जानते हैं कि माता-पिता सम्यक् लालन-पालन कर पुत्र पर जो उपकार करते हैं, उसका किसी प्रकार भी प्रतिकार नहीं किया जा सकता।[८६]

अथर्ववेद में राजा के लिए **'चेत्ता'**[८७] **'चिति संज्ञाने'** अर्थात् ज्ञानवान् होना आवश्यक है। जाबालि द्वारा भरत-प्रदत्त राज्य स्वीकार करने के सुझाव को राम ने दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर, अपने ज्ञानी होने का परिचय दिया है।[८८] राम स्पष्ट रूप से कहते हैं कि लोगों में संकरता बढ़ाने वाले धर्म के वेश में आपके अधार्मिक उपदेश को यदि मैं मान लूँ तो मैं शुभ कर्म को त्यागकर वेदविरुद्ध, विधिहीन कर्म करने के पाप का भागी बन जाऊँगा। फिर कार्य-अकार्य को जानने वाला कौन ज्ञानी पुरुष लोक को दूषित करने वाले आचारहीन मुझको सम्मान की दृष्टि से देखेगा।[८९] इस तरह से राम **'जागृह्यप्रयुच्छन्'**[९०] अर्थात् जो सदा जागरूक होने की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। इसीलिए जाबालि ने स्वयं भी स्वीकारा हैं- **'प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेर्मनस्विनः।'**[९१] अर्थात् आप

---

८४. अयो० ७९.१४

८५. उपधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः। युक्तिमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम्।'' अयो० का० ७९.२९

८६. यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा। न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् '' अयो० का० ७८.२९

८७. अथर्व ४.८.२

८८. अधर्मो धर्मवेषेण यथाहं लोकसंकरम्। अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम्'' अयो० ७७.१४ ६;
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः। बहुमन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम्'' अयो० ७७.१५

८९. अयो० ७७.१४-१५

९०. अथर्ववेद २.६.३

९१. अयो० ७७.२

तो श्रेष्ठ बुद्धि वाले ही नहीं अपितु मनस्वी भी हैं। वे जीव-जगत् की क्षण-भंगुरता को भी भली-भाँति समझते हैं, इसीलिए तो अधर्म, अनीति और असत्य से वे कोसों दूर हैं, अयोध्याकाण्ड के ७४ वें सर्ग के ८ वें श्लोक से लेकर २६ वें श्लोक तक लगता है कि कोई तत्त्वज्ञ और ज्ञानीपुरुष ही अपनी ही अपनी गुरु गम्भीर वाणी में शाश्वत सत्य को उद्घाटित कर रहा है। कतिपय उद्धरण निम्नवत् हैं-

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासद्य कंचन॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विना भवः॥

जैसे महासमुद्र में लहरों के द्वारा एक काष्ठ दूसरे काष्ठ के साथ मिल जाते है और फिर समय पाकर अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही स्त्री-पुरुष, भाई-बन्धु, धन-सम्पत्ति समय से प्राप्त होते हैं, फिर इनका वियोग भी हो जाता है, क्योंकि इनका वियोग निश्चित है।

सुग्रीव ने भी लक्ष्मण की प्रशंसा करते हुए राम को **'विख्यातस्य स्वकर्मणा'**[९२] (अपने अद्भुत कर्मों द्वारा संसार में प्रसिद्ध) माना है।

४. रूपवान्

ऋग्वेद में राजा के गुणों **'पुरुरूप'**[९३] अर्थात् देखने में सुन्दर होना तथा **'अभयंकर'**[९४] कहकर सौम्य रूप होना भी स्वीकारा है। **'तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहु'**[९५] के आधार पर राजा को विस्तीर्ण ग्रीवा वाला, सुडौल और बलिष्ठ शरीर वाला होना चाहिए। उसकी वेश-भूषा भी आकर्षक होनी चाहिए। **'वस्त्राण्यध पेशनानि वसानः'**[९६] के आधार पर उसके वस्त्रालङ्कारों द्वारा राजकीय सत्ता के प्रभाव की झलक दिखाई पड़नी भी आवश्यक है। अथर्ववेद में इन्द्र के लिए **'हिरण्यवर्णः'**[९७] व ऋग्वेद में **'स्वोजा'**[९८] सम्बोधन आया है। स्पष्ट है कि राजा अतीव सुन्दर तो हो ही उसके चेहरे से तेज भी टपकना चाहिए।

---

९२. कि० का० २८.४
९३. ऋग्वेद ५.८.२
९४. अथर्व २.२३.२.१
९५. सृ० ८.१७.८
९६. ऋ० ७०.१.६
९७. ऋ० १९.२४.८
९८. ऋ० १०.२९.८

वाल्मीकि ने राम को **'पुरन्दर:'**[९९] कहकर इन्द्र के समान बताया है। राम के ओज का वर्णन **'रामं ज्वलिततेजसम्'**[१००] और **'सूर्यवर्चसम्'**[१०१] कहकर अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान कहकर किया है।

हनुमान् को प्रथम दर्शन में राम-लक्ष्मण सौन्दर्य में साक्षात् देवतुल्य प्रतीत हुए।[१०२] हनुमान् को उनके प्रथम दर्शन में प्रतीत होता है कि कही स्वेच्छापूर्वक सूर्य और चन्द्रमा तो इस धरा धाम पर नहीं उतर आये हैं। हनुमान् के कथन का अभिप्राय है कि उनका सौन्दर्य सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति को भी म्लान कर रहा है। उनको यह शंका होती है कि विशाल वक्षस्थलों से युक्त वे साधारण मनुष्य के रूप में कोई देवता तो नहीं है। अग्रिम पंक्तियाँ भी दोनों की आकर्षक देहयष्टि का विस्तृत वर्णन करती हैं-

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ।

आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहव: परिघोपमा:।।[१०३]

दूत सारण भी राम के अतुलनीय रूप से प्रभावित हैं-

यादृशं तस्य रामस्य रूपं प्रहरणानि च।

वधिष्यति पुरीं लंकामेकस्तिष्ठन्तु ते त्रय:'[१०४]

राम के अन्त:बाह्य रूप को अरण्यकाण्ड के द्वाद्वश सर्ग के ५/६/७ वें श्लोक में **'सुमुखं' 'विशालाक्षं' 'प्रतिरूपं' 'सुस्वरम्', 'तरुणम्', 'दयावतम्', 'प्रियम्'** इत्यादि सम्बन्धनों के माध्यम से प्रकट किया है।

५. मृदुभाषी

ऋग्वेद में राजा को शोभन बोलने वाला[१०५] और अथर्ववेद में **'वाचस्पते'**[१०६] कहकर राजा को प्रिय-मृदु और उपयुक्त वचन बोलने वाला माना हैं राम भी[१०७] अत्यन्त मृदुभाषी हैं।

---

९९. अयो० का० ६७.२

१००. अयो० का० ५.१

१०१. अयो० का० ९.८

१०२. यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुन्धराम्। विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ,''कि० का० २.१६

१०३. कि० का० २.१७

१०४. अयो० २०.२५

१०५. ऋ० ४.५०.७

१०६. १३.१.७

१०७. स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदु पूर्वं प्रभाषते। उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते। बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वाभाषी प्रियंवद:।' अयो०का० प्र०सं० २८

६.गृहस्थी

प्रियवत वेदवाचस्पति ने राजा के वैयक्तिक गुणों में ऋग्वेद के आधार से उसे **'गृहपति'**[१०८] होना भी आवश्यक माना है। राजा राम भी विवाहित हैं, शूर्पणखा द्वारा आमन्त्रण प्रस्ताव को ठुकराते हुए वे आदर्श पति की तरह स्वीकारते हैं- **'कृतदारोऽस्मि भवति भार्योयं दयिता मम'**[१०९] सदा राम एक पत्नीव्रत धर्म का पालन करते हुए पत्नी सीता के प्रति समर्पित रहे।

७.सर्वप्रिय

'अग्नि' के सम्राट् परक अर्थ लेते हुए[११०] राजा को प्रशंसित होना स्वीकारा है।[१११] राजा में प्रजा की बात सुनने का धैर्य, उन्हें श्रेष्ठ कर्मो के लिए प्रेरित करने की क्षमता व उनके कष्ट को जानने-समझने की योग्यता होनी चाहिए। वेदों में राजा के लिए **'ईड्य: वन्द्य: नमस्य:'**[११२] **'उपसंद्य'**[११३] माना है अर्थात् राजा ऐसा होना चाहिए जिसकी पूजा और वन्दना की जा सके और प्रजा को उसके पास जाने में आनन्द का अनुभव हो। राजा राम अपने इन्हीं गुणों के कारण सबको अत्यन्त प्रिय हैं। वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हित चिन्तक कवि हैं। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। भारतीय राजा दमनकर्त्ता नहीं हैं, अपितु वह तो प्रजा का रञ्जक, प्रकृति रञ्जक व उनका हित चिंतक है। वह **'अनुरक्त: प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरंज्यते'**[११४] प्रजा के प्रति अनुराग और प्रजा का अनुरञ्जन करने वाला है। राम सर्वगुण सम्पन्न है, इसीलिए समुद्र उनके प्रति अनुरक्त है[११५] जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं, उसी प्रकार उनके पास सदा सज्जनों का समागम रहता है। वे आर्य हैं, वे समदृष्टि, सदा प्रिय दर्शन हैं। भरत के इन शब्दों से भी राम की लोकप्रियता उद्घाटित होती है

> **जातश्च योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च न:।**
> **त्वामेव प्रतिकांक्षते पर्जन्यमिव कर्षका:।।**[११६]

---

१०८. ऋ० १.६०.४

१०९. अरण्यकाण्ड १२.२३

११०. अथा विश्वासु हव्योऽग्निर्विक्षु प्रशस्यते'' ऋ ०५.१७.४

१११. उपहूता: पितर: सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वहि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।'' ऋ० १०.१५.५; यजु०१९.३७, अथर्व १८.३.४५

११२. अथर्ववेद ६.९८.१

११३. अथर्ववेद ६.९८.१

११४. २.१.१४

११५. सर्वदाभिगत: सद्भि: समुद्र इव सिन्धुभि:। आर्य: सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शन:। बालकाण्ड प्रथम सर्ग.१६

११६. अयो० ७९.८

राम के शासन की प्रतीक्षा केवल बन्धु-बान्धव ही नहीं, सैनिक, इष्ट-मित्र, शुभ-चिन्तक सभी उसी उत्सुकता से कर रहे हैं, जैसे कृषक जल बरसाने वाले मेघ की प्रतीक्षा करते हैं। वसिष्ठ भी **'लोके हि न स विद्यते यो राममनुव्रत:'**[११७] कहकर राम की सर्वप्रियता का वर्णन करते हैं। प्रजाजनों के प्रीतिपात्र और स्वजनों के प्रिय राम तो रश्मियाँ से युक्त सूर्य की भाँति अलंकृत है।[११८] राम की सर्वप्रियता तो इसी तथ्य से अभिज्ञात होती है कि उनके राज्याभिषेक के प्रश्न पर समूची जनता आनन्दोत्साह से भर उठती है-**'स्निग्धोऽनुनाद: संज्ञे तत्र हर्ष समीरित:'**[११९] एक स्वर में ब्राह्मण, राजा और प्रधान अपनी इच्छा इन शब्दों में प्रदर्शित करते हैं-

इच्छामो हि महावाहुं रघुवीरं महावलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छात्रावृताननम्।।[१२०]

८.धर्मज्ञ

राजा को धर्मात्मा होना चाहिए। राम नित्य सन्ध्या कर ईश्वर उपासना करते हैं-**'स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जेपतु: परमं जपम्'**[१२१] राम विद्या स्नातक और व्रतस्नातक होते हुए वेदों को जानने वाले थे। वे धर्मज्ञ, सत्यवादी, शीलयुक्त, ईर्ष्यारहित, शान्त, दु:खियों को सान्त्वना देने वाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ और जितेन्द्रिय हैं।[१२२] कैकेयी के समक्ष राम स्वयं ही अपने को धर्मनिष्ठ बताते है।[१२३] और **'धर्मभृतांवर:'** (धर्मात्माओं में श्रेष्ठ)[१२४] राम धर्म को ही परम पुरुषार्थ स्वीकारते हैं-

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्म संन्द्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम्'[१२५]

निष्कर्षत: राम अकेले ही अनेक गुणों के समुच्चय हैं। उनकी धर्मपत्नी सीता मुक्त कण्ठ से हनुमान् के सम्मुख राम की प्रशंसा करते हुए कहती हैं-

उत्साह: पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता।

---

११७. अयो० का० ३१.२०
११८. दान्तै: सर्वप्रजाकान्तै: प्रीतिसंजननैर्नृणाम् गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्त: सूर्य इवांशुभि:।'' अयो० २.२६
११९. वा०रा०.अयो०का० .२.१०
१२०. अयो० .१९.१३
१२१. बालकाण्ड .१४.१३
१२२. धर्मज्ञ: सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयक:। क्षान्त: सान्त्वयिता श्लक्ष्ण: कृतज्ञो विजितेन्द्रिय:'' अयो०.२.२२
१२३. नाहमर्थवरो देवि लोकभावस्तु स्रेवते। विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्मस्थितम्''अयो० १.१६.१३
१२४. अयो० .२८.३०

१२५. अयो० .१९.६

विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे।।[१२६]

यही कारण है कि राम साधारण मानव न होकर महामानव या दिव्य पुरुष की कोटि में आ खड़े होते हैं।

१२६. वा०रा०सु०का० २४.११

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१४५-१५०)

वाल्मीकि रामायण में वैदिक न्याय एवं दण्डव्यवस्था

डॉ० लेखकराज शर्मा,

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितस्तु महीतले।

तावत् रामायणकथा प्रचलिष्यति भूतले।।

लौकिक संस्कृत में दिव्य राम कथा की श्रोतस्विनी प्रवाहित कर करोड़ों हृदयों को पावन करने वाले महर्षि वाल्मीकि हम सबके वन्दनीय हैं। संस्कृति, सभ्यता, दर्शन, शिक्षा, राजनीति आदि विविध विषयों का महर्षि ने मनोहारी चित्रण किया है।

आज भी कोटि-कोटि भारतीय रामायण में प्रतिपादित रामराज्य की प्रार्थना करते हैं; राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जीवन के अन्तिम क्षणों तक रामराज्य का सपना देखते रहे और हे राम! हे राम कहते हुए अपने प्राणों का परित्याग किया। आज जबकि राजनिति छल, छद्म, भ्रष्टाचार, जातिवाद, प्रान्तवाद और आतंकवाद से चरमरा रही है, ऐसे में हमारी दृष्टि सहज ही रामायण की राजनीति पर जाती है, प्राचीन काल में राजनीति शब्द का प्रयोग न होकर राजधर्म शब्द का प्रयोग किया जाता था, राजधर्म में न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज में न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था का भी विकास माना जा सकता है। राजशेखर के अनुसार मनुष्य दण्ड भय के फलस्वरूप ही अपने कार्यों में संलग्न रहता है।

वस्तुतः समाज को यदि दण्ड का भय न हो तो वह निश्चित रूप से विशृंखल हो जाएगा। प्राचीन काल से ही राजा धर्म अथवा कानून का संरक्षक माना जाता था और मर्यादा अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही उसे दण्ड देने का अधिकार प्रदान किया गया था। मनु के अनुसार प्रजापति ने प्रजा की रक्षा हेतु राजा की सृष्टि की और उसकी सहायता के लिए दण्ड की। रामायण कालीन समाज में भी न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था का समुचित रूप से प्रयोग करना ही राजा अपना प्रमुख कर्त्तव्य व पारलौकिक समृद्धि का साधन मानता था। जैसे:-

अपराधिषु यो दण्डः पातयते मानवेषु वै।

सदण्डो विधिवन्मुक्तः स्वर्गं नयति पार्थिवम्।।[१]

तत्कालीन समाज में यह मान्यता थी कि जो राजा प्रतिदिन पुरवासियों के न्याय सम्बन्धी कार्य नहीं करता, वह निःसंदेह सब ओर से निश्छिद्र अत एव वायु संचार से रहित घोर नरक में पड़ता है। जैसे:-

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने-दिने।

---

१. वा० रा० ७.७८.९

संवृत्ते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः।।[२]

अतः निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कार्यों में था। राजा ही न्याय का स्रोत माना जाता था तथा प्रारम्भिक एवं अन्तिम न्यायालय प्रजा के लिए राजा ही था।.

स्मृतियों का कहना है कि राजा अकेला न्याय नहीं कर सकता। उसे लोगों की सहायता से न्याय करना चाहिए। मनु एवं याज्ञवल्क्य का मत है कि राजा को विना भड़कीले वस्त्र धारण किये हुए विद्वान् ब्राह्मणों व मन्त्रियों के साथ न्यायकक्ष में प्रवेश करना चाहिए तथा उसे क्रोधपूर्ण मनोभाव एवं लालच से दूर हटकर धर्मशास्त्रों में कहे गए नियमों के आधार पर न्याय करना चाहिए। रामायण काल में भी उपर्युक्त मान्यता का पालन किया जाता था एवं शास्त्र सम्मत दृष्टि से ही अपराधी को दण्ड दिया जाता था। किष्किन्धा काण्ड में राम वाली से कहते हैं कि तुमने जैसा पाप किया है वैसा ही पाप प्राचीन काल में एक श्रमण ने किया था, जो शास्त्रों के अनुसार भी अभीष्ठ था। यथा-

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम्।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया।।[३]

अन्य कतिपय स्थलों पर भी राजा के द्वारा परम्परा से स्थापित राजधर्म के अनुसार न्याय शासन करने का वाल्मीकि ने उल्लेख किया है। उस समय में यदि श्रेष्ठ व्यक्ति भी घमंड में आकर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान खो बैठे और कुमार्ग पर चलने लगे तो उसे भी न्यायसंगत दण्ड देना आवश्यक माना जाता था। इस बात का स्पष्ट संकेत शत्रुघ्न की भरत के प्रति कही गई इस उक्ति से हो जाता है कि जब राजा दशरथ एक नारी के वश में होकर बुरे मार्ग में आरूढ़ हो गये थे तब न्याय और अन्याय पर विचार करके उन्हें पहले ही कैद कर लेना चाहिए था। सहायकों के रूप में भी राजा योग्य न्यायाधीशों द्वारा जांच पड़ताल कराए विना अभियुक्त को दण्ड नहीं देता था, क्योंकि समाज में यह प्रथा प्रचलित थी किं निरपराध होने पर भी जिन लोगों को मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उनकी आँखो से जो आँसू निकलते है, वे पक्षपात पूर्ण शासन करने वाले राजा के पुत्र और धन-धान्य का नाश कर डालते हैं। साथ ही राजा का यह भी कर्त्तव्य था कि भ्रष्ट न्यायाधीशों या अन्य किसी कारणवश जैसे लोभ-लालच आदि द्वारा अपराधी व्यक्ति दण्ड पाने से कहीं बच न जाए। असहाय, दरिद्र और साधन सम्पन्न धनी के बीच मुकदमों का फैसला निष्पक्षता से कराने का दायित्व राजा पर ही था।[४]

---

२. वा० रा० १.७.१६

३. वा० रा० ४.१८.३३

४. वा० रा० १.६.२८६; वा० रा० २.७८.३ ४; वा० रा० २.१००.५६-५९

तत्कालीन समाज में राजा का यह कर्तव्य था कि वह ऐसा प्रबन्ध करे कि जिससे शिकायत लेकर आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति न्यायालय में तुरन्त प्रवेश पा सके। राजा नृग ने अपने द्वार पर दो ब्राह्मणों को बहुत देर तक ठहराए रखा था। इस अपराध के लिए नृग को शाप का भागी बनना पड़ा।[५]

महाराजा राम के पूर्वज निमि ने भी ऐसा ही अपराध किया था। जब वसिष्ठ अपनी शिकायत सुनाने आए तो निमि सो रहे थे। तुरन्त सुनवाई न होने के कारण वसिष्ठ ने उनको शाप दे दिया।[६]

राम के शासन काल में इस प्रकार की सुव्यवस्था थी कि प्रजा को निष्पक्ष एवं तात्कालिक न्याय प्राप्त होता था। राजा का त्वरित एवं कठोर न्याय शासन लोगों को एक-दूसरे के अधिकारों का सम्मान काने को प्रेरित करता था।

सर्वेमुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्ती नाभ्यहिंसन् परस्परम्॥[७]

जिसके फलस्वरूप प्रजा मुकदमेबाजी का कम ही आश्रय लेती थी और परिणामतः रामराज्य की अदालतों में अधिक काम नहीं था। यथा:

दृश्यते न च कार्यार्थी रामे राज्यं प्रशासति।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा रामायैवं न्यवेदत्॥[८]

पाप एवं पुण्य के दृष्टिकोण से न्याय एवं दण्ड के सम्बन्ध में यह मान्यता थी कि यदि मनुष्य पाप करके राजा के दिए हुए दण्ड को भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा साधु पुरुषों की भाँति स्वर्गलोक में जाते हैं। चोर आदि पापी पुरुष राजा के राजदण्ड देने अथवा दया करके छोड़ देने पर अपने आप से तो मुक्त हो जाते हैं परन्तु यदि राजा अन्यायी को उचित दण्ड नहीं देता है तो उसे स्वयं उसके पाप का फल भोगना पड़ता है।[९] मनु ने भी उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार किया है। यथा-

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवा।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥[१०]

---

५. वा० रा० ७.५३.१६ १८
६. वा० रा० ७.५५.१५ १७
७. वा०रा० ६.१२८.१००
८. वा० रा० ५९.(१).१०
९. वा० रा० ४.१८.३१-३२
१०. मनु० ८.३.८

दण्ड देने में राजा को प्रमाद का त्याग करना पड़ता था। किए गए प्रमादरूप का प्रायश्चित करने पर राजा दोष मुक्त भी हो सकता था। यथा-

अन्येरपि कृतं पापं प्रमादैर्वसुधाधिपैः।

प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः॥[११]

दण्ड देना राजा का धर्म अवश्य माना गया है, परन्तु दण्ड सम्यक् न्यायोचित तथा पक्षपात रहित होना चाहिए। साथ ही साथ राजा को न्याय एवं दण्ड देते समय पूर्ण विवेक से सोचना चाहिए। एक ही अपराध के कारण लोगों का विनाश नहीं करना चाहिए। यथा-

नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि॥[१२]

किष्किन्धाकाण्ड में प्रसङ्ग आता है कि विद्वान राजा भरत महान धर्म से भ्रष्ट हुए पुरुष को दण्ड देते थे तथा धर्मात्मा पुरुष का धर्मपूर्वक पालन करते हुए कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषों के निग्रह में तत्पर रहते थे। यथा-

गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन्।

भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः॥[१३]

अरण्य काण्ड में लक्ष्मण भी राम से कहते हैं कि राजा लोग अपराध के अनुसार ही उचित दण्ड देने वाले, कोमल स्वभाव वाले और शान्त होते हैं। यथा-

युक्तदण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः।

सदात्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमागतिः॥[१४]

पथभ्रष्ट मानव को ही दण्ड देने का विधान था। अरण्यकाण्ड में ही रावण के द्वारा हरण की जाती हुई सीता भी विलाप करते हुए कहती है कि शत्रुओं को संताप देने वाले आर्यपुत्र आप तो कुमार्ग पर चलने वाले पुरुषों को दण्ड देकर उन्हें राह पर लाने वाले हैं, फिर ऐसे पापी रावण को क्यों नहीं दण्ड देते हैं? यथा-

ननु नामाविनीतानां विनेतासि परंतप।

कथमेवंविधं पापं न त्वं शाधि हि रावणम्॥[१५]

---

११. वा० रा० ४.१८.३४

१२. वा० रा० ३.६५.९

१३. वा० रा० ४.१८.२४

१४. वा० रा० ३.६५.१०

१५. वा० रा० ३.४९.२६

युद्धकाण्ड में भी राम रावण से कहते हैं मैं अपराधियों को ही दण्ड देने वाला शासक हूँ। तुमने जो मेरी भार्या का अपहरण किया है, इससे मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचा है। अत: तुम्हें उसका दण्ड देने के लिए मैं लंका के द्वार पर आकर खड़ा हूँ। यथा–

यस्य दण्डधरस्तेऽहं दाराहरणकर्शित:।
दण्डं धारयमाणस्तु लंकाद्वारे व्यवस्थित:।।[१६]

तत्कालीन समाज में यह मान्यता थी कि वन में दावानल स्पर्श करके भी संभव है वहाँ के वृक्ष खड़े रह जायें, परन्तु उचित राजदण्ड के अधिकारी अपराधी नहीं टिक सकते वे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। यथा–

अप्येव दहनं स्पृष्ट्वा वने तिष्ठन्ति पादपा:।
राजदण्डपरामृष्टास्तिष्ठन्ते नापराधिन:।।[१७]

वस्तुत:, जो दण्डनीय पुरुष को दण्ड देता है तथा दण्ड का अधिकारी होकर दण्ड भोगता है उनमें से दण्डनीय व्यक्ति अपने अपराध के फलरूप में शासक का दिया हुआ दण्ड भोगकर तथा दण्ड देने वाला शासक उसके उस फल भोग में निमित कारण बनकर कृतार्थ हो जाते हैं। अपना–अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेने के कारण दोनों ही कर्मरूप ऋण से मुक्त हो जाते हैं। अत: वे दु:खी नहीं होते। यथा–

दण्ड्ये य: पातयेद् दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते।
कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदत:।।[१८]

अपराध की कोटि में संक्षेपत: राजद्रोह, झूठी गवाही, कुमारिकाओं पर बलात्कार, पराई स्त्रियों का अपहरण, न्यास (ट्रस्ट) का दुरुपयोग, चोरी, डकैती, ब्रह्म–हत्या, सैनिकों को निर्धारित वेतन न देना, युद्ध में पीठ दिखाना, बालकों, स्त्रियों, वृद्धो और राजाओं की हत्या, आग लगाना, जलाशय में विष डाल देना व गुरु स्त्री गमन आदि थे।[१९]

उपर्युक्त कतिपय अपराधों का दण्ड यातना मात्र देने से लेकर प्राण दण्ड तक होता था। फांसी के लिए प्रात: काल का समय निर्धारित रहता था। सुन्दरकाण्ड में सीता विचार करती है कि दो मास की अवधि पूरी होने पर राक्षस रावण मुझे वैसे ही मृत्यु के घाट उतार देगा जैसे रात्रि के अन्त में चोर का वध कर दिया जाता है।[२०]

रामायण में वाल्मीकि ने कारागृहों के लिए बन्धन तथा बद्ध शब्दों का प्रयोग किया है। सीतान्वेषण में असफल अङ्गद भी एक स्थान पर कहता है कि सुग्रीव शठ, क्रूर और निर्दयी है। वह राज्य के लिए मुझे गुप्त

---

१६. वा० रा० ६.४१.६४
१७. वा० रा० ३.२९.१२
१८. वा० रा० ४.१८.६१
१९. 'रामायण कालीन समाज' डॉ० शान्ति कुमार नानूराम व्यास, पृ० –८०

२०. वा० रा० २.२८.७

रूप से दण्ड देगा अथवा सदा के लिए मुझे बन्धन में डाल देगा। अत: इस प्रकार बन्धन जनित कष्ट भोगने की अपेक्षा उपवास करके प्राण दे देना ही मेरे लिए श्रेयष्कर है।[२१]

जब अङ्गद जैसा युवराज भी यातनाओं के आतंक से भयभीत था तब कोई आश्चर्य नहीं यदि सामान्य अपराधियों पर उनका व्यापक प्रयोग किया जाता हो। अशोक वाटिका में विलाप करती हुई सीता ने भी कतिपय तत्कालीन यातना देने की पद्धतियों का उल्लेख किया है। यथा-

छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्तावाग्नौ प्रदीपिता।

रावणे नोपदिष्टेयं किं प्रलापेन वश्चिरम्।।[२२]

अर्थात् राक्षसियों तुम्हारे देर तक बकवाद करने से क्या लाभ, तुम मुझे छेदो, चीरो, टुकड़े टुकड़े कर डालो तो भी मैं रावण के पास फटक नहीं सकती।

यहाँ सीता ने शरीर को शूल से छेद डालना, या तलवार से दो भागों में काट डालना, कुल्हाड़ी से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालना, कैदी को आग पर सेकना या जला डालना आदि यातनाओं की ओर स्पष्ट संकेत ही किया है। उस काल में गला घोंट कर कैदियों को मार डालने का तरीका भी प्रचलित था।[२३] उपर्युक्त उद्धरणों से तत्कालीन समाज में प्रचलित न्याय एवं दण्डव्यवस्था का स्पष्ट बोध हो जाता है।

---

२१. वा० रा० ४.५५.१०-११

२२. वा० रा०

२३. वा० रा० ५.२४.४१ ततस्तु प्रधसा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत्। कण्ठमस्या नृशंसायाः पीडयामः किमास्यते।।

गुरुकुल-शोध भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१५१-१५६)

वेद में नारी की उच्च स्थिति और वाल्मीकि रामायण में नारी उत्पीड़न

डॉ० शिवनी विद्यालङ्कार

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:
यत्रैस्तास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:॥[१]

जहाँ नारियों की पूजा अर्थात् सम्मान दिया जाता है वहाँ देवता निवास करते हैं, परन्तु जहाँ उनका सम्मान नहीं करते अर्थात् अनादर ही होता है, वहाँ सारे अनुष्ठान तथा सारे पुण्य कर्मों का फल क्षीण हो जाता है। नारी के लिये कन्या, योषा, वामा, मानिनी, सुन्दरी, नारी और स्त्री इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्द वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त हुए हैं। उषा के लिए ऋग्वेद में 'सूनरी' शब्द प्राप्त होता है जिसका अर्थ शोभाशाली अथवा सुन्दरी है। स्त्री को देखकर पुरुष का हृदय द्रवित होता है-सुन्दरी का यही अर्थ है।

आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।[२]

स्त्री शब्द का अर्थ निरुक्तकार ने अर्थ किया है-**'स्त्रिय: स्त्यायते अपत्रपणकर्मण:'**[३] लज्जार्थस्य लज्जन्ते अपि हि ता: अर्थात् लज्जा ही जिसका आभूषण है। नारी की स्त्री संज्ञा उसके लज्जाशील प्रकृति के कारण ही है। ऋग्वेद में कहा है-**'अधा पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर'** अर्थात् साध्वी नारी तुम नीचे देखा करो ऊपर न देखो। पैरों को मिलाकर रखो।[४]

भारतीय संस्कृति में नारी को मातृदेव की संज्ञा से अभिहित किया है। वैदिक युग में नारी को दुहिता, पत्नी या माता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, क्योंकि कहा गया है- 'गृहिणी गृहमुच्यते।' स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी थी। इसके अतिरिक्त कुछ विदुषी नारियाँ अपने गुणों के कारण तथा मन्त्रों को साक्षात्कार करने के कारण ऋपिकाओं के पद को भी अलंकृत करती थीं। वैदिक काल में नारी की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। उन्हें वेद पढ़ने के साथ-साथ यज्ञोपवीत धारण करने तथा यज्ञ में ब्रह्मा बनने का भी अधिकार था। अपाला, विश्ववारा, घोषा लोपामुद्रा, इन्द्राणी, शचि, मैत्रेयी, गार्गी आदि अनेक विदुषी नारियाँ उस समय थीं, जिनमें बहुतों ने मन्त्रों का साक्षात्कार किया। वाल्मीकि रामायण के अनुसार सीता वैदिक प्रार्थना किया करती थी।[५]

---

१. मनु०३.५६
२. ऋ० १.४८.५
३. निरुक्त ३.३१.२
४. ऋ० ८.३३.१९
५. वाल्मीकि रामायण २.१५.४८

नारी की महत्ता को स्वीकार करने के कारण ही अपत्नीक को यज्ञ के अधिकार से वंचित कर दिया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है **'अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीक।**[६] उस समय नारी गृहलक्ष्मी थी। महनीय अवसरों पर उसकी सहमति सदा ली जाती थी। कन्याओं को उचित शिक्षा दी जाती थी कि वे दूसरे के घर जाकर अपना वर्चस्व बना सकें। इसलिये ललितकलाओं तथा संगीत, नृत्य आदि कलाओं का भी ज्ञान दिया जाता था। उदाहरण के रूप में कक्षीवान् की पत्नी घोषा है, जिसने अपनी तपस्या तथा मन्त्रदर्शन के बल पर अश्विनी देवों की अनुकम्पा से अधिक उम्र बीतने पर भी विवाह का सौख्य प्राप्त किया। कन्या बाल्यकाल में पिता के आश्रय में रहती थी और विवाह होने पर पति के घर में वह पतिव्रत धर्म का पूर्ण पालन करती थी।

ऋग्वेद में पति पत्नी से कहता है- प्रिय पत्नी हमें सन्तति दें, अर्यमा वृद्धावस्था तक हमें साथ रखें। वधू तुम मंगलमयी होकर पति के गृह में रहो घर के मनुष्यों और पशुओं के लिए कल्याणकारिणी बनो।[७] वह पति की सखा थी (सखे सप्त पदि भव।) वैदिक युग में जहाँ नारी को उच्च स्थान प्राप्त था। वहाँ रामायण तक आते आते, धीरे धीरे उसके उत्पीड़न की कथा आरम्भ हो जाती है। वाल्मीकि रामायण के अन्तर्गत नारी उत्पीड़न पारिवारिक सामाजिक, राजनैतिक तथा पाश्विक मानसिकता के रूप में दिखाई देता है। सर्वप्रथम नारी का उत्पीड़न परिवार में होता है। परिवार समाज की इकाई है। यदि एक इकाई पर असर पड़ता है तो समाज पर इसका प्रभाव पड़ना आवश्यक हो जाता है। वैदिक युग की नारी जहाँ परिवार को बाँधे रखने में सक्षम थी, वहीं इस युग में मंथरा द्वारा कैकेयी के मन में अविश्वास पैदा किया जाता है तथा दो वरों का स्मरण करा भरत के लिए राज्याभिषेक तथा राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास मांगा जाता है। परिवार में जब एक-दूसरे के प्रति अविश्वास तथा असूया भाव उत्पन्न होता है, तभी नारी का उत्पीड़न प्रारम्भ हो जाता है। कैकेयी की दुर्भावना के कारण माता कौशल्या का रुदन करुण क्रदन बनकर ध्वनित होता है- हाय जिसने जीवन में कभी दुःख नहीं देखा है, जो समस्त प्राणियों का सदा प्रिय वचन बोलता है, जिसका जन्म महाराजा दशरथ से मेरे द्वारा हुआ है, वह मेरा धर्मात्मा पुत्र उञ्छवृत्ति से खेत में गिरे हुए अनाज के एक-एक दाने को बीनकर कैसे जीवन निर्वाह करेगा।

अदृष्ट दुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत्।
यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम्।[८]

---

६. तै. ब्राह्मण २.२.२.६
७. ऋग्वेद १०.८५.४३
८. वा.रा. २ काण्ड, २४ सर्ग, श्लोक ३-४)

नारी का उत्पीड़न शारीरिक न होकर मानसिक रूप से बहुत अधिक होता है। सौतिया डाह परिवार में नारी उत्पीडन का परिणाम है। कौशल्या अपनी सौतों के बीच न रहने की इच्छा प्रकट करती है।

आसां राम सपत्नीनीं वस्तुं मध्ये न मे क्षमम्।[९]

वह राम के साथ वन चले जाने को प्रस्तुत होती है। यह वाल्मीकि रामायण में आया है कौशल्या का उत्पीडन कैकेयी के कारण हुआ,[१०] क्योंकि नयी रानी के आ जाने पर पहली पत्नी को उपेक्षित बना दिया जाता है। कौशल्या कहती है कि पति की ओर से सदैव अत्यन्त तिरस्कृत अथवा कड़ी फटकार ही मिलती है। मैं कैकेयी की दासियों के बराबर अथवा उनसे भी गयी बीती समझी जाती हूँ। इन कथनों से उस नारी का शोषण तथा दुःख दिखाई देता है जो पटरानी होने पर भी दासियों की भाँति तिरस्कृत की जा रही है।[११]

वाल्मीकि रामायण की कथा एक नारी पात्र के चारों तरफ घूमती फिरती दिखायी देती है, वह पात्र है–सीता। सीता का उत्पीड़न पारिवारिक और सामाजिक दोनों ही रूपों में हुआ है, राजा जनक की पुत्री सीता महलों के राजसी सुखों में पली तथा राजा दशरथ की पुत्रवधू का गौरव धारण करके जीवन भर दुःखों को ही वरण करती चलती चली गयी। राम के वन जाने की सूचना जब सीता को मिलती है तो उन्हें राजमहल में भरत आदि के संरक्षण में रहना स्वीकार नहीं होता है। वे कहती हैं कि मुझे वनवास के कष्ट से कोई घबराहट नहीं है यदि इस दशा में भी आप अपने साथ मुझे वन में नहीं ले चलेंगे तो मैं आज ही विष पी लूंगी, परन्तु शत्रुओं के अधीन होकर नहीं रहूँगी।

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसे।
विषमद्यैव पास्यामि मां वशं द्विषता गमम्।।[१२]

कैकेयी के द्वारा सीता को वल्कल वस्त्र दिये जाना बहू के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हैं। जहाँ सास द्वारा बहुओं को उत्तम वस्त्र तथा स्वर्ण आभूषण आदि दिये जाते हैं, जिससे समाज में उनकी बहू का मान सम्मान बढ़े, वहीं कैकेयी वन्यजनित कष्टों को सहने के लिये सीता को वन सहर्ष भेज रही है। वे कैकेयी के हाथ से दो वल्कल वस्त्र लेकर लज्जित सी हो गयी। उनके मन में बड़ा दुःख और नेत्रों में आँसू भर आये। **'अश्रु सम्पूर्ण नेत्रा च धर्मज्ञा धर्म दर्शिनी।'**[१३]

---

९. वा.रा. अयो०२४.१९
१०. वा.रा. २.२.४९
११. वाल्मीकि रामायण २.२०.४२
१२. वा.रा. २.३०.१९

१३. वा.रा. २.३७.११

वाल्मीकि रामायण में द्वेष भावना अथवा प्रतिस्पर्धा की भावना परिवार में जन्म लेती दिखाई देती है। वहीं द्रोह का वातावरण बनाती है, साथ ही दूसरी स्त्री के लिये उत्पीड़न का। वैदिक युग में जहाँ नारी परिवार को सामूहिक रूप से चलाने में सक्षम थी, वहीं वाल्मीकि रामायण में नारी स्वयं नारी की दुश्मन दिखायी देती है।

मानव एक सामाजिक प्राणी होने के कारण अनेक धारणाओं को धारण करता है, जिससे उसकी मानसिकता का पता चलता है। हमें तीन तरह की धारणायें या मानसिकता रखने वाले मनुष्यों के विषय में ज्ञात है कि वे या तो उच्च मानसिक विचार धारा वाले हैं या मध्यम मानसिक विचार धारा वाले हैं या फिर अधम मानसिक विचार धारा वाले। उच्च विचार धारा वाले व्यक्ति शिक्षा के द्वारा सभी परिस्थितियों का उचित तथा अनुचित ज्ञान कर लेते हैं और सम्पूर्ण पृथ्वी को कुटुम्ब की भाँति देखते हैं, मध्य मानसिकता के व्यक्ति किसी पर दोषारोपण न करते हुए सामाजिक दायित्वों को पूरा करते हैं, परन्तु अधम मानसिकता के व्यक्ति अपने दोषों की परवाह न करते हुए निर्दोष व्यक्तियों पर कीचड़ उछालने लगते हैं। लंका विजय के बाद जब राम सीता को अयोध्या लाते हैं तो एक अधम बुद्धि सीता पर दोषारोपण करता है। सामाजिक उत्पीड़न भी नारी के मान सम्मान को समाप्त कर देता है।

राम द्वारा अपने प्रजा के समाचार ज्ञात करने पर एक भद्र ने उनसे कहा कि राज्य में दशग्रीव सम्बन्धी जो आपकी विजय है, उसे लेकर नगर में सब लोग बातें किया करते हैं तथा साथ ही सीता को रावण बलपूर्वक गोद में उठाकर ले गया था और उन्हें अन्तःपुर के क्रीडा कानन अशोक वाटिका में रखा और वहाँ वे राक्षसों के वश में होकर बहुत दिनों तक रहीं, यह भी चर्चा का विषय है। श्रीराम उनसे घृणा क्यों नहीं करते हैं? अब हम लोगों को भी अपने स्त्रियों की ऐसी बातें सुननी पड़ेंगी, क्योंकि राजा जैसा करता है, प्रजा भी उसी का अनुसरण करने लगती है।

उस भद्र के मुख से इस प्रकार सीता के प्रति सामाजिक अपवाद को सुनकर श्रीराम अपने अपयश की चिन्ता करते हुए सीता को राज्य की सीमा से बाहर छोड़ने के लिए कहते हैं।

श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रेः सुमन्त्राधिष्ठितं रथम्।
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज॥ [१४]

श्रीराम की आज्ञा को पाकर लक्ष्मण सीता को वन में लाकर छोड़ देते हैं और रूँधे कंठ से कहते हैं कि लोकापवाद के कारण श्रीराम आपका त्याग करते हैं। इन वचनों को सुनकर सीता जी मूर्छित हो जाती हैं। उनके नेत्रों से अश्रु बहते हैं और दीन वाणी में लक्ष्मण जी से कहती हैं

मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते॥ [१५]

---

१४. वा.रा. ७.४५.१४-१६

लक्ष्मण निश्चय ही विधाता ने मेरे शरीर को केवल दुःख भोगने के लिए रचा है, इसलिये आज सारे दुःखों का समूह मूर्तिमान् होकर मुझे दर्शन दे रहा है। लक्ष्मण के चले जाने के बाद उनका शोक और गहरा हो गया। यश को धारण करने वाली सीता उस वन में जोर-जोर से विलाप करने लगी। पति द्वारा छोड़ी गयी नारी की इस समाज में कोई स्थिति नहीं है, लोग उससे अनेक तरह के प्रश्न करते हैं। सीता जी को भी इसी बात का भय है कि लोग जब उनसे यह प्रश्न करेंगे तो वे क्या उत्तर देंगी। इस प्रकार राम लोकभय के कारण सीता के उत्पीड़न का कारण बनते हैं।

जब कोई राष्ट्राध्यक्ष अर्थात् राजा कुत्सित भावना द्वारा राज्य को संचालित करता है तो उसकी राजनीति भी प्रतिशोध की भावना से संचालित होती है। किष्किंधा का राजा विलासिता में इतना डूबा हुआ है कि वह अपने अनुज सुग्रीव की पत्नी रूमा को बलात् अपने घर में रखता है। इसका यह कृत्य नारी के पीड़न को दर्शाता है। शूपर्णखा ने जब राम- लक्ष्मण के प्रति आसक्ति अभिव्यक्त की तो उसके अपमान स्वरूप लक्ष्मण द्वारा उसके नाम-कान काट दिये गए, जिसके परिणाम स्वरूप शूपर्णखा ने सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए रावण से सीता को अपनी पत्नी बना लेने के लिए कहा- **'तवानुरूपा भार्या सा त्वं च तस्याः पतिर्वरः।'**[१६] यहाँ भी एक स्त्री द्वारा दूसरी स्त्री का उत्पीड़न ही सूचित होता है।

रावण द्वारा सीता का अपहरण राजनैतिक अहम् का प्रतीक है तथा पाश्विक मानसिकता का भी। रामायण से यह भी सूचित होता है कि रावण ने अनेक स्त्रियों का उससे पूर्व भी अपहरण किया था। वाल्मीकि कहते है- **'बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः। सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव।।**[१७]

दिग्विजय के पश्चात् रावण जब लंका को लौटा तो भी अनेक नाग कन्याओं का बलात् अपहरण किया था। उस समय उन कन्याओं ने उसकी निंदा करते हुए स्त्री के कारण ही उसके वध का श्राप दिया था। इसी प्रकार मधु द्वारा कुंभीनशी का अपहरण भी इसका एक उदाहरण है।

रंभा के द्वारा स्वयं को रावण की पुत्रवधू बताने अर्थात् उसके भाई कुबेर के पुत्र नलकुबेर के प्रति स्वयं को समर्पित भी कहा। तब भी रावण अपनी कामवासना को नियन्त्रित नहीं कर सका। इसकी पूरी सूचना रंभा ने नलकुबेर को दी, तब नलकुबेर ने श्राप दिया- यदि तूने भविष्य में काम पीड़ित होकर, उसे न चाहने वाली स्त्रियों के साथ बलात्कार किया तो उसके मस्तिष्क के सात टुकड़े हो जायें।[१८]

---

१५. वा.रा. ७.४८.३

१६. वा.रा. ३.३४.१९-२०

१७. वा.रा. ३.४७.२८

१८. वा.रा. ७.२६.५५

अपने इन अपहरणों के प्रति वह कहता है कि यह राक्षसों की धर्मव्यवस्था है, जिसके अनुसार मैंने तुम्हारा अपहरण किया–**'स्वधर्मो राक्षसां भीरु सर्वदैव न संशयः। गमनं वा परस्त्रीणां हरण सम्प्रमथ्य वा।।'**[१९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण के उस आदर्श युग में भी पद--पद पर स्त्रियों का उत्पीड़न तथा उनके सम्मान के साथ खेल सामान्य घटना थी। राम के द्वारा एक पत्नीव्रत का आदार्श स्थापित करने से पूर्व भी पुरुष विशेषकर राजाओं द्वारा अपने अन्तःपुर में बहुत बड़ी संख्या मे स्त्रियों का रखना सामान्य बात थी, जो स्पष्ट ही स्त्रियों के अपमान की सूचक थी। उदाहरण स्वरूप दशरथ की तीन पत्नियाँ और रावण के अन्तःपुर का जो वर्णन हनुमान् ने किया वह भी इसका एक उदाहरण है। गर्भ से उद्धृत पुरुष द्वारा नारी को अपमानित करना एक सामान्य घटना जैसा प्रतित होता है। यही परम्परा आगे चलकर महाभारत में और भी कुत्सित होती चली गयी है। इस प्रकार वेद में जो नारी की उच्चावस्था थी वह रामायण काल से वर्तमान काल तक नारी के जीवन में उसके अपमान तथा शोषण की बढ़ती हुई कथामात्र बनकर रह गयी।

१९. वा.रा. ५.२०.५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१५७-१७४)

महाभारत में वर्णित स्त्रियों का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विवेचन

डॉ० सीता राम नैथानी

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।[१] 'जहाँ स्त्री का आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं।' समाज में स्त्री का मूल्यांकन करते समय उसके कौमार्य, पत्नीत्व और मातृत्व पक्ष प्रमुख रूप से सामने आते हैं। विधाता के क्रूर विधान की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, दैव के दुर्विपाक के कारण उसे वैधव्य दु:ख भी सहना पड़ता है। इस प्रकार समाज में स्त्री के चार रूप सामने आते हैं- कन्या, पत्नी, माता और विधवा। महाभारत काल को स्त्रियों की सर्वांगीण उन्नति की मधुर प्रभात वेला मान सकते हैं। इस समाज में स्त्रियों को जो सम्मान मिला वह सम्भवत: अन्य समाज में देखने को नहीं मिलता। यद्यपि महाभारत काल में भी प्रसङ्गवश स्त्रियों की घोर निन्दा की गयी है, तथापि समस्त पर्यालोचन के बाद यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केवल वैराग्य के क्षेत्र में ही स्त्री निन्दा की पात्र थी।

महाभारत के अनुसार पुत्री एवं उसकी स्थिति

महाभारतकालीन समाज में पुत्री का जन्म शुभ था या नहीं, इस पर विचार करने से पूर्व भ्रूणहत्या पर विचार करना उत्तम होगा। उस समय भ्रूण की हत्या करने वाला ब्रह्महत्यारे के समान माना जाता था।[२] महाभारतकाल में व्यक्ति पुत्री के जन्म के लिए अत्यन्त इचछुक रहते थे। अनुशासन पर्व में पुत्री के इच्छुक लोगों के लिए बताया गया है कि द्वितीया को श्राद्ध करने से कन्या पैदा होती है।[३] वन पर्व में कन्या के इच्छुक व्यक्तियों को कन्याश्रम तीर्थ में जाने की सलाह दी गयी है।[४] गान्धारी सौ पुत्रों के अलावा एक पुत्री के लिए अत्यन्त इच्छुक थी। उसकी कितनी प्रबल इच्छा थी, उसे प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट होता है-

एका शताधिका बाला भविष्यति कनीयसी।
ततो दौहित्रजाल्लोकादवाह्योऽसौ पतिर्मम।।[५]

'यदि सौ पुत्रों के अतिरिक्त एक छोटी कन्या हो जायेगी तो मेरे ये पति दौहित्र के पुण्य से प्राप्त होने वाले उत्तम लोकों से भी वंचित नहीं रहेंगे।' पुत्री को देखकर भी स्त्रियाँ ऋणमुक्त हो जाती थीं। वकवधपर्व में

---

१. मनु०३.५६
२. महा० ५,३५,४७
३. अनु० १८,१०
४. कन्याश्रमो गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ....लभेत् कन्याशतं ८३.१८९
५. महा०आदि० ११५.११

एक ब्राह्मणी की कथा है। उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी। ब्राह्मणी ने सोचा कि वह ऋणमुक्त हो गयी। अत: स्वयं राक्षस के पास जाने की इच्छा करने लगी और अपने पति से कहा-

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्त: सोऽर्थस्त्वया मयि।
कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया।।[६]

'जिस उद्देश्य से पत्नी की अभिलाषा की जाती है, आपने वह उद्देश्य मुझसे सिद्ध कर लिया है। एक पुत्री और एक पुत्र आपके द्वारा मेरे गर्भ से उत्पन्न हो चुके हैं। इस प्रकार आपने मुझे भी उर्ऋण कर दिया।'

महाभारतकाल में कन्याओं के भी संस्कार होते थे, उन संस्कारों में नामकरण संस्कार की महत्ता अधिक थी। महर्षि भरद्वाज की एक पुत्री थी, जो अप्सरा से उत्पन्न हुई थी। उसने अपनी पुत्री के सभी संस्कार कराये-

तस्यास्तु जातकर्मादि कृत्वा सर्वं तपोधन:।
नाम चास्या: स कृतवान् भरद्वाजो महामुनि:।
स्रुतावतीति धर्मात्मा तदर्षिगणसंसदि।
सा च तामाश्रमे न्यस्य जगाम हिमवद्वनम्।।[७]

'तपस्या के धनी धर्मात्मा महामुनि भरद्वाज ने उसके जातकर्म आदि सब संस्कार करके देवर्षियों की सभा में उसका नाम स्रुतावती रख दिया। फिर ये उस कन्या को अपने आश्रम में रखकर हिमालय के जंगल में चले गये।'

महाभारतकाल में भाई-बहन के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। श्रीकृष्ण अपनी बहन सुभद्रा को बहुत प्यार करते थे। जब हस्तिनापुर जाते तो अपनी बहन एवं बुआ कुन्ती से मिलने के लिए अन्त:पुर में अवश्य जाते थे। बहन से मिलते समय स्नेहवश उनके नेत्रों में आँसू भर जाते थे।[८]

महाभारतकालीन समाज में भ्रातृहीन कन्याओं को विवाह के अयोग्य माना जाता था। भीष्म ने युधिष्ठिर से इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा था-

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता पिता वा भरतर्षभ।
नोपयच्छेत तां जातु पुत्रिका धर्मिणी हि सा।।[९]

---

६. महा०आदि पर्व-१५७.७
७. महा०शल्य पर्व- ४७. ५९-६०
८. तामुपेत्य हृषीकेश: प्रीतया वाष्पसमन्वितं-सभा पर्व २.२.४
९. महा०अनु० ४४.१५

'भरत श्रेष्ठ! जिस कन्या के पिता अथवा भाई न हो, उसके साथ कभी विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह पुत्रिका धर्मवाली मानी जाती है।' महाभारतकाल में सौन्दर्य अत्यधिक था-**कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्रसर्वशः।**[१०] 'कुलीन और रूपवती कन्याओं को पुत्र-तुल्य ही मान लिया जाता था।'

महाभारतकालीन समाज में कन्यायें आतिथ्य-सत्कार करती थीं। इस कार्य की शिक्षा उसे माता-पिता से ही मिलती थी। दरिद्र पिता की कन्या अपने पिता को धनार्जन में भी मदद देती थी। सत्यवती अपने पिता के लिए नाव चलाया करती थी। महाभारतकाल में कन्या की पवित्रता पर विशेष बल दिया जाता था। कारण यह था कि वह अत्यन्त शुभ मानी जाती थी। परन्तु सत्यवती और कुन्ती के कन्यावस्था में ही पुत्र हुए थे। इससे कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि महाभारतकालीन समाज में कन्या के व्यभिचार पर अधिक बल नहीं दिया जाता था और अशुद्ध कन्याओं के विवाह भी हो सकते थे। परन्तु धीरे-धीरे कन्या का कुमारी होना ही वधू का एक आवश्यक गुण समझा जाने लगा। इसलिए पराशर मुनि ने सत्यवती को उसका कन्याभाव पुनःलौटा दिया।[११] इसी प्रकार कुन्ती से समागम करने के बाद सूर्यदेव ने उसका कन्यात्व लौटा दिया।[१२]

महाभारतकालीन समाज में कन्या शुभ मानी जाती थी। कोई विशेष कार्य हो तो कन्या का रहना शुभ शकुन माना जाता था। श्रीकृष्ण की अगवानी के लिए कन्याओं को जाने का आदेश देते हुए कहा गया है कि-

नगरादपि याः काश्चिद् गमिष्यन्ति जनार्दनम्।
द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः॥[१३]

'जनार्दन का दर्शन करने के लिए इस नगर से जो कोई भी पर्दा न रखने वाली कल्याणमयी कन्यायें जाना चाहेंगी वे जा सकेंगी।'

जब राजा विराट ने पाण्डवों की सहायता से सुशर्मा पर विजय पायी, तब विराट नगर में विजय घोषणा करते हुए दूतों से कहा-

आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामविजयं मम।
कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुरात्॥[१४]

'दूतो! तुम लोग नगर में जाकर सूचना दो कि युद्ध में विजय हुई है। कुमारी कन्यायें श्रृङ्गार करके स्वागत के लिए नगर से बाहर आ जायें।'

---

१०. महा०आदि० ११०.६
११. मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि। आदि०-१.६३.७८
१२. मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि-३.३०७.१६
१३. महा०उद्योग० ८४.१६

१४. महा०विराट०-३४.१७

महाभारतकालीन समाज में स्त्रियों की वैवाहिक स्थिति

महाभारतकालीन समाज में कन्यायें पति वरण करने में स्वतन्त्र थीं। पति चुन लेने के पश्चात् पिता की स्वीकृति नाममात्र की होती थी। ययाति ने देवयानी का प्रणय-निवेदन स्वीकार तो कर लिया, परन्तु देवयानी के पिता शुक्राचार्य से डर रहे थे। इसलिए देवयानी ने स्वयं अपने पिता से अनुमति माँगी और पिता ने वह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया।

नागराज की पुत्री उलूपी अर्जुन को देखकर ही काममोहित हो गयी। उसने अर्जुन से आत्मदान करने का आग्रह करते हुए कहा-

साहं त्वामिभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम्।
दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाभिमूर्छिता॥[१५]

'नरश्रेष्ठ! जब आप स्नान करने के लिए समुद्रगामिनी नदी गंगा में उतरे थे, उस समय आपको देखते ही मैं कामवेदना से मूर्च्छित हो गयी थी।'

यदि घर में अविवाहित कन्या रहे तो पास के पड़ोसी कन्या के पिता को सचेत करते रहते थे। सावित्री के पिता अश्वपति से नारदमुनि ने चिन्ता प्रकट, करते हुए कहा-

क्व गताभूत् सुतेयं कुतश्चैवागता नृप।
किमर्थें भर्त्रे न चैनां सम्प्रयच्छसि॥[१६]

'राजन्! आपकी पुत्री कहाँ गयी थी और कहाँ से आ रही है? अब तो यह युवती हो गयी है। आप किसी वर के साथ इसका विवाह क्यों नहीं कर देते हैं?'

कुन्ती ने स्वयंवर द्वारा राजा पाण्डु का वरण किया था। किन्तु उसके पिता ने शास्त्र विधि के अनुसार कुन्ती का विवाह कर दिया।[१७]

महाभारतकालीन समाज में दहेज एक वैकल्पिक प्रथा थी। कन्या को दहेज इसलिए भी दिया जाता था कि उसे पैतृक अधिकार प्राप्त नहीं था। अत: दहेज द्वारा ही माता-पिता उसे धन देते थे। जब अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह हुआ तो राजा विराट् ने हाथी, घोड़े, सेना, खजाना आदि दहेज में दिया-

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम्।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा॥[१८]

---

१५. महा०आदि० २१३.१९
१६. महा०वन० २९५.४
१७. महा०आदि० १११.६

'राजा विराट् ने प्रज्वलित अग्नि में विधवत् होम कराकर ब्राह्मणों का पूजन करने के पश्चात् वरपक्ष को वायु के समान वेगवान् सात हजार घोड़े दो सौ बड़े-बड़े हाथी तथा और भी बहुत सा धन भेंट किया।'

महाभारतकालीन समाज में विशेषकर सवर्ण विवाह ही उत्तम माना जाता था अर्थात् पुरुष को अपनी ही जाति की कन्या से विवाह करना होता था। राजा प्रतीत ने गंगा को अपने वर्ण की न समझकर उससे विवाह नहीं किया। उसने गंगा से इस प्रकार कहा-

नाहं परस्त्रियं कामात् गच्छेयं वरवर्णिनि।
न चासवर्णो कल्याणि धर्म्यमेतद्धि मे व्रतम्।। [१९]

'सुन्दरी मैं कामवश परायी स्त्री के साथ समागम नहीं कर सकता। जो अपने वर्ण की न हो, उससे भी मैं सम्बन्ध नहीं रख सकता। कल्याणि! यह मेरा धर्मानुकूल व्रत है।'

महाभारतकालीन समाज में अनुलोम विवाह प्रथा भी प्रचलित थी अर्थात् पुरुष अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता था। पराशर और सत्यवती का विवाह अनुलोम विवाह था।

महाभारतकालीन समाज में प्रतिलोम विवाह के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। ययाति और देवयानी के प्रतिलोम विवाह की चर्चा है। प्रारम्भ में राजा ययाति ने धर्मग्लानि के डर से देवयानी की प्रार्थना अस्वीकार की थी। बाद में शुक्राचार्य ने ययाति से कहा-तुम विवाह करो, तुम्हारे अधर्म का प्रतिकार मैं करूँगा, तभी राजा विवाह के लिए तैयार हुए और शास्त्रविधि से मंगल समय में विवाह किया।[२०]

महाभारतकाल में चार प्रकार के आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी) की चर्चा है, परन्तु सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है, यही आश्रम सभी आश्रमों का आदि माना जाता है-

आश्रमाणां च सर्वेषां गार्हस्थ्यं नात्र संशयः।
लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव व।। [२१]

सब आश्रमों का आदि गृहस्थाश्रम हैं, इसमें सन्देह नहीं। समस्त जगत् का आदि और अन्त अव्यक्त प्रकृति ही है। अर्जुन ने यह कहते हुए युधिष्ठिर को संन्यास ग्रहण करने से मना किया कि गृहस्थ ही संन्यासियों के अन्नदाता होते हैं-

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिता:।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते।। [२२]

---

१८. महा०विराट०-७२.३९
१९. महा०आदि० ९७.६
२०. महा०आदि० ८१.३९
२१. महा०अश्वा०-४४.१७

'जितेन्द्रिय संन्यासी गृहस्थाश्रम से अलग होकर भी गृहस्थी के सारे जीवन धारण करते हैं। वहीं से प्रकट होते हैं और वहीं से उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।'

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही पड़ता है। जगत् में जितने भी पार्थिव लाभ हैं, उन सबमें पुत्रलाभ ही सबसे अधिक श्लाघनीय है। इसीलिए भीष्म ने युधिष्ठिर को विवाह करने का आदेश देते हुए कहा–

विवाहांश्चैव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद् विशिष्यते॥[२३]

'कुरुनन्दन! मनुष्य विवाह करे और पुत्र उत्पन्न करे। पुत्र का लाभ सब लाभों से बढ़कर है।'

महाभारत में वर्णित सभी कौरववंशी राजाओं की एक से अधिक पत्नियाँ थीं। राजा शान्तुन की गंगा और सत्यवती नाम की दो पत्नियाँ थीं।[२४] विचित्रवीर्य ने अम्बिका और अम्बालिका से विवाह किया। वे दोनों काशिराज की पुत्रियाँ थीं।[२५] द्रौपदी के अलावा अर्जुन की उलूपी, चित्रांगदा और सुभद्रा ये तीन पत्नियाँ थी। उलूपी नागकन्या था।[२६] चित्रांगदा को पुत्रिकाधर्म को शर्त मानकर विवाह किया था।[२७] श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा भी अर्जुन की पत्नी थी। द्वारका जाकर उसने सुभद्रा को पत्नी रूप में प्राप्त किया।[२८]

महाभारतकालीन समाज में विवाह के प्रकार

अष्टावेव सभासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः॥
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः।
तेषां धर्म्यान् यथापूर्वं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥[२९]

---

२२. महा०शान्ति० १८.२९
२३. महा०अनु० ६८.३४
२४. महा०आदि० ९५.४७
२५. महा०आदि० ९५.५१
२६. महा०आदि० २१३.३३
२७. महा०आदि० २१४.२७
२८. महा०आदि० ९५.७८
२९. महा०आदि० ७३.८.९

'धर्मशास्त्र की दृष्टि से संक्षेप में आठ प्रकार के ही विवाह माने गये हैं- ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। स्वायम्भुव मनु का कथन है कि इनमें बाद वालों की अपेक्षा पहले वाले विवाह धर्मानुकूल हैं।'

भीष्म ने समस्त राजाओं को ललकारते हुए काशीराज की कन्याओं को उठाकर रथ पर चढ़ा दिया। तत्पश्चात् गम्भीर वाणी में उन राजाओं को विवाह के भेद बतलाये- 'विद्वानों ने कन्या को यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से विभूषित करके गुणवान् वर को बुलाकर उसे कुछ धन देने के साथ ही कन्यादान करना उत्तम (ब्राह्म विवाह) बताया है। कन्या के बन्धु-बान्धुओं को लोभ में डालकर उन्हें बहुत-सा धन देकर कन्या को खरीद लिये जाता था, उसे आसुर विवाह कहा गया है। कुछ लोग बलपूर्वक कन्या का हरण करते थे (राक्षस विवाह)। दूसरे लोग वर और कन्या की परस्पर अनुमति होने पर विवाह करते थे (गान्धर्व विवाह)। कुछ लोग वर और कन्या को एकत्र करके स्वयं ही उनसे प्रतिज्ञा कराते थे कि हम दोनों गार्हस्थ्य धर्म का पालन करेंगे, फिर कन्या के पिता दोनों की पूजा करके अलङ्कारयुक्त कन्या को वर के लिए दान करता था (प्राजापत्य विवाह)। कुछ लोग आर्षविधि करके ऋत्विज को कन्या देते थे (दैवविवाह)। इस प्रकार विद्वानों ने विवाह का आठवाँ प्रकार माना है।'[३०] महाभारत में उपर्युक्त आठों प्रकार के विवाह की परिभाषा दी गयी है, परन्तु प्राजापत्य विवाह एवं पैशाच विवाह के उदाहरण नहीं पाये जाते हैं।

महाभारतकालीन समाज में विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य शुभ लग्न देखकर ही किये जाते थे। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र शुभ माना जाता था। इसी प्रकार यदि चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र पर हो, तब वह समय भी विवाह के लिए उत्तम माना जाता था। पाण्डवों का विवाह इसी चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र में हुआ था। भगवान् व्यास ने युधिष्ठिर को इसी शुभ मुहुर्त में विवाह करने की सलाह देते हुए कहा-

अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः।
पाणिं कृष्णांयास्त्वं गृहाणाद्य पूर्वम्॥[३१]

'आज चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र पर जा रहे है। इसलिए आज तुम्हीं पहले कृष्णा का पाणिग्रहण करो।'

यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है, लेकिन पुरुष अकेले नहीं परन्तु पत्नी के साथ ही धर्मानुष्ठान कर सकता है। इसलिए भी पत्नी की महत्ता बढ़ जाती है।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः॥[३२]

---

३०. महा०आदि० १०२.१२ १५

३१. महा०आदि० -१९०.५

३२. महा०आदि: ७४.४२

'जिनकी पत्नी हैं, वे ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते हैं। सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं। पत्नी वाले पुरुष सुखी और प्रसन्न रहते हैं। जो पत्नी से युक्त हैं, वे मानो लक्ष्मी से सम्पन्न हैं।' सन्तानोत्पादन के कारण स्त्री की महत्ता अत्यधिक बढ़ जाती है। यह काम पूर्णतः स्त्रियों के ही अधीन है। यदि स्त्रियाँ न हों तो मनुष्यों की उत्पत्ति ही बन्द हो जायेगी।

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्त्रष्टुं रामामृते प्रजाम्॥[३३]

'स्त्रियाँ पति के आत्मा के जन्म लेने का सनातन पुण्य क्षेत्र हैं। ऋषियों में भी क्या शक्ति है कि विना स्त्री के सनतान उत्पन्न कर सकें।'

महाभारतकालीन समाज में पत्नी का सम्मान

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मित्रं मरिष्यतः॥[३४]

'भार्या को मनुष्य के त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की प्राप्ति का प्रधान साधन, पति का सबसे अच्छा मित्र और उसकी अर्द्धांगिनी माना गया है।'

सामाजिक दृष्टि से भी स्त्री सम्माननीया एवं पूजनीया

पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिपः।
स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥[३५]

'स्त्री माता की तरह पूज्या एवं परिपाल्या है, जहाँ इनका आदर होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि महाभारत काल में स्त्रियाँ लोगों एवं राजाओं द्वारा पूजित होती थीं। इसीलिए वे देवताओं के तुल्य थीं।'

अपनी पत्नी के प्रति पति का कर्त्तव्य होता है कि वह उसकी रक्षा एवं भरण-पोषण करे। स्त्री का पालन करने के कारण वह पति कहलाता है।[३६] अपने पतियों के रहते द्रोपदी दुर्योधन के सामने असहाय हो गयी थी, उसे इसी बात का दुःख था। इसीलिए अपने दुःख को बताती हुई द्रोपदी ने श्रीकृष्ण से कहा-

शाश्वतोऽयं धर्मपथः सत्त्रिराचरितः सदा।

---

३३. महा०आदि० ७४.५२

३४. महा०आदि० ६८.४

३५. महा०अनु० ४६.५

३६. पालनाच्च पतिः स्मृतः- आदिः १.१०४.३०

यद् भार्या परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पवला अपि।।[३७]

'सत्पुरुषों द्वारा सदा आचरण में लाया हुआ यह धर्म का सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नी की रक्षा करते हैं।' विदुर ने घृत राष्ट्र को यही सलाह दी कि धन के द्वारा भी पत्नी की रक्षा करना पुरुष का कर्त्तव्य है-

आपदर्थे धनं रक्षेत् दारान् रक्षेद् धनैरपि।

आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि।।[३८]

'आपत्ति के लिए धन की रक्षा करे, धन के द्वारा स्त्री की रक्षा करे और स्त्री और धन दोनों के द्वारा सदा अपनी रक्षा करे।'

महाभारतकाल तो पतिव्रता स्त्रियों के उदाहरण से भरा है। स्त्री के लिए पति सेवा ही यज्ञ, तपस्या और दान से बढ़कर है। द्रौपदी एक अत्यन्त पतिव्रता नारी थी। यह सत्यभामा के साथ उसी के वार्तालाप से स्पष्ट होता है। उसने सत्यभामा को पतिव्रता स्त्री के कर्त्तव्य को समझाते हुए कहा

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु।

यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा लभ्याः प्रसादात् कुपितश्च हन्यात्।।[३९]

'सत्ये! स्त्रियों के लिए देवताओं सहित सम्पूर्ण लोकों में पति के समान दूसरा कोई देवता नहीं है। पति के प्रासाद से नारी की सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण हो सकती हैं और यदि पति ही कुपित हो जाये, तो वह नारी की सभी आशाओं को नष्ट कर सकता है।' पतिव्रता स्त्रियों के पास पति सेवा के कारण अलौकिक शक्तियाँ रहती हैं, वे उसी अलौकिक शक्ति के बल पर अलौकिक कार्य करती हैं। पातिव्रत्य से उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। पति सेवा भी उनके लिए यज्ञ है। अतः यज्ञ से मिलने वाले सारे फल उन्हें मिलते हैं।

महाभारत में वर्णित स्त्री का मातृत्व पक्ष

नास्ति मातृसमो गुरुः।[४०] माता को गुरुओं का भी गुरु और देवताओं का भी देवता कहा गया है। स्त्री माता के रूप में समाज में बहुत आदर पाती है। सन्तान को जन्म देने, उसका लालन-पालन करने के कारण उसे धात्री, जननी, अम्बा और वीरसू कहा गया है। माता और पिता दोनों ही सन्तान की कामना करते हैं, परन्तु यह अभिलाषा माता में ही प्रतिष्ठित होती है

दाम्पत्योः प्राणसंश्लेषे योऽभिसंधिः कृतः किल।

---

३७. महा०वन०: १२.६८

३८. महा०उद्योग० ३७.१८

३९. महा०वन० २३४.२

४०. महा०अनु० १०६.६५

तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थित:॥[४१]

'पति और पत्नी मैथुन काल में सुयोग्य पुत्र होने के लिए जो अभिलाषा करते हैं, वास्तव में वह अभिलाषा माता में ही प्रतिष्ठित होती है।'

जिस प्रकार अरणि काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार माता से पुत्र उत्पन्न होता है। माता बनने के पश्चात् ही स्त्री का जीवन सफल होता है। इसीलिए शर्मिष्ठा जो अब तक कुंवारी थी, राजा ययाति से सन्तान प्राप्ति की इच्छा से इस प्रकार कहने लगी।

अधर्मात् पाहि मां राजन् धर्मं च प्रतिपादय।

त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम्॥[४२]

'राजन! मुझे अधर्म से बचाइये और धर्म का पालन कराइये। मैं चाहती हूँ कि आपसे सन्तानवती होकर इस लोक में उत्तम धर्म का आचरण करूँ।'

हर माता अपनी सन्तान को प्यार करती है। महाभारत की कुन्ती भी इसी प्रकार की है। एक बार दुर्योधन की कुचेष्टा के कारण भीमसेन नागलोक पहुँच गया था। उसे न पाकर कुन्ती अत्यधिक दु:खी हो गयी थी। उसने विदुर को बुलाकर कहा-

उद्यानन्निर्गता: सर्वे भ्रातरो भ्रातृभि: सह।

तत्रैकस्तु महाबाहु भीमो नाभ्येति मामिह॥[४३]

'उद्यान से सब अपने भाइयों के साथ चलकर यहाँ आ गये, किन्तु अकेला महाबाहु भीम अब तक मेरे पास लौटकर नहीं आया।' माता के अन्त:करण में समस्त मनुष्यों और देवताओं का समुदाय स्थित रहता है-

देवतानां समावायमेकस्थं पितरं विदु:।

मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम्॥[४४]

'मनीषी पुरुष यह जानते है कि पिता एक स्थान पर स्थित सम्पूर्ण देवताओं का समूह है, परन्तु माता के भीतर उसके स्नेहवश समस्त मनुष्यों और देवताओं का समुदाय स्थित रहता है। अत: माता का गौरव पिता से भी अधिक है।'

माता-पिता की सेवा करने से मनुष्य यश और श्रेष्ठ लोक प्राप्त करता है। भीष्म ने युधिष्ठिर को इस सम्बन्ध में अनेक उपदेश दिये-

---

४१. शान्ति०पर्व२६६.३४

४२. महा०आदि:८२.२१

४३. महा०आदि० १२८.१४

४४. महा०शान्ति०: २६६.४३

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।

इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते॥[४५]

'राजन्! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुओं की पूजा ही अधिक महत्त्व की वस्तु जान पड़ती है। इस लोक में पुण्य कार्य में संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक प्राप्त करता है।' महाभारत के अनुसार माता की सेवा के अलावा दूसरा कोई आश्रय नहीं है-

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।

प्रीणाति मातरं येन पृथ्वी तेन पूजिता॥[४६]

'मनुष्य जिस कर्म से पिता को प्रसन्न करता है, उसी के द्वारा प्रजापति ब्रह्मा जी भी प्रसन्न होते हैं तथा जिस व्यवहार से वह माता को प्रसन्न कर लेता है, उसी के द्वारा समूची पृथ्वी की भी पूजा हो जाती है।'

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि '**माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा**'[४७] अर्थात् माता पृथ्वी से भारी और पिता आकाश से ऊँचा है। माता के गौरव को अधिक महनीय स्थान दिया गया है।

महाभारतकालीन समाज में विधवा की स्थिति

पति के विना स्त्री अनाथ हो जाती है। उसका कोई रक्षक न होने के कारण कोई भी व्यक्ति उसे वश में करना चाहता है। वकवध पर्व में अपने पति के प्रति ब्राह्मणी के कहे गये वचनों से यह स्पष्ट है-

तत्सृष्टामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः।

प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा पतिम्॥[४८]

'जमीन पर पड़ा हुआ मांस का टुकड़ा जिस तरह गृध्रों की लोलुप दृष्टि का लक्ष्य रहता है, उसी प्रकार पतिहीना नारी भी अनेक की अभिलषित होती है।'

महाभारत में व्युषिताश्व की पत्नी भद्रा की कथा है, जो अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती हुई कहने लगी-

नारी परमधर्मज्ञ सर्वा भर्तृविनाकृता।

पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता॥[४९]

---

४५. महा०शान्ति०: १०८.३

४६. महा०शान्ति० १०८.२५

४७. महा०वन०: ३१३.६०

४८. महा०आदि: १५७.१२८

४९. महा०आदि० १२०.२१

'परमधर्मज्ञ महाराज! जो कोई भी विधवा स्त्री पति के विना जीवन धारण करती है वह निरन्तर दुःख में डूबी रहने के कारण वास्तव में जीती नहीं, अपितु मृततुल्या है।'

विधवाओं को अबला कहा जाता है।[५०] महाभारत में वर्णित विधवा अशुभ नहीं मानी जाती थी, वह विवाह आदि शुभ अवसरों पर अन्य सुहागिनियों के समान ही भाग ले सकती थी। कुन्ती विधवा हो चुकी थी, किन्तु अपने पुत्रों के विवाह के समय उपस्थित थी। उस समय कुटुम्ब की स्त्रियाँ और श्रीकृष्ण भी प्रणाम करने आये-

कुन्तीमासाद्य ता नार्यो द्रुपदस्य महात्मनः।
नाथ संकीर्तयन्त्योऽस्या जग्मुः पादौ स्वमूर्धभिः।।[५१]

'महात्मा द्रुपद के कुटुम्ब की स्त्रियाँ कुन्ती के पास आकर अपने नाम ले लेकर उनके चरणों में मस्तक नवाकर प्रणाम करने लगीं।'

पति के मर जाने पर उसका पालन पोषण का भार पुत्र पर पड़ता है। महाभारत में भी कहा गया है कि पति के मर जाने पर विधवा माता की रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय है।[५२] यदि विधवा के पुत्र न हों तो राजा का यह कर्त्तव्य होता है कि वह उसकी रक्षा करे-

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत्।।[५३]

'दीन, अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियों के योगक्षेम एवं जीविका का सदा ही प्रबन्ध करें।' महाभारतकाल में विधवायें अपने पतियों का दाह संस्कार करती थीं। राजा द्रुपद का दाहसंस्कार उसकी पत्नियों एवं पुत्रवधुओं ने किया-

एतास्तु द्रुपदं वृद्धं स्नुषा भार्याश्च दुःखिताः।
दग्ध्वा गच्छन्ति पांचाल्यं राजानमपसव्यत।।[५४]

गान्धारी ने श्रीकृष्ण से कहा-'इन बूढ़े पाँचालराज द्रुपद को इनकी दुःखी रानियाँ और पुत्रवधुयें चिता में जलाकर इनकी प्रदक्षिणा करके जा रही हैं।'

---

५०. अबलाः स्वल्पकौपीना सुहृदः सत्यजिष्णवः १३.४६.८

५१. महा०आदि ११८.२

५२. भृते भर्तरि पुत्रश्च मातुररक्षिता ३.३९३.३५

५३. महा०शान्ति०: ८६.२४

५४. महा०स्त्रीपर्व ११.२५.१७

वकवधपर्व में ब्राह्मण और ब्राह्मणी के कथोपकथन से यह विदित होता है कि विधवायें पुनर्विवाह नहीं करती थीं, क्योंकि ऐसा करने पर उन्हें बड़ा भारी पाप लगता है। ऐसे ही विचारों से प्रभावित होकर ब्राह्मणी अपने पति को बक का आहार बनने जाने से रोकती हुई कहने लगी

न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम्।

स्त्रीणामधर्मः सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने॥[५५]

'कल्याणस्वरूप हृदयेश्वर! बहुत सी स्त्रियों से विवाह करने वाले पुरुषों को भी पाप नहीं लगता। परन्तु स्त्रियों को अपने पूर्व पति का उल्लंघन करने पर बड़ा भारी पाप लगता है।' परन्तु महाभारतकाल के कुछ स्थलों पर पुनर्विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। महाभारत के अध्ययन से यह पता चलता है कि विधवायें अपने देवर के साथ विवाह कर सकती थीं

पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्।

आनन्तर्यात् तथा क्षत्रं पृथिवी कुरुते पतिम्॥[५६]

'जैसे पति के अभाव में स्त्री देवर को पति बनाती है, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय को पति रूप में वरण करती है।' महाभारत के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ विधवायें न तो पुनर्विवाह करती थीं और न सती होती थीं, ऐसी विधवायें वन जाकर तपस्या का जीवन व्यतीत करती थीं। श्रीकृष्ण की कुछ पत्नियाँ सत्यभामा इत्यादि तपस्या का निश्चय करके वन में चली गयी थीं।[५७]

विधवा के वस्त्र दुःख के सूचक होते थे, उनकी मांगों में सिन्दूर नहीं होता था। ये आभूषणों से अपने शरीर को सजाना छोड़ देती था।[५८]

महाभारतकालीन समाज में नियोग प्रथा भी प्रचलित थी अर्थात् पुत्रहीन पति दूसरे पुरुष के द्वारा अपनी पत्नी से पुत्र उत्पन्न करा सकता था, अथवा विधवा भी दूसरे पुरुष से सन्तान पा सकती थी। नियोग विधि से समागम वासना की तृप्ति के लिए नहीं परन्तु धर्म को ध्यान में रखकर किया जाता था। व्यास जी ने अपनी माता को अपना उद्देश्य बताते हुए कहा

तस्मादहं त्वन्नियोगाद् धर्ममुद्दिश्य कारणम्॥

ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम्।

भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान्॥[५९]

---

५५. महा०आदि: १५७.३६

५६. महा०शान्ति० ७२.१२

५७. मौस: ७.७४

५८. प्रकीर्णवस्त्रा भरणा रुदत्यः शोकदर्शिताः ११.२५.९

'अत: मैं आपकी आज्ञा से धर्म को ही दृष्टि में रखकर काम के वश न होकर आपकी इच्छा के अनुरूप कार्य करूँगा। यह सनातन मार्ग शास्त्रों में देखा गया है। मैं अपने भाई के लिए मित्र और वरुण के समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूँगा।'

महाभारत काल में सती प्रथा का भी प्रचलन था, इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण माद्री का है। पति की मृत्यु होने पर कुन्ती और माद्री दोनों ही सती होना चाहती थीं। बड़ी पत्नी होने के कारण कुन्ती सती से मिलने वाले पुण्यफल को स्वयं चाहती थी। उसने माद्री से कहा भी था-

अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम।

अवश्यम्भाविनो भावान्मा मां माद्रि निर्वतय॥[६०]

'माद्री मैं इनकी ज्येष्ठ धर्मपत्नी हूँ, अत: धर्म के ज्येष्ठ फल पर भी मेरा ही अधिकार है। जो अवश्यम्भावी बात है, उससे मुझे मत रोको।' चूँकि माद्री के साथ समागम करते समय ही पाण्डु की मृत्यु हुई थी, इसलिए माद्री ही मृत पति के शव के साथ जलना चाहती थी।

महाभारतकालीन समाज में स्त्री की सामान्य स्थिति

महाभारतकालीन समाज में स्त्री को कमजोर समझकर उसके साथ नम्रता का व्यवहार किया जाता था। उन्हें अनेक प्रकार की सुविधायें दी जाती थीं। स्त्री को अवध्य माना गया है, किन्तु महाभारतकालीन समाज में स्त्रीवध होते थे। शिशुपाल की नजरों में श्रीकृष्ण इसीलिए बुरे थे कि उसने पूतना का वध किया था। वह भीष्म की निन्दा करते हुए कहने लगा-

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषत:।

त्वया कीर्तयतास्माकं भूय: प्रत्यार्थतं मन:॥[६१]

'तुमने श्रीकृष्ण के पूतना वध आदि कर्मों का जो विशेष रूप से वर्णन किया है, उससे हमारे मन को पुन: बहुत बड़ी चोट पहुँची है।'

पिता की आज्ञा से परशुराम जी ने अपनी माता का मस्तक काट डाला था। उसकी माता रेणुका मार्तिकावत देश के राजा पर आसक्त हो गयी थी। इस बात को जमदग्नि जान गये और अपने पुत्र को माता के वध की आज्ञा देते हुए कहा-

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथा:।

---

५९. महा०आदि: १०४.४० ४१

६०. महा०आदि: १२४.२३

६१. सभा०पर्व ४१.४

तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत्॥[६२]

'बेटा अपनी इस माता को अभी मार डालो और इसके लिए मन में किसी प्रकार का खेद न करो। तब परशुराम ने फरसा लेकर उसी क्षण माता का मस्तक काट डाला।'

महाभारतकालीन समाज में साधारण वर्ग की स्त्रियाँ पर्दे में नहीं रहती थीं। जब श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र के पास आये थे तो स्त्री, पुरुष और बालकों सहित सारे नगर ने ही महात्मा श्रीकृष्ण के दर्शन किये।[६३] जब युधिष्ठिर और उसके भाइयों ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया तो रास्तों पर स्त्रियाँ भी थीं। सड़कों के आस-पास के भवन स्त्रियों से भरे होने के कारण उनके भारी भार से काँपते हुए से जान पड़ते थे।[६४] संजय घृत राष्ट्र को बताते हैं कि-

गतोत्सवं पुरमिव हतनागमिव ह्रदम्।

स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठं वृद्धामात्यैरधिष्ठितम्॥[६५]

'वह शिविर उत्सवशून्य नगर और नागरहित सरोवर के समान श्रीहीन जान पड़ता था। वहाँ रहने वाले लोगों में अधिकांश स्त्रियाँ और नपुंसक थे तथा बूढ़े मन्त्री अधिष्ठाता बनकर उस शिविर का संरक्षण कर रहे थे।' इससे स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ पर्दे में नहीं रहती थीं।

परन्तु महाभारतकालीन समाज में राजकीय महिलाओं का पर्दे में रहना सम्मान का प्रतीक माना जाता था। पालकी आदमी ही ले जाते थे। प्रथम बार पिता की आज्ञा से शर्मिष्ठा पालकी पर ही बैठकर राजधानी से बाहर देवयानी से मिलने गयी थी।[६६]

महाभारतकालीन समाज में जितनी प्रसिद्ध स्त्रियों की चर्चा है वे सभी कन्यावस्था से ही विदुषी थीं।[६७] विचित्रवीर्य की अकालमृत्यु के बाद सत्यवती के बुद्धिबल से ही नष्टप्राय कुरुवंश पुनः प्रतिष्ठित हुआ था। वह निवृत्ति एवं प्रवृत्ति धर्म के रहस्य से अवगत थीं।[६८]

अरुन्धती इतनी विदुषी थी कि उसके पास ऋषि एवं देवता लोग भी धर्म का रहस्य सुनने आते थे। इसके अलावा महाभारत काल में उत्तरा, सावित्री, सुलभा, दमयन्ती, शिखण्डी, देवयानी, कुन्ती इत्यादि अनेक विदुषी स्त्रियाँ थीं।

---

६२. महा०वन०: ११६.१४

६३. सस्त्रीपुरुषबालं च नगरं मधुसूदनम्- उद्यो०: ८६.१७

६४. गृहाणि राजमार्गे तु रत्नवन्ति महान्ति च। प्राकम्पतेव भारेण स्त्रीणं पूर्णानि भारत॥ सभा०पर्व ३८.३

६५. महा०शल्य: ६१.५

६६. ततः कन्यासहस्रेण वृत्ता शिविकया तदा। पितुर्नियोगात् त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात्-आदि०- ८०.२१

६७. प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता-वन: २७.२

६८. वेत्य धर्म सत्यवति परं चापरमेव च. आदि: १०५.२९

महाभारतकालीन समाज में शिक्षा का उद्देश्य वर्तमान युग की ही तरह चरित्र-निर्माण करना था। प्रत्येक कन्या को विवाह से पूर्व ही घर में धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इसी शिक्षा का फल था कि गान्धारी दुर्योधन से हमेशा कहती थी-जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।[६९]

महाभारतकालीन समाज की स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं होती थीं। स्त्री अपने शील और जीवन की रक्षा स्वयं नहीं कर सकती थी। अत: स्त्री की रक्षा का भार आयु और सम्बन्ध के अनुसार क्रमश: पिता,पति और पुत्र को सौंपा गया है

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति।।[७०]

'कुमारावस्था में स्त्री की रक्षा उसका पिता करता है, युवावस्था में पति उसका रक्षक है और वृद्धावस्था में पुत्रगण उसकी रक्षा करते हैं। अत: स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए।'

महाभारत में वर्णित स्त्रियों का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन

जिस प्रकार महाभारत काल में कन्या भ्रूण हत्या पाप समझा जाता था, वर्तमान समय में ऐसा नहीं है। कतिपय सामाजिक, शासकीय संगठनों का भ्रूणहत्या पर प्रतिबन्ध लगाने के बावजूद वर्तमान समय में भ्रूण हत्यायें होती हैं। वर्तमान समय में विरले लोग ही कन्या के जन्म लेने पर खुशी का अनुभव करते हैं। महाभारत काल के ही समान वर्तमान काल में भी कन्याओं के कुछ संस्कार होते हैं, उनमें नामकरण, कर्णवेध संस्कार महत्त्वपूर्ण हैं।

महाभारत काल के समान वर्तमान काल में भी कन्यायें पिता के घर में ही अत्यन्त लाड़ प्यार से रखी जाती हैं। महाभारत काल में भ्रातृहीन कन्याओं को विवाह के अयोग्य माना जाता था, जबकि वर्तमान समय में भ्रातृहीन कन्याओं को विवाह के अयोग्य नहीं माना जाता है। महाभारत काल के ही समान वर्तमान काल में भी कन्या को शुभ अवसरों पर उपस्थित रहना शुभ माना जाता है।

वर्तमान समाज में स्त्रियों की वैवाहिक स्थिति

महाभारत काल के ही समान वर्तमान समय में भी कन्यायें पति वरण करने में स्वतन्त्र हैं। यद्यपि वर्तमान समय में पिता की स्वीकृति अनिवार्य है, तथापि फिर भी कहीं कहीं कन्यायें पति वरण करने में स्वतन्त्र होती हैं। वर्तमान काल में भी यदि अविवाहित कन्या पिता के घर में रहे तो वह शुभ नहीं मानी जाती है और समाज में उसका आदर नहीं होता है।

---

६९. यतो धर्मस्ततो: जय:- ११.१४

७०. महा०अनु० ४६.१४

महाभारतकालीन समाज की ही भाँति वर्तमान काल में भी दहेज की प्रथा प्रचलित है। पिता सामर्थ्य के अनुसार अपनी कन्या को दहेज देता है। वर्तमान समय में भी सवर्ण विवाह उत्तम माना जाता है अर्थात् पुरुष को अपनी ही जाति की कन्या से विवाह करना होता है। वर्तमान में महाभारत काल के समान कुछ जगह अनुलोम-विवाह प्रथा भी प्रचलित है।

वर्तमान में महाभारत काल के समान चार आश्रमों का विधान नहीं है, बल्कि विशेषकर दो ही आश्रमों-ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम का ही पालन किया जाता है। वर्तमान में भी गृहस्थाश्रम में रहकर ही मनुष्य सभी ऋणों से उर्ऋण होता है।

वर्तमान काल में महाभारत काल के समान विवाह आठ प्रकार के नहीं होते हैं, बल्कि ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह एवं गान्धर्व विवाह का ही विशेष रूप से प्रचलन है। वर्तमान काल में भी विवाह शुभ लग्न देखकर ही किया जाता है। यज्ञ भी पुरुष विना पत्नी के नहीं करता है।

वर्तमान में महाभारत काल के ही समान स्त्री का समाज में आदर होता है, लेकिन समाज में कतिपय लोग ऐसे भी होते हैं जो स्त्री का आदर करना नहीं जानते हैं। वर्तमान काल में भी स्त्री का पालन-पोषण, रक्षा का भार पति पर ही होता है, लेकिन वर्तमान समय में काफी संख्या में स्त्रियाँ आत्मनिर्भर हैं, वे अनेक क्षेत्रों जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशासनिक, राजनीति इत्यादि क्षेत्रों में सेवा करती हैं।

वर्तमान काल में स्त्री का मातृत्व पक्ष

वर्तमान काल में भी महाभारत काल के समान स्त्री माता के रूप में समाज में आदर पाती है। माता बनने के पश्चात् ही स्त्री का जीवन सफल माना जाता है, क्योंकि **'पुम् नरकात् त्रायते इति पुत्रः'** अर्थात् पुत्र ही 'पुम्' नामक नरक से माता-पिता की रक्षा करता है।

वर्तमान समाज में विधवा की स्थिति

महाभारतकालीन समाज की भाँति विधवा की स्थिति समाज में सुदृढ़ नहीं है, फिर
वर्तमान काल में भी महाभारतकालीन समाज की भाँति विधवा की स्थिति समाज में सुदृढ़ नहीं है, फिर भी कुछ मायनों में वह शुभ अवसरों विवाह आदि उत्सवों में अन्य सुहागिनियों के समान ही भाग लेती है। पति के मर जाने पर उसका पालन-पोषण पुत्र करता है। यदि विधवा के पुत्र न हो तो सरकार द्वारा प्रदत्त विधवा पेंशन के द्वारा वह अपना भरण-पोषण करती है। वर्तमान काल में विधवायें अपने पतियों का दाहसंस्कार नहीं करती हैं, बल्कि पुत्र ही दाहसंस्कार इत्यादि कर्म करता है। विधवा पुनर्विवाह प्रथा वर्तमान में प्रचलित नहीं है, परन्तु जिस प्रकार महाभारत काल में कुछ स्थलों पर विधवा पुनर्विवाह प्रथा प्रचलित थी, वे अपने देवर के साथ विवाह कर सकती थी, उसी प्रकार वर्तमान समाज में भी कुछ उदाहरण विधवा पुनर्विवाह के यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। विधवायें श्रृंगार, मांग में सिन्दूर, आभूषण इत्यादि का परित्याग करती हैं। वर्तमान समाज में नियोग प्रथा एवं सती प्रथा का प्रचलन नहीं है।

वर्तमान काल में स्त्री की सामान्य स्थिति

वर्तमान काल में भी महाभारतकाल के समान स्त्रियों को अनेक प्रकार की सुविधायें दी जाती हैं। स्त्री को यद्यपि अवध्य माना गया है, किन्तु फिर भी आज भी स्त्रीवध होते हैं। वर्तमान समय में स्त्रीवध विशेषतया दहेज-प्रथा के कारण होते हैं। वरपक्ष को उचित दहेज न मिलने के कारण ससुराल पक्ष द्वारा उसकी हत्या की जाती है। अत: समाज के शिक्षित लोगों को चाहिए कि समाज की इस कुरीति को दूर करने का प्रयास करें। जिससे समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो।

वर्तमान समय में भी महाभारत काल के समान पर्दा-प्रथा प्रचलित नहीं है, स्त्रियाँ भी पुरुषों के साथ कंधें से कंधा मिलाकर प्रत्येक क्षेत्र में अग्रणी की भूमिका निभा रही हैं। वर्तमान समय में भी स्त्रीशिक्षा चरमोत्कर्ष पर है। आज स्त्रियाँ प्रशासनिक क्षेत्र, राजनीति, स्वास्थ्य, सामाजिक, आर्थिक इत्यादि क्षेत्रों में पुरुषों के ही बराबर देश, राष्ट्र, समाज की सेवा करने में तत्पर हैं। वर्तमान समय में शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण, रोजगार की प्राप्ति इत्यादि है। महाभारत काल के समान आज धार्मिक शिक्षा का बोलबाला बहुत कम है। आज इस भौतिकवादी युग में स्त्रियाँ भी सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए, आर्थिक सुधार के लिए ही शिक्षा ग्रहण करती हैं। वर्तमान काल में स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं।

निष्कर्ष

'महाभारत में वर्णित स्त्रियों का वर्तमान परिपप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन' करने से स्पष्ट होता है कि महाभारतकालीन समाज में नारी का जो गौरवमय स्थान था, उसमें धीरे-धीरें उन्नति होने लगी। वस्तुत: भारतीय संस्कृति में स्त्री जीवन की सम्पूर्णता एवं सार्थकता की आधारशीला है। स्त्री के प्रति असीम आदर भाव, वेद, पुराणों इत्यादि शास्त्रों से स्पष्ट होता है। उसकी जो महिमा है वह भारतीय नारी के उदात्त शील-सौजन्य एवं उसकी पारिवारिक-सामाजिक प्रतिष्ठा का परिचय देती है। उपर्युक्त विवेचन से यह संकेत मिलता है कि स्त्री-गरिमा के प्रति जैसी जागरूकता महाभारतकाल में थी, वैसी ही गरिमा आज भी है। **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'** की दृढ़ आस्था भारत में मनु के युग में भी थी और आज भी वह आस्था भारत में है।

गुरुकुल शोध भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१७५-१७९)

महाभारतकालीन कर-संग्रह-व्यवस्था और आधुनिक सन्दर्भ

डॉ० सुरेन्द्र कुमार

महाभारत के समय तक वेद कालीन जनतन्त्रात्मक राजतन्त्रीय व्यवस्था यद्यपि वंशानुगत राजतन्त्र में परिवर्तित हो चुकी थी, तथापि इस संस्था के मूल उद्देश्यों में परिवर्तन नहीं हुआ था। राजा का प्रमुख लक्ष्य लोकरञ्जन था, भोगविलास नहीं।[1] अतः तत्कालीन कर संग्रह के पीछे प्रजा के योगक्षेम की चिन्ता स्पष्टतः लक्षित होती है। इस प्रसङ्ग में आचार्य कौटिल्य के उस कथन का उल्लेख करना उचित होगा, जिसमें वे कर व्यवस्था के उद्भव और प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-'मात्स्य न्याय से पीड़ित प्रजाओं ने अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया और तभी से प्रजाओं ने अपनी कृषि की उपज का छठा भाग व्यापार की आमदनी का दसवाँ भाग तथा कुछ सुवर्ण राजा को कर के रूप में देना निश्चित किया। इस कर को पाकर राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा और कल्याण का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर स्वीकार किया। इस प्रकार कर और दण्ड-व्यवस्था प्रजाओं के कष्टों का निवारण करने और उनका कल्याण करने में सहायक सिद्ध होती है।[2]

महाभारतकाल में कर-व्यवस्था का स्वरूप लगभग वही है, जो मनुस्मृति में प्राप्त होता है।[3] महाभारत में करसंग्रह के प्रसङ्ग में उल्लेख मिलता है कि 'प्रजा की रक्षा के लिए राजा उनकी आय का छठा भाग कर के रूप में ले।[4] विद्वानों की यह मान्यता है उत्तरवैदिक काल में जब करसंग्रह की व्यवस्था राजकोष की वृद्धि का नियमित अङ्ग बन चुकी थी, तब कर का अधिकांश भार वैश्य ही उठाते थे। इस विषय में डॉ. विजय बहादुर राव लिखते हैं -

---

१. लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मसनातनः। सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम्।। महा. शा. ५७.११. धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु। मान्धातरेवं जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता।। महा. शा. ९१.३

२. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासु। तेन भृताः राजानः योगक्षेमवहाः। तेषां किल्बिषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्। अर्थशास्त्र. पृ. ८. अ. १२

३. मनु. ७.१३०-१३२

४. आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन। षड्भागममितप्रज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये।। महा. शा. ६९.२५; आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति। प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन पार्थिवः।। वही. २४.१२; अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्। तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम्।। वही. आदि. २१२.९

उत्तरवैदिक युग में पुरोहित वर्ग राजकर से मुक्ति का दावा करने लग गया था। सम्भव है राज्य ने भी पुरोहितों के प्रभाव के कारण इसे स्वीकार किया हो। क्षत्रिय स्वयं शासक वर्ग के थे। शूद्रों के पास विशेष सम्पत्ति नहीं थी। ऐसी स्थिति में वैश्यों पर ही कर का विशेष भार होना स्वाभाविक था।[५]

महाभारत में प्रत्यक्षतः इस तथ्य की पुष्टि तो नहीं होती, किन्तु प्रकारान्तर से इस बात के संकेत मिलते हैं कि उस समय कर का विशेष भार वैश्य ही उठाते थे। इस विषय में महाभारत का एक प्रसङ्ग द्रष्टव्य है - स्वयंवर में द्रौपदी द्वारा ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन का वरण करने के पश्चात् पाण्डवों के साथ चले जाने के बाद महाराज द्रुपद विचार करते हैं कि द्रौपदी को प्राप्त करने वाला कहीं शूद्र या वैश्य तो नहीं है- **'क्वचिन्न शूद्रेण हीनजेन, वैश्येन वा करदेनोपपन्ना'**।[६] यहाँ वैश्येन पद के साथ प्रयुक्त करदेन विशेषण से तथा उस समय कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य द्वारा अर्जित आय पर करग्रहण के उल्लेख से भी यही प्रतीत होता है कि उस समय कर देना विशेषतः वैश्यों का ही कर्तव्य रहा होगा।

महाभारतकालीन कर प्रणाली के विषय में उपर्युक्त कुछ तथ्यों का प्रतिपादन तो प्रसङ्गवश किया है, किन्तु इस शोधपत्र का मुख्य प्रयोजन तात्कालिक करसंग्रह प्रणाली की उस अक्लेशकर पद्धति का वर्णन करना है, जिसमें राजा इस बात का पूरा ध्यान रखता था कि कर देते समय प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो। इस विषय में राजा के लिये स्पष्ट निर्देश है कि वह धनप्राप्ति के कार्यों में अधर्म और लोभ के वशीभूत न हो।[७] यदि वह मोह में फंस कर अमर्यादित करसंग्रह द्वारा प्रजा को पीड़ित करेगा तो वह आय के स्रोत के साथ-साथ स्वयं का भी विनाश करेगा।[८] जैसे कोई क्षीरार्थी गाय के थन को काट कर दुग्ध प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही अयुक्त कर-व्यवस्था से राष्ट्र का विकास नहीं होता।[९]

महाभारत के उक्त उपदेश को आधुनिक सन्दर्भों में देखें तो हमें लगेगा कि हमारे देश की वर्तमान कर-व्यवस्था इतनी बोझिल है कि कर चुकाने वाला अधिकांश करदाता पीड़ित है। इसलिए जिसको भी अवसर है वह कर देने से यथासम्भव बचना चाहता है। यही कारण है कि वेतनभोगियों को छोड़कर, जिनकी आय का लेखा-जोखा सरकार के पास नहीं है, अधिकांश लोग ईमानदारी से कर नहीं चुकाते हैं। इसका एक प्रमुख कारण कर का इतना भारी भरकम होना है कि स्वेच्छा से अपनी वास्तविक आय पर कर चुकाना आसान काम नहीं है।

---

५. उत्तरवैदिक समाज और संस्कृति. पृ. १८२

६. कचिन्न शूद्रेण न हीनजनेन. वैश्येन वा करदेनोपपन्ना। कच्चित् पदं मूर्ध्नि न मे निदिग्धं. कच्चिन्माला पतिता न श्मशाने। महा. आदि. १८४.१५

७. मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम्। धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत्। वही. शा. ७१.१३

८. अर्थमूलोऽपि हिंसा च कुरुते स्वयमात्मनः। करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्पीडयन् प्रजाः।। वही. शा. ७१.१५

९. ऊधश्छिन्द्याद्धि यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः। एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते।। वही. शा. ७२.१६

हमें यह ज्ञात हो कि दुनिया के लगभग सभी देशों के निवासियों की तुलना में हम ज्यादा कर चुकाते हैं। कुछ वर्ष पहले 'द इकनामिक टाइम्स' ने एक सर्वेक्षण कराया जिसमें यह जानने का यत्न किया गया कि दुनिया के अलग-अलग देशों में रहने वाले वे सभी लोग जिनकी वार्षिक आय डेढ़ से दो लाख भारतीय रुपये के समतुल्य है, किस दर से कर चुकाते हैं। आय के इस समतुल्य स्तर पर पहुँचने के लिए सर्वेक्षणकर्ताओं ने प्रत्येक देश की मुद्रा को उसंकी वस्तु-क्रय-क्षमता और अन्तर्राष्ट्रिय विनिमय दर के आधार पर निर्धारित किया। इस सर्वेक्षण में पाया गया कि एक मध्यमवर्गीय भारतीय जो कि अपनी आय का लगभग तीसरा भाग कर के रूप में चुकाता है, दुनियाँ के (केवल दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर) सभी देशों के मध्यमवर्गीय नागरिकों से अधिक कर चुकाता है।

भारत में डेढ़ से दो लाख की आय पर सरचार्ज मिलाकर 30.6% कर चुकाना पड़ता है। इग्लैंड में यह दर 22% और अमेरिका में 15%, सिंगापुर में तो यह दर केवल 9% है। यहाँ तक कि पाकिस्तान और बांग्लादेश में भी यह दर हमसे न्यून है।[१०]

अर्थसंग्रह में आचरित इस नृशंसता ही यह परिणाम है कि हमारे देश में केवल 2% लोग ही कर चुकाते हैं और ये कर देने वाले 2% लोग भी धनाढ्य लोग नहीं हैं।[११] यह तो वह वेतनभोगी मध्यम वर्ग है जो हमारी करव्यवस्था की अव्यवस्था और उस अव्यवस्था से जन्मे अन्याय के बोझ तले दबा जा रहा है। यहाँ उक्त सर्वेक्षण के प्रसङ्ग में नवभारत टाइम्स की सम्पादकीय टिप्पणी की कुछ पंक्तियों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। वे लिखते हैं कि आप खच्चरों के एक ऐसे अन्तहीन काफिले की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें हर खच्चर की पीठ पर एक हाथी लदा हो और जो गिरते-पड़ते हमेशा चलते रहने के लिए अभिशप्त हो। इस बिम्ब में खच्चर एक आम मध्यमवर्गीय वेतनभोगी है। हाथी से मतलब है सफेद हाथी सिर्फ नाकारा सरकारी

10. Individual earning Rs. 2 lakh falling under:

South Africa	32%	New Zealand	19.5%
India	30.6%	Bangladesh	18%
Australia	30%	Hongkong	17%
Philippines	30%	Indonesia	15%
Brazil	28%	U.S.	15%
China	25%	Argenttina	14%
U.K.	22%	Taiwan	13%
Japan	20%	Thailand	10%
Pakistan	20%	Singapore	9%

११. Only 2% of the population pays these taxes and it is not even the highest 2%. The Economic Times, August 27, 2002

महकमों वाले सफेद हाथी ही नहीं, किन्तु वे तमाम बड़े किसान, बैंकों के अरबों रुपये दबाये बैठे उद्योगपति और बड़े व्यापारी भी जो बड़ी आसानी से टैक्स अदायगी से बचे रहते हैं।[१२]

निर्दिष्ट सर्वेक्षण को हुए कई वर्ष बीत गए। इस बीच भारत के वित्तमन्त्री कई बजट प्रस्तुत कर चुके हैं, किन्तु स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हमारी करपद्धति अभी भी क्लेशकारी है। अतः हमारे देश में करदाताओं की संख्या में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पा रही है। ऐसा तभी सम्भव है जब कर की दरों को घटाकर अक्लेशकर कर बना दिया जाये, तभी नये लोगों को कर देने के लिए प्रेरित किया जा सकेगा।

हमारी अर्थव्यवस्था के नायकों को महाभारत से शिक्षा लेते हुए अर्थसंग्रह में नृशंसता का परित्याग करना चाहिए।[१३] और इस उपदेश को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि - जैसे भ्रमर धीरे-धीरे पुष्प एवं वृक्ष का रस लेता है, जैसे दूध की अपेक्षा रखने वाला मनुष्य बछड़ों को कष्ट न पहुँचा कर धीरे-धीरे गाय को दुहता है, उसके थनों को कुचल नहीं डालता। उसी प्रकार राजा कोमलता के साथ राष्ट्र रूपी गौ का दोहन करे।[१४] जैसे जोंक धीरे-धीरे शरीर का रस चूसती है, जैसे बाघिन अपने बच्चे को दाँतों से पकड़कर विना कष्ट पहुँचाये इधर-उधर ले जाती है, इसी तरह राजा कोमल उपायों से ही राष्ट्र का दोहन करे।[१५] जैसे तीखे दाँतों वाला चूहा सोये मनुष्य के पैर के मांस को ऐसी कोमलता से काटता है कि उसे पीड़ा का ज्ञान नहीं हो पाता। उसी प्रकार राजा कोमल उपायों से ही कर ले, जिससे प्रजा दुःखी न हो।[१६]

इसके अतिरिक्त महाभारत में राजा को करसंग्रह के प्रसङ्ग में मालाकार के समान आचरण का उपदेश है, आङ्गारिक के समान नहीं। मालाकार (माली) वृक्षों की सेवा करता हुआ उनके पुष्पादि का उपयोग करता है। दूसरी ओर आङ्गारिक (कोयला बनाने वाला) वृक्ष को काट कर तथा जलाकर कोयला बनाता है। राजा को मालाकार के समान रहना है, आङ्गारिक के समान नहीं।[१७]

---

१२. नवभारत टाइम्स. अगस्त २८. २००२

१३. अनृशंश्चरेदर्थम्। महा. शा. ७०.३

१४. यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः। मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्। तद्वदर्थान् मनुष्येभ्यः आदद्यादविहिंसया। उ. ३४.१७ वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्। महा. शा. ८९.४

१५. जलौकावत् पिबेत् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः। व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रमदृष्ट्वा मा पतेदिति। वही. ८९.५

१६. यथा शल्यकवानाखुः पादं धूनयते सदा। अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत्। वही. ८९.६

१७. क-मालाकारोपमो राजन् भवमाङ्गारिकोपमः। तथा युक्तश्चिरं राष्ट्रं भोक्तुं शक्यसि पालयन्। महा.शान्ति. ७२.२० महा. शा. ७२.२० ख-पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्। मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः । वही. उद्यो. ३४.१८

इस प्रकार करसंग्रह के सरल और अपीडक उपायों से कोश की वृद्धि सम्भव है। यह तथ्य हमारी वर्तमान राज्य- व्यवस्था को समझ लेना चाहिए। साथ ही उसे यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि प्रजा से कर द्वारा संगृहीत धन का सदुपयोग हो।

हमारे देश की वर्तमानकालिक अर्थ- व्यवस्था के सन्दर्भ में यह तथ्य जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि सरकार कर द्वारा संगृहीत प्रजा के धन का 91% अपने तथा नौकरशाही के भोग-विलास में लुटा देती है। प्रजा की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य मूलभूत सुविधाओं के लिए केवल 9% धन व्यय किया जाता है। ब्रिटेन में इन सुविधाओं के लिएं प्रजा के कर का 58% अमेरिका में 55% तथा मलेशिया में 43% धन व्यय किया जाता है।[१८] ये सारी स्थितियाँ बता रही हैं कि हमारे शासकों को प्रजा के योगक्षेम की चिन्ता बिल्कुल नहीं है। महाभारतकार के शब्दों में तो ये तस्करी है।[१९]

---

१८. Adding salt to the wounds in the fact that the government fritters away most of the money it raises. Nearly 90% is spent on consumption fattening a blouted, inefficient bureaucracy being one of the main expenses. With India spending less and less on investment, the quality of state-funded healthcare, education, social services and physical infrastructure like roads and irrigation networks is dismal. Britain Duts about 58% of government spending on social services, America`s share is about 55% while Malaysia`s is about 43%, India`s share is nearly 9%. The Economic Times August 27, 2002.

१९. बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं तमुपयोजयेत्। न रक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिवतस्करः।। महा. शा. १३७.९६

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१८०-१८५)

महाभारत में धर्म का स्वरूप

डॉ० उमा जैन

धर्म शब्द का अर्थ है **'ध्रियते लोकोऽनेन धरति लोकं वा'** अर्थात् जिसके द्वारा लोक धारण किया जाता है या जो इस संसार को धारण करता है। धर्म मानव में कर्त्तव्य-पालन, धार्मिक या नैतिक गुण, भलाई, पवित्रता, औचित्य, शालीनता, सत्संग, धार्मिक भावमग्नता का बोध कराता है।[१] अर्थववेद में धर्म शब्द का प्रयोग 'धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित गुण' के अर्थ में हुआ है।[२] छान्दोग्योपनिषद् में धर्म से अभिप्राय यज्ञ, अध्ययन एवं दान, तपस्या अर्थात् तापस धर्म और ब्रह्मचारित्व से है।[३] तैतिरोपनिषद् में **'सत्यं वद', धर्मं चर**, आदि अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है।[४] भगवद् गीता के **'स्वधर्मे निधनं श्रेय:'**[५] में भी धर्म शब्द स्वकर्त्तव्य बोध का परिचायक है। वैशेषिक सूत्रकार के अनुसार 'धर्म वही है जिसमें लौकिक अभ्युदय एवं नि:श्रेयस् की सिद्धि हो।[६]' महाभारत में **'अहिंसा परमो धर्म:'**[७] **'आनृशस्यं परो धर्म:'**[८] **आचार: परमो धर्म:**[९] कहा गया है। अत: सत्य, अहिंसा, सदाचार, परोपकार, दाक्षिण्यादि सद्गुणों का निर्वहण करना ही धर्म है।

महाभारत में विशाल विश्व को एक श्रृंखला में बाँधने वाले सार्वभौम तत्त्व को धर्म कहा है। जो प्रजाओं को एक सूत्र में बाधँता है। राजा युधिष्ठिर के धर्मविषयक प्रश्न करने पर भीष्म पितामह उसके उत्तर में धर्म की महनीयता तथा व्यापकता को बतलाते हुए कहते हैं कि धर्म वस्तुत: अदृष्ट फल देने वाला होता है। सद्वस्तु के आलोचन (तप:) का फल भरण से पूर्व ही प्राणी को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान दृष्ट-फल होता है। धर्म के द्वार बहुत से हैं, जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है। धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती।[१०] अत: धर्म का आचरण सर्वदा तथा सर्वथा श्लाघनीय है। परन्तु संसार की स्थिति श्रद्धालु जनों के हृदय में भी श्रद्धा का उन्मूलन करती है। वनवास में अपनी दुरवस्था पर क्षोभ उत्पन्न होने पर युधिष्ठिर अपनी स्थिति का परिचय देकर

---

१. संस्कृत हिन्दी-कोश - वामन शिवराम आप्टे. पृ० ४८९
२. अथर्ववेद ९.९.१७
३. छान्दोग्योपनिषद्२.२३
४. तैत्तिरयोपनिषद्१.११
५. गीता-३.१५
६. वैशेषिक सूत्र - यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:।
७. अनुशासन पर्व ११५.१
८. वनपर्व३७३.७६
९. मनुस्मृति १.१०८
१०. शान्ति पर्व१७४.२

महर्षि लोमश से धर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा से पूछते है- 'भगवान्! मेरा जीवन अधार्मिक नहीं कहा जा सकता, तथापि मैं निरन्तर दुःखों से प्रताड़ित रहता हूँ। धर्म करने पर भी इतना दुःख का उदय। दूसरी ओर अधर्म का सेवन करने वाले सुख-समृद्धि के भाजन है। इसका क्या कारण है?' प्रत्युत्तर में लोमश ऋषि धर्म की महत्ता बतलाते हुए कहते है कि अधर्म के आचरण से मनुष्य की जो वृद्धि दिखाई पड़ती है, वह स्थानीय होकर क्षणिक होती है। मनुष्य अधर्म से बढ़ता है, उसके बाद कल्याण को देखता और पाता है। इतना ही नहीं, वह शत्रुओं को जीतता है परन्तु अन्त में समूल नष्ट हो जाता है।[११] अधर्म का आचरण कर्त्ता अकेले ही नाश को प्राप्त नहीं करता, अपितु अपने पुत्र-पौत्रादि सहित सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है।

मानव जीवन का स्वारस्य धर्माचरण में ही है। जो सकाम होने पर ऐहिक फलों को देता है और निष्काम भाव से आदृत होने पर आमुष्मिक फल--मोक्ष की उपलब्धि कराता है। फलतः महान् फल देने वाले, परन्तु धर्म से विहीन, कर्म का संपादन मेधावी पुरुष कभी न करे, क्योंकि ऐसा आचरण कथमपि हितकारक नहीं माना जा सकता।[१२] धर्म का साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। व्यास जी के मत में यदि किसी सभा में न्यायार्थ व्यक्ति के उपस्थित होने पर उस सभा के सभासद्गण उसके वचनों की उपेक्षा कर न्याय करने के लिए उद्यत नहीं होते, तो उससे धर्म को महान् पीड़ा होती है। महाभारत के सभापर्व में द्रौपदी के चीरहरण के अवसर पर विदुर का वचन[१३] उद्योगपर्व में कौरवसभा में दौत्य के अवसर पर श्रीकृष्ण का वचन कितना मर्मिक है[१४] किसी राजसभा में आर्त व्यक्ति जो दुःखों से प्रताड़ित होकर न्याय माँगने के लिए आता है, जलते हुए आग के समान होता है। उस समय सभासदों का कर्त्तव्य होता है कि वे सत्य-धर्म के द्वारा उस अग्नि को शान्त करें। यदि अधर्म से विद्ध होकर धर्म सभा में उपस्थित हो, तो सभासदों का धर्म होता है कि वे उस काँटे को काटकर निकाल बाहर करें। यदि ऐसा नहीं करते, तो उस सभा के वे सदस्य स्वयं ही अधर्म से विद्ध हो जाते हैं। ऐसे समय के पाप का विभाजन भी महाभारत की सूक्ष्म धार्मिक भावना का पर्याप्त अभिव्यापक है। महाभारत का कथन है कि जिस सभा में निन्दित व्यक्ति की निन्दा नहीं की जाती, वहाँ उस सभा का श्रेष्ठ पुरुष आधे पाप को स्वयं लेता है, करने वाले को चौथाई पाप मिलता है और चौथाई पाप सभासदों को प्राप्त होते हैं। न्यायान्याय की इतनी सूक्ष्म विवेचना शायद ही अन्यत्र उपलब्ध हो।

जब श्रीकृष्ण सन्धि कराने के उद्देश्य से दौत्यकर्म स्वीकार कर धृतराष्ट्र की सभा में जाते हैं, तो दुर्योधन द्वारा उनको बाँधने का प्रयास करते हुए होने पर, सभासदों के देखते हुए होने पर भी कर्म धर्म अधर्म के द्वारा

---

११. वनपर्व८४.४

१२. शान्ति० अ०२९३.८

१३. सभापर्व अथर्व० ६८.५९.६०.७७.७८

१४. उद्योगपर्व अथर्व० ९५.४९

तथा सत्य अमृत द्वारा मारा जाता है, ऐसा होने पर सभासदों की ही हत्या जाननी चाहिए, क्योंकि जो सभासद् अधर्म को देखते हुए भी चुपचाप बैठे रहते हैं और उस पर अन्याय अथवा अधर्म का प्रतिकार नहीं करते, उन्हें वह धर्म उसी प्रकार तोड़ देता है, जिस प्रकार नदी किनारे पर उगने वाले पेड़ों को अपने वेग से तोड़कर गिरा देती है।[१५] सभा में दु:शासन द्वारा वस्त्र एवं केशों से खिंची जाती हुई द्रौपदी की अवस्था पर शान्त मुद्रा बनाये हुए राजा धृतराष्ट्र तथा सभा में उपस्थित भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्यदि सभी असमय में ही काल कवलित हो जाते हैं।

महाभारत के विराट् पर्व में द्रौपदी के प्रति दुष्कर्म करने वाले कीचक के दुष्कृत्यों पर ध्यान न देकर, उसको न रोकने वाले राजा विराट् की सभा में सैरंध्री नाम से महारानी की परिचर्या करने वाली अपमानित द्रौपदी राजा को ललकार कर चुनौती देती हुई कहती है कि राजा का धर्म अन्यायी को दण्ड देना है, परन्तु तुम राजा होकर भी कीचक के प्रति राजवत् कुछ भी नहीं करते हो। यह तो डाकुओं का धर्म है जो सभा में तुम्हें कथमपि शोभा नहीं देता।[१६] कितनी उग्र है, यह भर्त्सना। कीचक परस्त्री के साथ अन्याय करने पर तत्पर है। ऐसी दशा में राजा को उसे उचित दण्ड देना सर्वथा न्यायसंगत है।

महाभारत काल बौद्धधर्म तथा ब्राह्मणधर्म के उत्कट तथा घनघोर संघर्ष का युग था। बौद्ध अपने नास्तिक विचारों के कारण जन-साधारण का प्रिय बना हुआ था। उस समय ऐसे व्यक्ति जिनके मूँछ भी नहीं जमी थी[१७] घर-द्वार से नाता तोड़, माता-पिता तथा गुरु-बन्धुजनों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर संन्यासी का वेश धारण कर जंगल में तपस्या करने लगे थे। शान्तिपर्व के प्रारम्भ में इस संघर्ष का भीषण परिचय प्राप्त होता है, क्योंकि युधिष्ठिर भी वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना कर निवृत्ति-मार्ग के पथिक के रूप में चित्रित किए गए हैं। वे अरण्य-निवास के प्राकृतिक सौख्य, सुषमा तथा स्वच्छन्दता का वर्णन बड़ी मार्मिकता एवं युक्ति से करते हैं। जो बड़ा ही हृदयावर्जक तथा मंजुल है।[१८] जिसका कारण महाभारत युद्ध में भूयसी नरहत्या से विषण्ण चित्त युधिष्ठिर मानव के शाश्वत मूल्यों की अवहेलना कर संन्यास-जीवन के प्रति अत्यासक्ति के कारण बौद्ध भिक्षुक का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे समय में उन्हें अपने चारों अनुजों तथा श्रीकृष्ण और व्यास जी के स्वस्थ उपदेशों से वर्णाश्रम धर्म के सम्यक् पालन हेतु बोध कराया जाता है कि अपने ऋषियों, पितरों तथा देवों के ऋणों का वेदाध्ययन, पुत्रोत्पादन तथा यज्ञविधान द्वारा विना निष्क्रय-संपादन किए संन्यास ग्रहण करना विडम्बना है, धर्म के नितान्त प्रतिकूल है। इसलिए वर्णाश्रम धर्म का पालन करना मानव जीवन के लिए एक आदर्श है।

---

१५. वही. ९६.३१

१६. विराट० १६.३१

१७. शान्ति० ११.२-३

१८. वही. अथर्व० ९

अन्य तीन आश्रमों के निर्वाह करने के कारण गृहस्थाश्रम ही हमारा परम ध्येय है, जिसका उपदेश महाभारत में नाना प्रसङ्गों में विविध रूपों में दिया गया है। धर्म का सर्वस्व इस पद्य में निर्दिष्ट किया गया है-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम्।
आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

अर्थात् अपने लिए जो वस्तु प्रतिकूल लगे उसको दूसरों के लिए कभी नहीं करनी चाहिए। साथ ही जिस कार्य की हम निन्दा करते हैं उसको हमें स्वयं कभी नहीं करना चाहिए।[१९] इस कथन के अन्तर्गत जनजीवन को उदात्तपथ पर ले चलने का बड़ा ही गम्भीर तत्त्व निहित है। सामाजिक प्राणी धर्म के इन सामान्य नियमों का अपने जीवन में जितना आदर करते हैं, वे उतना ही महत्त्वशाली होते हैं। शान्तिपर्व के ११वें अध्याय में शक्र ने अजातशमश्रु बाल संन्यासियों की टोली के समक्ष 'विधसाशी' (गृहस्थ) की भूरि प्रशंसा की है, जो प्रात: सायं अपने कुटुम्बियों को अन्न प्रदान करता है, साथ ही अतिथि, देव, पितृ तथा स्वजन को देने के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को स्वयं खाता है।[२०] पञ्चमहायज्ञों का विधिवत् अनुष्ठाता गृहस्थ ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना जाता है। असामयिक वैराग्य से उद्विग्नचित्त होकर गृहस्थाश्रम को छोड़कर निवृत्ति मार्ग का पथिक बने हुए युधिष्ठिर की अत्यधिक भर्त्सना करते हुए नकुल कहता है- हे प्रभुवर! युधिष्ठिर, महायज्ञों का सम्पादन किए विना, पितरों का श्राद्ध किए विना तथा तीर्थों का स्नान किए विना यदि आप प्रव्रज्या लेना चाहते हैं, तो आप उस मेघ खण्ड के समान नाश प्राप्त कर लेंगे, जो वायु के झोंके से प्रेरित होकर **'इतो भ्रष्टस्ततो नष्ट:'** से दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर अन्तराल में ही झूला करते हैं।[२१] फलत: पूर्वोक्त कर्मों का अनुष्ठान किए विना संन्यास का सेवन महानिन्दनीय कर्म है।

अन्य आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही आश्रित तथा अवलम्बित हैं। महाभारत के शन्तिपर्व में गृहस्थाश्रम की महत्ता बतलाते हुए अर्जुन का कथन है कि यदि याचमान भिक्षुक को गृहस्थ राजा दान नहीं देता, तो वह अग्नि के समान स्वत: ही उपशान्त हो जाएगा अर्थात् जिस प्रकार ईंधन न डालने पर अग्नि निर्वाण को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार दान न मिलने पर भिक्षुक की भी उपशान्ति अर्थात् मृत्यु हो जाती है। अन्नदान से ही भिक्षुकों का जीवन निर्वाह होता है। अत: राजा का (सामान्यत: गृहस्थ का) अन्न दान देना एक नित्यविहित आचरण है। अन्नदाता को प्राणदाता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्य तो यह है कि भिक्षु गृहस्थ से निर्मुक्त होने पर भी गृहस्थों पर आश्रित रहता है। फलत: दान्त लोग गृहस्थों से ही अपना प्रभव (उदय) तथा प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्त

---

१९. पराशर गीता. शान्ति० अथर्व० २९०
२०. शान्ति० ११.२३.२४

२१. वही. १२.३३.३४

कर निश्चिन्तता से अपना जीवन यापन करते हैं, क्योंकि वास्तव में गृहस्थाश्रम ही भारतीय समाज का मेरुदण्ड है। जो समाज रूपी शरीर को उन्नत तथा स्वस्थ बनाए रखता है।[२२]

महाभारत के अनुसार गृहस्थ जीवन के लिए हिंसा का पूर्णतया परित्याग न तो किया जा सकता है और न ही यह कथमपि गर्हणीय ही है। मानव जीवन हिंसा पर आधारित है। बड़े पशु पशुओं की हिंसा करके ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं और प्राण धारण करते हैं।[२३] महाभारत हिंसा के उज्ज्वल पक्ष को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है कि दूसरों के मर्म को भेदे विना, दुष्कर कार्य को किए विना और अपने शत्रु को मारे विना क्या कभी मनुष्य महती लक्ष्मी को पा सकता है[२४] अर्थात् कभी नहीं। युधिष्ठिर ससैन्य दुर्योधन का विनाश करके ही अपने राज्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। शान्ति से नहीं। इतना ही नहीं अपने शत्रु को मारे विना क्या कभी यश, धन और प्रजा को प्राप्त किया जा सकता है ? कभी नहीं। इन्द्र ने वृत्रवध से ही महेन्द्रत्व प्राप्त किया। लोक उन्हीं देवों की अर्चना करता है, जिन्होंने शत्रुओं को मारकर अपनी प्रतिष्ठा निरवछिन्न बनाए रखी। निष्कर्षत: इस संसार में कोई भी जीवित प्राणी अहिंसा से कभी भी जीवित नहीं रहता उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा का आश्रय लेना ही पड़ता है। यह लोक जीवन का ध्रुव सत्य है-

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया।[२५]

हिंसा का आश्रय कर दण्ड का विधिवत् आश्रयण राजा का मुख्य कर्त्तव्य होता है। महाभारत के शान्तिपर्व के १५वें अध्याय में अर्जुन में दण्ड की भूयिष्ठ स्तुति प्रस्तुत की है, जो समाज के मंगल साधन का एक प्रधान अङ्ग है। आज जो अधिकारी वर्ग महात्मा गाँधी के 'अंहिसा' सिद्धान्त को अपनाकर अपने विरोधी राष्ट्रों के आक्रमण का प्रतिकार करने से हिचकते हैं, उन्हें महाभारत का यह अध्याय गम्भीरता से मननकर अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि अपने शत्रुओं से विरोध करना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है, विशेषत: किसी भी देश तथा राष्ट्र के शासक का ऐसा न करने पर यह पृथ्वी उसे उसी प्रकार निगल जाएगी जैसे साँप बिलशायी चूहों को निगल जाता है-

द्वावेतौ ग्रसते भूमि: सर्पो विलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्।।[२६]

महाभारत में गृहस्थ-जीवन के लिए हिंसा को एक नितान्त आवश्यक साधन माना है।

---

२२. वही. १८.२७-२९
२३. वही. १५.२०-२५
२४. वही. १५.१४
२५. वही. १५.२०
२६. वही. २.५०.२१

महाभारत में धर्म ही मानव-कल्याण का परम साधक तत्त्व है, धर्म ही त्रिवर्ग का सार है। भारत सावित्री में व्यास जी ने शतसाहस्री संहिता का सार प्रतिपादित करते हुए कहा है कि धर्म से ही अर्थ उत्पन्न होता है और धर्म से ही काम उत्पन्न होता है। अर्थ और काम का मूल निश्चित रूप से से धर्म ही है। तब उस धर्म की उपासना क्यों नहीं करते?

'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।'[२७]

महाभारत का युद्ध भी धर्म तथा अधर्म के बीच उग्र संघर्ष का काल्पनिक प्रतीत न होकर वास्तविकता का स्पष्ट निर्देश ही है। दुर्योधन तथा उसके सहायक मन्युमय वृक्ष हैं तथा युधिष्ठिर और उनके सहयोगी धर्ममय वृक्ष हैं। कौरवों के युद्ध में पाण्डवों की विजय अधर्म के ऊपर धर्म के विजय का भव्य निदर्शन है।

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रो ऽमनीषी॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥[२८]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महाभारत धर्म का केवल शाब्दिक प्रतिपादन ही नहीं करता, प्रत्युत वह अपने कार्यों से नाना घटनाओं से, पाण्डवों के विषम स्थिति में निष्पादित कार्य-समूहों से, धर्म का व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरन्तर करता है, जिसमें मत-द्वैविध्य नहीं हो सकता। धर्म ही परलोक जाने वाले प्राणी का एकमात्र बन्धु होता है। वह निश्चयेन हमारा आप्त पुरुष है तथा सर्वदा स्थायी तत्त्व है। अत एव कल्याणकारी मानव द्वारा धर्म की उपासना अश्वयमेव करनी चाहिए, यही महाभारत का निर्भ्रान्त और अनिवार्य तत्त्व है-

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥[२९]

२७. महा०१८.५.४९
२८. आदि० १.११०.१११
२९. वही. २.३९१

मम्मट के रसदोष

डॉ० राजिन्द्रा शर्मा

रस काव्य की आत्मा है। रस की महत्ता आस्वाद में ही है। जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है, वह दोष कहलाता है।[१] रसास्वाद के बाधक तत्त्वों को ही रसदोष कहा जाता है। रस वाच्य न होकर व्यङ्ग्य होता है। रसदोषों का निरूपण आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया था,[२] परन्तु वह निरूपण अधिक व्यवस्थित नहीं था। मम्मट ने ध्वन्यालोक का अनुकरण करते हुए रसदोषों का विवेचन अधिक व्यवस्थित और तर्कसङ्गत रूप में किया। मम्मट ने रसदोषों का विवरण निम्न प्रकार से किया है।

१.व्यभिचारी भावों का स्वशब्द से कथन

व्यभिचारी भावों का व्यभिचारी (संचारी) शब्द से अथवा निर्वेद आदि शब्दों से कथन करना शब्दवाच्यत्व नामक रसदोष है। जैसे नवमिलन में भगवती पार्वती की दृष्टि आपके कल्याण के लिए होवे, जो प्रियतम शिवजी के मुख के सामने होने पर लज्जामयी, गजचर्म के परिधान के प्रति सकरुण, शिवजी के आभूषणभूत सर्प के प्रति त्रासयुक्त, अमृत को प्रवाहित करने वाले चन्द्रमा के प्रति विस्मय रस से युक्त, जह्नुकन्या गङ्गा को देखने पर ईर्ष्या से कलुषित तथा कपाल से युक्त शिव के उदर के प्रति दीनतायुक्त थी।[३]

उपर्युक्त उदाहरण में व्रीडा व्यभिचारी भावों का व्रीडादि संज्ञा शब्दों द्वारा कथन होने से व्यभिचारी भावों की स्वशब्दवाच्यता दोष है। यहाँ सव्रीडा के स्थान पर 'व्यानम्रा' आदि पाठ युक्त हो सकता है[४], क्योंकि उसमें व्यभिचारी भावों के वाचक शब्दों को हटाकर उनको अन्य प्रकार से प्रकट किया गया है। सव्रीडा के स्थान पर व्यानम्रा, सकरुणा के स्थान पर मुकुलिता सत्रासा के स्थान पर सोत्कम्पा, सविस्मयरसा के स्थान पर निमेषरहिता, सेर्ष्या के स्थान पर नीलदभ्रूः और दीना के स्थान पर म्लाना पाठ कर देने से उन व्यभिचरी भावों की स्वशब्दवाच्यता नहीं रहती है। अतः दोष का निवारण हो जाता है।

---

१. मुख्यार्थ हतिर्दोषो। काव्यप्रकाश. ७.४९

२. ध्वन्यालोक. ३.१८-१९

३. सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकन विधौ दीना कपालोदरे पार्वत्यां नवसङ्गगप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ।। काव्यप्रकाश. ७.३२१

४. व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे सोत्कम्पा भुजगे निभेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यान्दिनि। मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शन विधौ म्लाना कपालोदरे वही. ७.३२१

२.रस का सामान्यतः अपने शब्द अर्थात् 'रस' शब्द से कथन

रस का सामान्यतः स्वशब्द अर्थात् रस शब्द द्वारा अभिधान भी रस का दोष है। उदाहरण-कामदेव के विजय की मङ्गल लक्ष्मी के सदृश तथा तनिक ऊपर उठी हुई भुजाओं के मूलदेश को देखने वाली उस नायिका को आँखों में बसाते ही नायक के हृदय में अनिर्वचनीय और अविच्छिन्न रस उत्पन्न हो गया।[५]

उपर्युक्त उदाहरण में रस का सामान्य वाचक रस शब्द से ही निर्देश होने के कारण दोष है। यदि यहाँ **'कोऽप्यजायत विकार आन्तरः'** कर दिया जाए तो उचित विभावादि के अपेक्षा से शृङ्गार की अभिव्यक्ति भी हो जाए और आस्वाद का उत्कर्ष भी बना रहे।

रस का शृंगार आदि शब्दों से कथन

रस का शृङ्गार आदि शब्दों द्वारा कथन भी रसदोष है। यथा- कोमल, कपोलतल पर अभिव्यक्त अनुराग के कारण और भी मनोहर रूपवाली इस सुन्दरी को देखकर अपने बाल्यभाव का उल्लंघन करके नवयौवन में प्रवेश करता हुआ यह नायक शृंगार रस की सीमा में तरङ्गित हो रहा है।[६]

३.स्थायीभाव की स्वशब्द वाच्यता

स्थायी भावों का भी उसके पारिभाषिक शब्दों द्वारा अभिधान रसदोष कहलाता है जैसे कि- संग्राम में शस्त्रों को परस्पर टकराने से उत्पन्न 'ठनत्' ध्वनि को सुनकर उस वीर को कोई अपूर्व उत्साह हुआ।[७]

यहाँ पर 'उत्साह' स्थायी भाव का शब्दवाच्यत्व दोष है। यहाँ पर वीररस की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति संभव नहीं। यदि यहाँ पर **'प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत्'** कर दिया जाए तो यह दोष दूर हो जाता है।

४.अनुभाव की कष्टकल्पना

किसी रस में अनुभाव की योजना स्वाभाविक रीति से होनी चाहिए, किन्तु यदि अनुभाव की कष्टकल्पना से रस का बोध हो तो वहाँ दोष आ जाएगा। उदाहरण-

जब शिशिर किरण चन्द्रमा ने अपनी कर्पूरपराग के समान शुभ्र ज्योत्स्ना से सारी दिशाओं को निर्मल कर दिया, तब लीलापूर्वक सिर पर पल्ला डालने के विशेष प्रकार से जिसके स्तनों की उन्नति प्रकट हो रही थी, ऐसी वह नवयुवती उस नवयुवक के नयनगोचर हुई।[८]

---

५. तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्। नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः।। वही. ७.३२२

६. आलोक्य कोमल कपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्। पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः शृङ्गारसीमनि तरङ्गित मातनोति।। वही. ७.३२३

७. सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्। ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्।। वही. ७.३२४

उपर्युक्त उदाहरण में संभोग शृङ्गारोचित चन्द्र चन्द्रिका रूप उद्दीपन विभाव और नवयुवती रूप आलम्बन विभाव दोनों होते हुए भी ऐसे हैं, जो स्तम्भ स्वेदादि रूप अनुभाव के अनायास अभिव्यञ्जक नहीं हो पाते।

५.विभाव की कष्टकल्पना

विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति भी रसदोष है। यथा वह नायक वस्तुओं में से प्रीति को हटा रहा है, न किसी वस्तु को पहचान पा रहा है, गिर पड़ता है, बार-बार लोटता पीटता है। इस प्रकार विषम विरह की दशा नायक के शरीर को अभिभूत कर रही है। इस दशा में इसकी क्या मदद करें, यह समझ में नहीं आता।[९]

प्रतिकूलविभावादि का ग्रहण

प्रतिकूल विभावादिग्रहण वह रसदोष है, जहाँ प्रकृत रस के विरुद्ध इस सम्बन्धी विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का ग्रहण होता है। यथा- कोई रूठी हुई नायिका को प्रसन्न करता हुआ कह रहा है कि हे प्रिये! प्रसन्न हो जाओ, हर्ष प्रकट करो-क्रोध को छोड़ दो, मेरे सूखते अङ्गों पर वचन सुधा का सिञ्चन करो। सारे सुखों के निधान अपने सुन्दर मुख को मेरे सामने कर लो। हे मुग्धे! समय रूपी मृग फिर लौटकर नहीं आता है।[१०]

उपर्युक्त उदाहरण में जो प्रकृत शृंगार रस है, उसके विरुद्ध शान्तरस के उद्दीपन विभाव का अर्थात् समय की क्षण-भङ्गुरता का वर्णन किया गया है जो कि रसास्वाद से विघ्नभूत होने से रस का विघातक है और इसके साथ ही उद्दीपन विभाव से प्रकाशित निर्वेद रूप (शान्त रस का स्थायीभाव) जो व्यभिचारी भाव है, वह भी यहाँ प्रकृत शृङ्गार रस का विघातक ही है।

प्रकृतरस विरुद्ध अनुभाव के उपादान में रसदोष

जैसे कि-यह वधु गुरुजनों के बीच में गुप्तप्रेमी के दिखलायी देने पर घर का सारा काम छोड़कर वन को जाना चाहती है।[११] यहाँ पर सब कुछ छोड़ देना और वन को जाना शान्त रस के अनुभाव हैं, जिनका

---

८. कर्पूरधूलिधवलद्युतिपुरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः। लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्तिः व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नवयौवना सा।। वही. ७.३२५

९. परिहरिति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः। इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः।। वही. ७.३२६

१०. प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं प्रिये। शुष्यन्त्यङ्गन्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं न मुग्धे! प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः।। वही. ७.३२७

११. निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये। सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः।। वही. ७.३२९

उपादान यहाँ प्रकृत विप्रलम्भ श्रृंगार का विच्छेद ही कर रहा है, न कि पोषण। किन्तु यदि ईन्धन आदि लाने के बहाने से उपयोग के लिए वन गमन है तो यह रसदोष नहीं।

७.रस की पुनः पुनः दीप्ति

दीप्तिः पुनः पुनः वह रसदोष है, जहाँ अङ्गभूत रस का परिपोष हो जाने पर भी बार-बार उसे उद्दीप्त किया जाता है। जैसे- कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में प्रथम श्लोक से छब्बीसवें श्लोक तक बार-बार करुण रस को उद्दीप्त किया गया है।[१२]

८.अकाण्ड में प्रथन

विना अवसर के रस का विस्तार कर देना भी एक प्रकार का रसदोष है। वेणीसंहार के द्वितीय अंक में भीष्म आदि अनेक वीरों के विनाश का प्रसङ्ग होने पर भानुमती के साथ दुर्योधन के सम्भोग रूप शृङ्गार रस का वर्णन अनुचित होने से रसदोष है।[१३] अवसर के अनुकूल रस का ही आस्वादन किया जा सकता है अन्य का नहीं, जैसे कि उपर्युक्त उदाहरण में करुण और वीर का ही आस्वादन सम्भव है, श्रृंगार का नहीं।

९.अकाण्ड में विच्छेद

किसी वर्णन में अचानक रस का विच्छेद कर देना भी दोष है। इस अनवसर पर रसभंग या अकाण्डछेद कहा जाता है। जैसे- महावीरचरित के द्वितीय अङ्क में राम और परशुराम के संवाद में वीररस के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने पर 'कङ्कण' खोलने के लिए जा रहा हूँ। कहकर युद्धोत्साह से विरत हो जाना वर्णित है।[१४] इससे रामगत वीर रस के आस्वाद में विघ्न पड़ गया है। सहृदयों की रसानुभूति में बाधक होने से यह दोष हो जाता है।

१०.अङ्ग (अप्रधान पात्र) का विस्तृत वर्णन

अप्रधान (प्रतिनायक) आदि का विस्तार से वर्णन भी रसदोष है। काश्मीर के भर्तृमेष्ठ कवि विरचित नाटक 'हयग्रीववध' में विष्णु प्रधान नायक है। उनको छोड़कर प्रतिनायक दैत्य (हयग्रीव) का जल केलि, वनविहार, रतोत्सव आदि का नायक की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णन हयग्रीव के महत्त्व को बढ़ाता है अतः दोष है।[१५]

---

१२. दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे। वही. पृष्ठ संख्या ३८७

१३. वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम्। वही. पृष्ठ संख्या ३८७

१४. अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघव भार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे कङ्कणमोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ। वही. पृष्ठ संख्या ३८८

१५. अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य। वही. पृष्ठ संख्या ३८८

११.अङ्गी अर्थात् प्रधान नायक या नायिका का विस्मरण

काव्य के नायक या नायिका को भूल जाना रसास्वाद में विघ्न उपस्थित कर देता है। उदाहरण- रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में (सिंहलेश्वर के कञ्चुकी) बाभ्रव्य के आने पर सागरिका का नायक वत्स राजा द्वारा एक प्रकार से विस्मरण कर दिया जाता है।[१६] सागरिका की विस्मृति से शृङ्गार रस की प्रतीति में विच्छेद सा आ जाता है अतः दोष हो जाता है।

प्रकृति विपर्यय

मम्मट के अनुसार जिस प्रकृति के लिए जो वर्णन उचित नहीं है, उसका वहाँ वर्णन प्रकृति विपर्यय रूप रसदोष है। प्रकृति (नायक) के तीन प्रकार हैं- दिव्य (देवता रूप इन्द्र) अदिव्य (मनुष्य रूप वत्सराज) दिव्यादिव्य (मनुष्य रूप में अवतीर्ण राम कृष्णादि)। में तीनों भी चार प्रकार के हैं-

(१) वीर रस प्रधान धीरोदात्त (२) रौद्ररस प्रधान धीरोद्धत (३) शृंगार रस प्रधान धीर ललित (४) शान्त रस प्रधान धीरप्रशान्त। श्रीराम, भार्गव, कृष्ण तथा जीमूतवाहन क्रमशः उदाहरण हैं। अब ये बारह उत्तम, मध्य और अधम रूप से ३६ प्रकार के होते हैं।[१७]

उक्त प्रकृतियों में से रति, हास, शोक और अद्भुत (ये भाव) अदिव्य उत्तम नायक के समान दिव्य नायकों में भी होते हैं। किन्तु संभोग शृङ्गार रूप रतिभाव का उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका वर्णन माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित है।[१८] इसके बाद भृकुटिरहित क्रोध तथा स्वर्ग, पाताल गमन या समुद्रलङ्घन आदि के उत्साह का वर्णन केवल दिव्य प्रकृतियों में ही करना चाहिए। अदिव्य प्रकृति में अधिक नहीं करना चाहिए, क्योंकि अधिक वर्णन कर देने से उसके असत्य प्रतीत होने से नायक के समान व्यवहार करना चाहिए, प्रतिनायक के समान नहीं, इस प्रकार के उपदेश में परिणत नहीं हो सकता। दिव्यादिव्य में दिव्य तथा अदिव्य दोनों के योग्य कार्यों का वर्णन किया जा सकता है।[१९]

---

१६. अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः। वही. पृष्ठ संख्या ३८८

१७. प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च. वीररौद्रशृंङ्गारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्ताः. उत्तमाधममध्यमाश्च। वही. पृष्ठ संख्या ३८९

१८. तत्र रतिहासशोकाद् भूतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि! किन्तु रतिः सम्भोगशृंङ्गारूपा उत्तमदेवता विषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तानुचितम्। वही. पृष्ठ संख्या ३८९

१९. इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यः फलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लंघनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्। अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासेन नायकवद्वर्तितव्यम् न प्रतिनायकवद् इत्युपदेशो न पर्यवस्येत्। दिव्यादिव्येषु उभयाऽपि। वही. पृष्ठ संख्या ३९०

१३.अनङ्गवर्णन

अनङ्ग अर्थात् रस के अनुपकारक का वर्णन। उदाहरण के लिए कर्पूरमञ्जरी नाटिका में नायिका विभ्रमलेखा द्वारा और स्वयं नायक चण्डपाल द्वारा वसन्त वर्णन की उपेक्षा करके बन्दी द्वारा वसन्त वर्णन की राजा द्वारा प्रशंसा।[२०] इस प्रकार के वर्णन से नाटिका के शृंगार रस की अभिव्यक्ति में कोई सहायता नहीं मिलती।

ध्वनिकार ने भी कहा है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का कोई और कारण नहीं है औचित्य का वर्णन ही रस का परम रहस्य है।[२१]

---

२०. कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य वन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम्। वही. पृष्ठ संख्या ३९१

२१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। वही. पृष्ठ संख्या ३९१

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१९२-१९७)

वायुपुराण में भौगोलिक तथ्य
(सृष्टि विकास क्रम एवं प्रलय के सम्बन्ध में)

डॉ० आशा रानी वर्मा

पुराण भारतीय ज्ञान और संस्कृति के कोश हैं। पुराण का सामान्य अर्थ है-प्राचीन। इनमें प्राचीन कथानक, वंशावली, इतिहास, भूगोल, ज्ञान-विज्ञान आदि प्राचीन तत्त्वों का समावेश है, अत: इनका पुराण नाम कहा गया है। वायुपुराण में इसी भाव को व्यक्त करते हुए पुराण की परिभाषा दी गयी है।[१] पुराणकार के अनुसार पुराण ग्रन्थों को कहते हैं, जिनमें सर्ग (सृष्टि की उत्पत्ति), प्रतिसर्ग (प्रलय और पुन: सृष्टि), वंश (देवों और ऋषियों की वंशावली), मन्वन्तर (प्रत्येक मनु का समय और उस समय की प्रमुख घटनाएँ) और वंशानुचरित इन पाँच विषयों का मुख्य रूप से समावेश रहता है।[२] इसके अतिरिक्त प्राचीन ज्ञान विज्ञान भी इनमें वर्णित होता है। पुराणों में लोकहित और लोकरुचि का ध्यान रखते हुए ये भी बातें रोचक काव्यात्मक शैली में कही गयी हैं। अनेक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन आलंकारिक कथाओं के माध्यम से किया गया है।

भौगोलिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विश्व रचना और मानव जीवन का क्रमिक विकास वायुपुराण में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अन्य पुराणों की भाँति इसमें भावुकता की प्रधानता न होकर तर्क का प्राधान्य है। सृष्टि और इतिहास की घटनाओं के सम्बन्ध में कोई लेखक यह नहीं कह सकता है कि वह अपनी बुद्धि से उन्हें प्रस्तुत कर रहा है, उनका कोई न कोई आधार बताना ही पड़ेगा। इसीलिए वायुपुराणकार ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि पुराणकार ने जो कुछ भी लिखा है, उसकी सामग्री विभिन्न शास्त्रों और विद्वानों से एकत्रित की गई है।[३] इस प्रकार उसने तथ्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया है।

विश्वरचना

वायुपुराण ने माना है कि ईश्वर ही इस विश्वरचना का मूल कारण है। सृजन करने की इच्छा होने पर वह जगत् की सृष्टि करता है।[४] इस उपक्रम में सर्वप्रथम सृष्टि के लिए आवश्यक तत्त्वों से युक्त बृहद् अण्ड की

---

१. यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेनं तत्स्मृतम् - वायुपुराण १.२०२

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि वा।। २.१० उत्तरार्द्ध - वा०पु० वंशानुचरित चेति पञ्चलक्षणम्। २११ पूर्वार्द्ध - वा०पु०

३. तच्छास्त्रयुक्त्या स्वमतिप्रयत्नात्समस्तमाविष्कृतधीधृतिभ्यः। विप्रा ऋषिभ्यः समुद्राहतं यद्यथातथं तच्छृणुतोच्यमानम्।। वा०पु० ३२४

४. महांस्तु सृष्टि कुरुते नोद्यमानः सिसृक्षया। वा०पु० ४.२७ पूर्वार्द्ध

उत्पत्ति होती है।[५] यह अण्ड समस्त सृष्टि का बीज और हिरण्य अर्थात् तेजस् रूप था।[६] इस अण्ड के भीतर ही समस्त लोक, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र आदि छिपे हुए थे।[७] इस अण्ड से सर्वप्रथम ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ इसीलिए उनको हिरण्यगर्भ भी कहते हैं।[८]

यहाँ पर पुराणकार प्रकृति के तीन गुणों पर भी विचार करता है। ये तीन गुण है- सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। सत्त्वगुण- स्थितिकारक, रजोगुण- सृष्टिकारक और तमोगुण- संहारकारक है। वायुपुराण के अनुसार जैसे तिलों में तैल अथवा दूध में घी रहता है, उसी प्रकार सत्त्व और तम में अव्यक्त के आश्रय से रजोगुण रहता है।[९] गुणों की साम्यावस्था में प्रलय और इनकी विषमता में सृष्टि होती है।[१०] ईश्वर जब अपने उत्कृष्ट योग से अण्ड में प्रवेश कर उसे क्षुब्ध कर देते हैं, तब रजोगुण उदबुद्ध होता है, गुणों की विषमता पाकर चेतना के अधिष्ठान से सृष्टि होती है।[११] यह ईश्वर ही सत्त्व और रजोगुण प्रधान होकर ब्रह्मा के रूप में लोकों की सृष्टि करता है।

वायुपुराण में वर्णित सृष्टि का यह क्रम भौगोलिक महाविस्फोट के सिद्धान्त के समान है। जिसमें यह माना गया है कि अन्तरिक्ष के कुल पदार्थ प्रारम्भ के अत्यन्त सघन और विशालकाय आद्य पदार्थ के रूप में विद्यमान थे। इस आद्य पदार्थ या हिरण्यमय अण्ड में क्षोभ (विस्फोट) के फलस्वरूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई।

पृथ्वी की रचना

भूगोल वेत्ताओं के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आद्य पदार्थों से निर्मित विशालकाय आग के गोले में महाविस्फोट से हुई है। उस आद्य पदार्थ से विस्फोट के समय जो पदार्थ बाहर निकल कर बिखरे उनसे विविध ग्रहों और उपग्रहों की रचना हुई। हमारी पृथ्वी की रचना भी विस्फोट में बिखरे एक भाग से हुई। इसी कारण अपने जन्म के समय पृथ्वी बहुत गरम वायव्य पिण्ड के रूप में थी, जो धीरे-धीरे ठंडी होती गयी और उत्तरोत्तर ठोस भी होती गयी। इसी तथ्य को वायुपुराणकार ने काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है कि पृथ्वी तल पर अग्नि

---

५. पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च। महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति ते। वा०पु० ४.७४

६. वा०पु० १५०

७. वा०पु० ४८०-८३

८. वा०पु० ४७८

९. तिलेषु वा यथा तैलं घृतं पयसि वा स्थितम्। ५९ उत्तरार्द्ध। तथा तमसि सत्त्वे च रजोऽव्यक्तमाश्रितस्थितम्। ५१० पूर्वार्द्ध - वा०पु०

१०. गुणसाम्ये लये ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते। वा०पु० - ५९ पूर्वार्द्ध

११. वा०पु० ५११-१५

के नष्ट हो जाने पर अग्नि से जल उत्पन्न हुआ। पृथ्वी जब उस जल में विलीन हो गयी, तब चारों ओर समुद्र दिखाई पड़ने लगा। उस सलिल राशि पर भगवान् नारायण शयन करते थे।[१२]

वस्तुत: उस तेज पिण्ड से अलग होने पर पृथ्वी की अग्नि ठंडी होने लगी, जिससे वह सिकुड़ने लगी। पृथ्वी के सिकुड़ने और ठंडा होते रहने से जल वाष्पकणों का घनीभवन हुआ, जिससे वृष्टि होकर पृथ्वी पर सागरों का निर्माण हुआ। भूगोल में इसे आद्य महाकल्प या प्री कैम्ब्रियन कल्प कहते हैं।

इसी क्रम में पुराणकार भगवान् के वराह अवतार का आलंकारिक वर्णन करता है कि चारों और जल से आप्लुत भूमि को देखकर ब्रह्म ने विचार किया कि मैं किस प्रकार भूमि का उद्धार करूँ। तब उन्होंने विशाल वराह का रूप धारण कर जल से आवृत पृथ्वी को दांतों से पकड़कर जल के ऊपर स्थापित कर दिया।[१३] वराह अवतार की यह कथा क्रमश: भूमि के शुष्क और निवास योग्य होने की भौगोलिक घटना की ओर संकेत करती है। निरुक्त में 'वराह' इति मेघ नाम यह भी पठित है।[१४] इस समय तक पृथ्वी की आन्तरिक क्रियाओं के फलस्वरूप पर्वतों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पृथ्वी पर जैविक सृष्टि और विकास

ईश्वर की सृष्टि रचना की चर्चा मानव जीवन के विना अधूरी ही रहेगी। यहाँ जैविक सृष्टि से हमारा तात्पर्य मनुष्य जीवन और उसके विकास से है। प्राय: अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों का यह मत है कि कृतयुग अर्थात् सृष्टि का प्रारम्भ काल सभ्यता, संस्कृति, विद्या-बुद्धि, आचार-विचार आदि की दृष्टि से सर्वोत्तम समय था। पर वायुपुराण में सृष्टि के आदिकाल का वर्णन पढ़ते समय ऐसा भाव उत्पन्न नहीं होता। प्रकट में वायुपुराणकार ने भी उसे श्रेष्ठ ही बताया है, पर उस समय के प्राणी अल्पविकसित वनेचर अवस्था में थे। अष्टम अध्याय में मानव सभ्यता के आदिकाल का वर्णन करते हुये पुराणकार कहता है कि वह प्रजापति की प्रजा, सरित्, सरोवर, समुद्र और पर्वतों का सेवन करती थी। उस समय वे सब अत्यन्त शीत और उष्णता से रहित होते हुए सर्वत्र विचरण किया करते थे।[१५] वह प्रजा अपनी इच्छा के अनुरूप होती हुई, पृथ्वी के रस से उत्पन्न आहार को ग्रहण करती थी।[१६] उस कृतयुग में उन प्रजाओं में धर्म ओर अधर्म कुछ भी नहीं था, वह प्रजा विशेषतारहित थी।[१७] वह शरीर का संस्कार (स्नानादि) आदि भी नहीं करती थी। उनका जन्म ओर रूप समान था। उनकी मृत्यु भी साथ होती

---

१२. वा०पु० ६१-५

१३. वा०पु० ६२२-२७

१४. वराहो मेघो भवति। वराहार:। 'वराहारमहार्षी:' इति च ब्राह्मणम्। निरु०,५.४.

१५. सरित्सर: समुद्रांश्च सेवन्ते पर्वतानारि। तदा नात्यम्बुशीतोष्णा युगे तस्मिंश्चरन्ति वै।। वा०पु० ८४७

१६. पृथ्वीरसोद्भवं नाम आहारं ह्याहरन्ति वै। ता: प्रजा: कामचारिण्यो मानसी सिद्धिमास्थिता:।। वा०पु० ८४८

१७. धर्माधर्मौ न तास्वास्तां निर्विशेषा: प्रजास्तु ता:। वा०पु० ८४९

थी। उसकी शुभ और अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती थी, क्योंकि उस समय ऐसा विभाजन ही नहीं था।[१८] यह वर्णन इस भौगोलिक तथ्य की ओर संकेत करता है कि जीवन का प्रारम्भ और विकास जल के निकट हुआ था।

वैसे तो कल्पना के संयोग से इन प्राणियों को योगियों के तुल्य बताया जा सकता है, पर यदि मानव भूगोल के प्रकृति के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से विचार किया जाये तो वह बुद्धितत्त्व जिसके कारण मानव वास्तव में मानव बन सकता है, का सर्वथा अभाव इन कृतयुगीन प्राणियों में दिखाई पड़ता है। वे उसी अवस्था में रहते थे, जिनमें हम पशुओं को रहते हुए देखते हैं। वास्तव में जीव सृष्टि के प्रारम्भ में इससे अधिक की आशा भी नहीं की जानी चाहिये।

धीरे-धीरे आवश्यकता के अनुरूप मनुष्य के वनेचर से ग्रामीण जीवन अपनाया और ग्रामीण से नागरिक जीवन। लेकिन इस विकास क्रम में लाखों वर्षो का समय लगा। अनिकेत और आश्रयहीन मानव ने घर बनाये, वस्त्रों का आविष्कार किया और आचारप्रिय बना।[१९] उसने कर्म विभाग और वर्णव्यवस्था को अपनाया।[२०] इस प्रकार मानव समाज उन्नतशील होने के साथ-साथ जटिल होता चला गया।

प्रलय- प्रलय अर्थात् सृष्टि का अन्त। इसे हम दो स्तरों पर देख सकते हैं- पृथ्वी पर मानव जीवन का अन्त और सूर्य, पृथ्वी, ग्रहों, उपग्रहों आदि का अन्त। वायुपुराण ने भी प्रतिसन्धि आती है।[२१] उस समय जो जीव पृथ्वीतल पर रहते हैं, उन्हें प्रलय का सामना करना पड़ता है, पृथिवी जलमग्न हो जाती है। उस समय नारायण नामक ब्रह्मा जल में शयन करते हैं।[२२] यहाँ पर वायुपुराण में अन्य पुराणों की भाँति एकार्णव सिद्धान्त अपनाया गया है। इस स्थिति में जीवन का अन्त तो हो जाता है, पर पृथ्वी, सूर्य आदि का अन्त नहीं होता। ब्रह्मा अपनी रात्रि व्यतीत कर पुनः जीवन की रचना करने लगते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म का एक दिन हजार चतुर्युगों के परिमाण वाला होता है।[२३]

इसके विपरीत प्रत्याहार अर्थात् महाप्रलय अवस्था होती है, जिसमें मानव जीव ही नहीं अपितु पृथ्वी, सूर्य आदि भी नष्ट हो जाते हैं। वायुपुराण ने इस स्थिति को क्रमशः इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जब सृष्टि का प्रत्याहार केवल उपस्थित होता है। उस समय सर्वप्रथम जल भूमि के गंध स्वरूप वाले गुण को ग्रसता है, फिर भूमि प्रलय होने के लिए कल्पित होती है। सब ओर जल ही जल हो जाता है।[२४] दूसरे चरण में जल का गुण रस

---

१८. वा०पु० ८.५८-६४
१९. वा०पु० ८.९६-९९
२०. वा०पु० ८.१६२-१६६
२१. व्युच्छिन्नात् प्रतिसंधेस्तु कल्पाकल्पः परस्परम्। वा०पु० - ७.८ पूर्वार्द्ध
२२. वा०पु० ७.५९-६०
२३. वा०पु० ७.५८
२४. आपो ग्रसन्ति वै पूर्वं भूमेर्गन्धात्मकं गुणम्। आत्तगन्धा ततो भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते।। वा०पु० १०२.७.

तेज में लीन हो जाती है अर्थात् पृथ्वी के सलिलग्रस्त हो जाने के बाद तेज स्वरूप अग्नि उस जल को ग्रहण कर लेता है और चारों ओर अग्नि व्याप्त हो जाती है।[२५] तत्पश्चात् ज्योति के प्रकाशमय गुण को वायु अपने में समेट लेता है और चारों ओर अन्धकार छा जाता है।[२६] उस वायु के स्पर्श गुण को आकाश भूतादि ग्रस लेते हैं और महत् भूतादि को ग्रस लेता है। इस प्रकार सभी के विलीन हो जाने पर गुणों की साम्यावस्था आ जाती है, यही महाप्रलय की स्थिति है।[२७]

आधुनिक काल में विश्व के विभिन्न शोध संस्थानों में इस विषय पर शोध किये जा रहे हैं। कुछ अनुसन्धानकर्ताओं का मानना है कि सम्पूर्ण विश्व में आ रहा मौसम का बदलाव प्रलय का ही संकेत है। कहीं सुनामी तो कहीं तूफानों की शृंखला कहीं अतिवृष्टि तो कही हिमपात प्रलय का संकेत ही तो है, क्योंकि इन सभी से अपार जनहानि हो रही है। वायुपुराणकार द्वारा उल्लिखित जल प्रलय का समर्थन आधुनिक पोलर शिफ्ट के सिद्धान्त से हो जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन १९५८ में चार्ल्स हैपगुड ने किया था, जिसके अनुसार पृथ्वी का मेरु भूमध्यरेखा की ओर स्थानान्तरित होने लगता है। यह भौगोलिक परिवर्तन भयावह त्रासदी का कारण हो सकता है। यदि ऐसा होता है तो इसके परिणामस्वरूप महासागरों की विशाल लहरें जनजीवन को तहस नहस कर देंगी। हजारों मील प्रति घण्टा की गति से चलने वाली आँधियाँ पृथ्वी को अपनी चपेट में ले लेंगी, भूकम्प महाद्वीपों के आकार को बदल देंगे। यदि यह मेरु स्थानान्तरण १८० डिग्री से कम हुआ तो पोलर आइस कैप्स तीव्रता से पिघलने लगेगी, जिससे समुद्रों का जलस्तर बढ़ जायेगा। इस प्रकार अधिकांश भूभाग जलमग्न हो जायेगा।

पृथ्वी का विनाश केवल पृथ्वी की गतिविधियों से सम्बन्धित नहीं है, अपितु सूर्य की गतिविधियों से भी सम्बन्धित है। जहाँ पुराणकार यह कहता है कि पृथ्वी के जल को तेज ग्रस लेता है। वहाँ वह इसी ओर इंगित करता है। धरती का भविष्य नामक अपने लेख में प्रो० यशपाल बताते हैं कि हमारा सूर्य लगभग सात सौ करोड़ साल से चमक रहा है और अपनी गर्मी पृथ्वी को दे रहा है। ऐसी आशा की जाती है कि लगभग इतने ही साल यह और चमकेगा और उसके बाद इसके अन्दर का ईंधन समाप्त हो जायेगा और वह बहुत जोर से फैलेगा। यह इतना अधिक फैलेगा कि पृथ्वी को अपने भीतर ले लेगा। लेकिन उस समय पृथ्वी पर मनुष्य का अस्तित्व नहीं रहेगा। कुछ ऐसे ही विचार कैसवेस्टर्न रिवर्ज यूनिवर्सिटी क्लिवलैंड के खगोल भौतिकी के प्राध्यापक डॉ० लारेंस एम० क्राउस के हैं। उनका मानना है कि दो अरब साल बाद पृथ्वी इतनी गरम होगी कि यहाँ रहना नामुमकिन हो जायेगा। पाँच अरब साल बाद सूर्य का एक विस्फोट के साथ अन्त हो जायेगा ओर इस विस्फोट

---

२५. अथाग्निः सर्वतो व्याप्त आदत्ते तज्जलं तदा। सर्वमापूर्यतेऽर्चिभिस्तदा जगदिदं शनैः।। वा०पु० १०२.११

२६. प्रनष्टे रूपतन्मात्रे हृतरूपो विभावसुः। उप शाम्यति तेजो हि वायुना धूयते महत्।। वा०पु० १०२.१३

२७. वा०पु० १०२.१५ २३

की प्रक्रिया से गुजरते हुए पृथ्वी पोटेटो चिप्स की तरह रह जायेगी। शोधकताओं के अनुसार जीवन और संसार का अन्त इस प्राकृतिक प्रलय के साथ होगा। आधुनिक भूगोलशास्त्री एवं अनुसन्धानकर्ता भविष्य में होने वाली प्रलय का जैसा अनुमानित चित्रण करते हैं, उससे वायुपुराण का प्रलय वर्णन पूर्णतः न सही लेकिन अंशतः मिलता जुलता है। वायुपुराणकार ने सैकड़ों वर्ष पूर्व आधुनिक यन्त्रों के अभाव में भी सृष्टि के रहस्य को अपनी तर्क, बुद्धि और योगशक्ति से समझा था और लोकहित के लिए उन रहस्यों में छिपे भौगोलिक एवं वैज्ञानिक तथ्यों को काव्यात्मक आवरण में जन सामान्य के लिए प्रस्तुत किया था। इसी कारण पुराणों में वर्णित ये विषय सदैव जिज्ञासुओं को आकर्षित करते हैं।

गुरुकुल-शोध- भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०१९८-२०४)

मूल्य एवं सत्यता के निकष: एक विवेचन

डॉ० हेमलता श्रीवास्तव

नीतिशास्त्र के दो मुख्य संप्रत्यय हैं:- श्रेय और कर्तव्य। कुछ नीतिज्ञों ने श्रेय को और कुछ ने उचित या कर्तव्य पर बल दिया है। प्लेटो नीतिशास्त्र का मुख्य विषय श्रेय को मानते हैं। सुखवादियों ने श्रेय को मात्र सुख समझा। सभी भारतीय सम्प्रदाय (चार्वाक को छोड़कर) किसी न किसी रूप में मोक्ष या आत्मसाक्षात्कार को परम श्रेय मानते हैं। वहाँ इसे कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति आदि विभिन्न संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। उसकी तुलना में प्रेय को त्याज्य माना गया है, क्योंकि यह श्रेय के मार्ग में बाधक अशुभ एवं अकल्याणकारी है। उपनिषदों में प्रेय की निन्दा अर्थ और काम के प्रति आत्यन्तिक आसक्ति से विरत होने के उद्देश्य से की गयी है। कठोपनिषद् में यम- नचिकेता संवाद में कहा गया है-**'प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते'** अर्थात् अविवेकी मनुष्य श्रेयस् का वरण करता हैं।[१] यहाँ पर श्रेय पद का प्रयोग आत्मज्ञान या पराविद्या के अर्थ में किया गया है। उसके विपरीत प्रेय से तात्पर्य अर्थ तथा काम के प्रति अतिशय लगाव से है। इसकी पुष्टि हेतु वहाँ पर यह कहा गया है- प्रेय, अनित्य, सीमित और लौकिक है। इससे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता है और इसके सेवन से इन्द्रियों की तेजस्विता क्षीण हो जाती है।[२] हितोपदेश में कहा गया है कि जिससे वृत्ति पैदा की जाती है और जिनकी लोक में सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं, वह गुण है। गुणी लोगों को उसका संरक्षण तथा संवर्धन करना चाहिए।[३] श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार मानव जीवन की सफलता इसी में है कि अपने धन, विवेक और बुद्धि से, अपनी वाणी तथा प्राणों से सदैव ऐसा कर्म किया जाये, जिससे दूसरों का श्रेय (कल्याण) सिद्ध हो सके।[४]

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि प्लेटो नीतिशास्त्र का मुख्य विषय श्रेय को मानते हैं। प्लेटो से प्रभावित मध्यकालीन दार्शनिक सन्त आगस्टाइन एवं कुछ ईसाई धर्मशास्त्रियों के अनुसार शरीर आत्मा का कारागार और कब्र है। इसके सम्पर्क में आने के कारण ही आत्मा में अबौद्धिक तत्त्वों का प्रवेश हो जाता है। वह इच्छाओं और वासनाओं का दास हो जाता है। यहाँ मनुष्य का श्रेय इस संसार से निवृत्ति है। नव्य प्लेटोवादी प्लाटिनस ने शरीर से आत्मा की मुक्ति को ही मानव जीवन के परम श्रेय के रूप में स्वीकार किया। वह इसे

---

१. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते कठो० २.१.२

२. वही

३. कल्पयति येन वृतिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः। स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च।। हितो० २.२.६५

४. एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु। प्राणैरर्थैर्धियावाचा श्रेय एवाचरेत् सदा।। श्रीमद्भागवत्महापुराण. दशम स्कन्ध १०.२२.३५

अद्वितीय की अद्वितीय की ओर उड़ान (The Flight of alone to alone) कहता है। इसी प्रकार पार्फेरी में यह त्यागवाद चरमसीमा पर विराजमान है।

काण्ट ने कर्तव्य या औचित्य को ही नीतिशास्त्र का मुख्य विषय माना है। आधुनिक काण्टवादियों ने काण्ट के मत को विकसित करते हुए श्रेय तथा औचित्य के स्थान पर मूल्य के प्रत्यय की स्थापना की। मूल्य में इस प्रकार श्रेय और औचित्य का अन्तर्भाव हो जाता है। श्रेय वही है जो मूल्य है, फिर उचित भी वह है जो मूल्य है।

औचित्य का प्रत्यय होना चाहिए का अर्थ रखता है। उचित वह है जिसे होना चाहिए। होना चाहिए को हम सत्य कह सकते हैं। सत्य सत् से अभिन्न है। सत् यथार्थ है और सत्य आदर्श है। सत्य में नैतिक अनिवार्यता का समावेश है। वह अपने को यथार्थ में परिणत करने का बल रखता है। यही बात मूल्य के बारे में भी ठीक है, क्योंकि वास्तव में मूल्य और सत्य एकार्थक हैं। मूल्य 'है' (अस्तित्व) और नहीं है। (नास्तित्त्व) के मध्य में है। वे अस्तित्व पर अधिकार रखते हैं।[५] मूल्य में इस प्रकार होना चाहिए (Ougth to be) के सभी लक्षण हैं। इस प्रकार मूल्य और सत्य एक ही है। सत्य का संप्रत्ययन ज्ञान और विश्वास दोनों से सम्बन्धित है। ज्ञान का सत्य होना आत्म-व्याघाती होगा। इससे स्पष्ट है कि सत्य और ज्ञान एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते हैं, जबकि विश्वास और सत्य का अलगाव सम्भव है। दूसरे शब्दों में, विश्वास सत्य से भिन्न हो सकता है, किन्तु ज्ञान सत्य न होने पर अपनी संज्ञा से ही वंचित हो जायेगा।

मूल्य में श्रेय के सभी लक्षण हैं। कुछ लोग तो मूल्य और श्रेय को एकार्थक समझते हैं, जैसे कुछ लोग मूल्य और सत्य को। परन्तु श्रेय क्या है? पूर्णतावादियों ने श्रेय के जो लक्षण दिये हैं वे सब मूल्य के लक्षण हैं। मूल्य के प्रत्यय ने वास्तव में श्रेय का अर्थ स्पष्ट किया है, क्योंकि श्रेय को सामान्यत: नैतिक मूल्य या शिवम् ही समझा जाता है, किन्तु नैतिक मूल्यों के अतिरिक्त भी सौन्दर्य तथा ब्रह्मानुभूति मूल्य माने गये हैं।

मूल्य के बारे में अभी तक हमें तीन उत्तर मिले हैं। सुखवादियों के अनुसार मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा को तृप्त करे। विकासवादियों के अनुसार मूल्य वह है जो जीवनवर्धक है। अन्तत: पूर्णतावादी मूल्य को आत्मलाभ का विकास मानते हैं। सुखवादी, मूल्य का आश्रय सुख-भावना को और विकासवादी तथा पूर्णतावादी क्रमश: जीवन और आत्मा को मानते हैं। पूर्णतावादियों में भी कुछ लोग मूल्य का आश्रय ब्रह्म को मानते हैं तो कुछ लोग ईश्वर को और कुछ लोग ईश्वर तथा मानव आत्माओं को। जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, वे मूल्यों का आश्रय मानव चेतना को मानते हैं। इस प्रकार मूल्यों के आश्रय के विषय में मतभेद है।

व्यापक दृष्टि से देखने पर सभी नैतिक मत एक प्रकार के मूल्यवाद हैं। किन्तु हम सामान्यत: सभी को मूल्यवाद नहीं कहते। हम सुखवाद, विकासवाद आदि को मूल्यवाद नहीं कहते हैं, क्योंकि इनमें मूल्यों का

---

५. Value has a claim upon existence.

पर्याप्त विवेचन नहीं किया गया है। सुख, जीवन, वैराग्य आदि में से प्रत्येक एक मूल्य है, किन्तु वहीं अकेला मूल्य नहीं है। मूल्य उससे व्यापक है। हम पूर्णतावाद को भी मूल्य नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्णतावाद मूल्यों पर उतना बल नहीं देता, जितना वह मूल्यों के आश्रय पर बल देता है। जबकि मूल्यवाद हम उस सिद्धान्त को कहते हैं जो मूल्यों पर बल देता है, न कि आश्रय पर। यही मूल्यवाद और पूर्णतावाद का अन्तर हैं।

यद्यपि विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के मानने वालों ने मूल्यवाद का समर्थन किया है, परन्तु मूल्यवाद अनेकविध है। दृश्यता विज्ञानवादी मूल्यों को तत्त्व मानते हैं। तत्त्व को हम पारमार्थिक वस्तु कह सकते हैं। वस्तुवादियों में से अधिकांश मूल्यों को गुण, कुछ मूल्यों को सम्बन्ध मानते हैं। इन तीनों को क्रमशः दृश्यता-वैज्ञानिक-सिद्धान्त, प्रशस्ततावाद तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कहा जाता है। चौथे, अध्यात्मवादी सिद्धान्त के अनुसार मूल्य वास्तव में अपरिभाषेय है। वे आदर्श हैं और वास्तविकताओं या तथ्यों से पूर्णतया भिन्न हैं। मूल्य आध्यात्मिक है। मूल्य या सत्य के निकषों का विवेचन करने से पूर्व ज्ञान के स्वरूप का थोड़ा विवेचन आवश्यक है।

वस्तुओं की अभिव्यक्ति को ज्ञान या बुद्धि कहते हैं। ज्ञान के दो भेद प्राप्त होते हैं- प्रमा और अप्रमा। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं[६] अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसे ठीक वैसी ही समझना प्रमा है। सत्यता और नवीनता अथवा अबाधितत्व और अनधिगतत्त्व प्रमा की दो विशेषताएँ हैं। अज्ञात तत्त्व के अनधिगत एवं अबाधित अनुभव को प्रमा कहते हैं।[७] तात्पर्य यह है कि विषय का अनधिगत एवं अबाधित ज्ञान प्रमा है।

बौद्ध और मीमांसक नवीनता अथवा अनधिगत्व को प्रमा का अनिवार्य लक्षण मानते हैं। एक घंटा पहले देखी गयी वस्तु और बाद में देखी गयी वस्तु में कालिक दृष्टि से नवीनता है। अपनी इस विशेषता के कारण प्रमा स्मृति से भिन्न है। स्मृति संस्कारमात्रजन्य ज्ञान है और इसमें पूर्वाधिगत वस्तु के ज्ञान का पुनः प्रकाशन मात्र होता है। अपने अबाधितत्व अथवा सत्यता के कारण प्रमा संशय एवं भ्रम से भिन्न होती है। प्रमा और भ्रम में भेद क्या है? अर्थात् ज्ञान कब सत्य होता है और कब असत्य होता है? ज्ञान तभी सत्य होता है जब वह अपने विषय के यथार्थ रूप को प्रकाशित करता है। ऐसा नहीं होने पर उसे असत्य समझना चाहिए। मान लीजिए हम किसी फूल को देखकर कहते हैं कि वह फूल लाल है, हमारा यह ज्ञान तभी सत्य समझा जा सकता है, जब वह फूल वास्तव में लाल हो। हमारा यह समझना कि सूर्य चलता है गलत है, क्योंकि वस्तुतः गति पृथ्वी में हैं और हम भ्रमवश सूर्य को गतिशील समझते हैं। यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि हम किसी ज्ञान की सत्यता या असत्यता की परख कैसे करते हैं? वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों की तरह नैय्यायिक भी उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान जब ज्ञात वस्तु के यथार्थ धर्म का प्रकाशक होता है

---

६. यदर्थविज्ञानं सा प्रमा।

७. अनधिगताबाधितार्थविषयं ज्ञानम्।

तब सत्य होता है, जब ऐसा नहीं होता तब वह अयथार्थ होता है।[८] यथार्थ ज्ञान से सफलता मिलती है तथा मिथ्या ज्ञान से विफलता। इन्हें क्रमश: अनुकूल-प्रवृत्ति सामर्थ्य तथा प्रवृत्ति संवाद कहते हैं। विभिन्न दार्शनिक संप्रदाय बुद्धिवादी और अनुभववादी, प्रत्यक्षवादी, यथार्थवादी तथा अर्थक्रियावादी ज्ञान की वैधता का परीक्षण करने के लिए अपनी अपनी मान्यताओं के अनुसार पृथक्-पृथक् निकषों का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञान की वैधता के परीक्षण के लिए चार निकषों का विवेचन किया गया है।[९]

१. सत्यता का संवादिता सिद्धान्त

ज्ञान की सत्यता, असत्यता के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सर्वाधिक लोकप्रिय है। सभी वस्तुवादी दार्शनिक इस सिद्धानत को स्वीकार करते हैं। इसके अनुसार उस ज्ञान को, जो वस्तु के अनुरूप हो, प्रमा या सत्य ज्ञान कहते हैं। इसकी सबसे प्रसिद्ध परिभाषा नैयायिकों ने दी हैं। उनके अनुसार वस्तु संवादी ज्ञान ही प्रमा है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही जानना प्रमा या यथार्थ ज्ञान है।[१०] यथार्थ ज्ञान और उसे विषय में संवादिता होनी चाहिए। अब हमारा जो भी निर्णय वस्तुस्थिति के अनुरूप होगा उसे हम सत्य कहेंगे। इसी कारण नैय्यायिक आदि वस्तुवादी दार्शनिक कहते हैं कि सत्य एक वस्तुनिष्ठ तथा सार्वजनिक बात है, न कि व्यक्तिनिष्ठ और गूढ। इनके अनुसार कोई भी ज्ञान स्वयं में सत्य या असत्य नहीं होता। इसकी सत्यता और असत्यता अनुभव के द्वारा सिद्ध होती है। सत्यता और असत्यता स्वत: ग्राह्य और स्वत: ज्ञेय नहीं है। उदाहरणार्थ हमें प्रतीति होती है-साँप की, परन्तु वहाँ रस्सी है तो हमारी प्रतीति अयथार्थ है। परन्तु अगर हमें प्रतीति होती है-साँप की और सचमुच वहाँ साँप है तो हमारी प्रतीति सत्य है। पाश्चात्य दार्शनिक लॉक भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। संवादिता सिद्धान्त बौद्धों के सारूप्य सिद्धान्त से मिलता-जुलता है।

२. सत्यता का सुसंगति सिद्धान्त

प्रत्ययवादी दार्शनिक सत्यता के सुसंगति सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक हेगल हैं। बैडले तथा जोखिम ने इस सिद्धान्त को विकसित किया। जॉन हास्पर्स इसे प्रतिज्ञाप्तियों के बीच का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। संसक्तता के क्षेत्र में दो मान्यताएँ निहित हैं। प्रथम- तार्किक संसक्तता में उपस्थित विचार या निर्णय के अर्थ की परीक्षा युक्तियों द्वारा की जाती है और द्वितीय- तथ्यात्मक संसक्तता में किसी तथ्य की परीक्षा अन्य तथ्यों की सुसंगति के आधार पर की जाती है।

---

८. सद्धति अस्पष्ट है।

९. कदाचिदुभे अपि प्रामाण्या प्रामाण्ये स्वत: एवेति प्रथम कदाचित् परत एवेति द्वितीय:. प्रामाण्य परतोऽप्रमाण्यं तु स्वत: एवेति तृतीया एतद्विपर्ययश्चतुर्थ:।

१०. तद्वति तत्प्रकारकानुभव: प्रमा। तर्कसंग्रह

अन्य शब्दों में यह सिद्धान्त पूरे विश्व को सुव्यवस्थित, सुसंगठित तथा ईश्वर द्वारा निर्मित मानता है। जिस तरह मानव निर्मित यन्त्र में अनावश्यक पुर्जा नहीं होगा, हर पुर्जा अपनी जगह सत्य होता है, उसी तरह ईश्वर द्वारा निर्मित इस विश्व में कुछ भी गलत नहीं है। रामानुजाचार्य के सत्ख्यातिवाद के समर्थन में हम यह बात देख सकते हैं। सत्य आन्तरिक सुसंगति और त्रुटि आन्तरिक विसंगति का प्रतीक है।[११]

३. सत्यता का व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त

सत्यता के संवादिता और सुसंगठित सिद्धान्त से असहमत वस्तुवादी दार्शनिक व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। पियर्स, जॉन ड्यूई और विलियम जेम्स इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारा वह अनुभव सत्य है जिसके आधार पर सफलतापूर्वक कोई कार्य कर सकें। उदाहरणार्थ, सामने गिलास है, उसमें पानी है। यह अनुभव सही है या गलत। यह देखने के लिए हम उसे पीने का प्रयत्न करें। मृगजल हम पी नहीं सकते। प्रतीत हो रहा जो जल हम पी सकते हैं, जिस जल से हमारी प्यास बुझ सकती है, जल की वही प्रतीति सत्य है। जो जल हम पी नहीं सकते, जिस जल से हमारी प्यास बुझ नहीं सकती, जल की वह प्रतीति भ्रम है। कोई भी प्रतीति स्वयं में सत्य या असत्य नहीं होती। उसका सत्य या असत्य होना उसके क्रियान्वयन पर निर्भर करता है। हमारे विचारों और प्रत्ययों का समुचित व्यापार सत्य कहलाता है।

इतना होते हुए भी इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। मृगजल तथा पानी जैसी बातों में अन्तर करने के लिए भले ही यह कसौटी पर्याप्त हो, तथापि कितनी ही अन्य जगह यह कसौटी बेकार सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ- स्वप्न में हमें कितनी ही बार सफलता मिलती सी प्रतीत होती है, किन्तु परवर्ती अनुभव द्वारा वह स्वप्न अन्य अनुभव से गलत सिद्ध होता है, भले ही स्वप्न में हमें इस अनुभव से वास्तविक संतोष मिल रहा था।

४. स्वतः प्रामाण्यवाद

व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त में किसी ज्ञान या अनुभव की सत्यता की परख उस ज्ञान या अनुभव के बाहर होती है। इसको परतः प्रामाण्यवाद कहते हैं। भारतीय दर्शनों में न्याय आदि ने इसका प्रबल खण्डन किया है। सभी मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। उनके अनुसार जब कोई ज्ञान विशेष उत्पन्न होता है या आता है तो वह अपने साथ ही अपने प्रामाण्य का निश्चय भी लाता है। यह तभी उत्पन्न होता है जब किसी ज्ञान की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त कारण सामग्री होती है। उस समय जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह निश्चयात्मक या विश्वसनीय होता है। इसके विपरीत जब उस ज्ञान की उत्पत्ति में कोई त्रुटि या दोष रहता है, तब वह ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता।

---

११. एसेंज ऑन ट्रुथ एण्ड रियलिटी. ब्रेडले पृ० २५

उदाहरणार्थ जो व्यक्ति पीलिया रोग से ग्रस्त है उसे सत्य या यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसकी दृष्टि में दोष होने के कारण उसे सभी वस्तुएँ पीली दिखाई पड़ती हैं। इन बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ज्ञान का प्रामाण्य उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही विद्यमान रहता है, कहीं बाहर से नहीं आता।[१२] और उस ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान होता है।[१३] किसी सिद्धान्त में ये दो बातें सम्मिलित होने पर ही उसे स्वत: प्रामाण्यवाद कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान स्वयं प्रकाश होता है जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसी में उसकी सत्यता का गुण भी अन्तर्निहित रहता है। किसी-किसी अवसर पर अन्य ज्ञान के द्वारा हम यह जानते हैं कि वह भ्रमपूर्ण है। ऐसी अवस्था में आधार के दोष से हम उस ज्ञान की संदोषता अथवा मिथ्यात्व का अनुमान करते हैं। इस प्रकार किसी ज्ञान के मिथ्यात्व का निश्चय अनुमान द्वारा होता है, किन्तु ज्ञान की सत्यता स्वत: प्रमाण होती है। सारांशत: विश्वास की उत्पत्ति करना ज्ञान का स्वाभाविक नियम है। अविश्वास सदैव कुछ बाधक कारण ज्ञात होने से होता है।

ज्ञान के सत्यत्व की कसौटी प्रामाण्यवाद भी है। किसी भी पदार्थ का ज्ञान होने पर यह प्रश्न होता है कि वह कौन सी कसौटी है जिसके आधार पर यह पता लग सके कि हम जिस वस्तु को जानना चाहते थे हमें उसी का बोध हुआ। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इसके तीन पहलू हैं। ज्ञान के जनक कारण और ज्ञापक कारण की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस समस्या पर भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण और प्रमेय के सन्दर्भ में विचार किया हैं। प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण भेद के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी सभी दार्शनिकों ने यह मत प्रतिपादित किया कि प्रमेयों (पदार्थों) का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। अत: उस समस्या का स्वरूप स्वभावत: इस प्रकार विकसित हुआ कि जिस प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है, उस प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण के सत्यत्व की कसौटी क्या है अर्थात् प्रमाण का प्रामाण्य किस तत्त्व पर निर्भर है। प्रमाण के प्रमाणत्व पर विचार के साथ ही उसे अप्रमाणत्व का प्रश्न भी सिक्के के दूसरे पाट के समान अनिवार्यत: ज़ुड़ा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रामाण्यवाद में केवल यही बात समाविष्ट नहीं है कि प्रमाण के प्रामाण्य का ज्ञान कैसे होता है, बल्कि यह भी है कि अप्रमाण के अप्रामाण्य का पता कैसे चलता है?

भारतीय दार्शनिकों ने अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुसार इसका विश्लेषण किया है। जो दार्शनिक यह समझते हैं कि प्रमाण में ही प्रामाण्य रहता है, वे स्वत: प्रामाण्यवादी कहलाते हैं और जिनके अनुसार प्रमाण के प्रामाण्य के लिए अन्य किसी बाहरी तत्त्व की अपेक्षा होती है, वे परत: प्रामाण्यवादी कहलाते हैं। स्वत: प्रामाण्यवादियों में मुख्य रूप से मीमांसकों का नाम लिया जा सकता है। इसके विपरीत नैय्यायिक परत:

---

१२. प्रमाणं स्वत: उत्पद्यते।

१३. प्रामाण्यं स्वत: ज्ञायते च।

प्रामाण्यवादी हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से उत्पन्न होता है। ऐसा ही वर्गीकरण अप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी है। सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परत: मानता है। इस प्रकार एक वर्ग का प्रतिनिधत्व सांख्य करता है और दूसरे का न्याय। अन्य दर्शन विभज्यवादी हैं। उनमें से बौद्ध प्रामाण्य को परत: और अप्रामाण्य को स्वत: मानते हैं। बौद्धों में अधिकांशत: परत: प्रामाण्यवादी हैं, जिनकी स्थिति बहुत कुछ नैयायिकों से मिलती-जुलती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रामाण्य स्वत: होता है और अप्रामाण्य परत:। इस दृष्टि से देखा जाये तो बौद्धों का मत मीमांसकों के एकदम उल्टा है। यह सब होते हुए भी इस समस्या का सर्वाधिक विस्तृत विश्लेषण न्याय और मीमांसा में ही किया गया है, क्योंकि न्याय प्रमाण को परत: मानता है। अत: न्याय के ग्रन्थों में दी गयी अधिकतर युक्तियों का उद्देश्य यही सिद्ध करता है कि ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य का सिद्धान्त नितान्त अनुपयुक्त है ओर इस दृष्टि से न्याय का मुख्य लक्ष्य मीमांसकों के मत का खण्डन करना ही रहा है।

प्रामाण्यवाद के उपर्युक्त विवेचन से यह बात सिद्ध होती है क्रि यथार्थ अनुभव को प्रमा या प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभव में रहने वाला विशेष धर्म ही प्रमाणत्व या प्रामाण्य तथा अयथार्थ अनुभव में रहने वाला विशेष धर्म अप्रमाणत्व या अप्रामाण्य कहलाता है। प्रामाण्य के कारण के बारे में जो वाद प्रचलित हुआ, वही प्रामाण्यवाद है।

निष्कर्षत: ज्ञान की वैधता के लिए दिये गए उपर्युक्त निकषों में से एक बात प्रमाणित होकर सामने आती है कि सत्यता को प्रमा की एक अनिवार्य विशेषत माना गया है और सत्यता और मूल्य एक ही है, क्योंकि दोनों का प्रत्यय होना चाहिए (Out -to-bc) का अर्थ रखता है। इस प्रकार ज्ञान और मूल्य भी एक ही हैं, क्योंकि सत्य और ज्ञान एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०२०५-२११)

मानवनिर्माण में आर्यसमाज का योगदान

डॉ० दीपा गुप्ता

मनुष्य परमात्मा की एक सर्वोत्कृष्ट कृति है, पर मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने के लिए एक महान् प्रयत्न की आवश्यकता है। ऋग्वेद में 'मनुर्भव' कहकर मनुष्य को मनुष्य बनाने की प्रेरणा दी गई है। यदि वास्तव में मानवनिर्माण का प्रयत्न न किया जाये तो मनुष्य निरा पशु रह जाये। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी कारण आर्यसमाज का लक्ष्य **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** निर्धारित करके विश्व के प्रत्येक मानव को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाने का संकल्प किया था।

महर्षि दयानन्द ने मानवनिर्माण के लिये आर्यसमाज की स्थापना की। महर्षि दयानन्द मनुष्य का हित उसे धार्मिक बनाकर उसे सच्चा मनुष्य बनाने में ही मानते थे। आर्यसमाज के १० नियमों में छठा नियम है- **संसार (मनुष्य मात्र) का उपकार करना, उसे सच्चा मनुष्य बनाना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।**[1] दयानन्द समाज का उपकार व्यक्ति की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति में मानते हैं। इतिहास साक्षी है कि महर्षि दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित संस्था आर्यसमाज ने मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने का ही प्रयत्न किया।

मानवनिर्माण के प्रेरक तत्त्व

महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित श्रेष्ठ संस्था आर्यसमाज ने अनेक स्थानों पर मानवनिर्माण के कतिपय प्रमुख तत्त्वों पर प्रकाश डाला है।

सर्वप्रथम आर्यसमाज ने कहा है कि मनुष्य को धीर बनकर न्यायपक्ष से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। दयानन्द ने काम और लोभ को छोड़कर धर्माचरण करने वाले को मानव कहा है। इसी प्रकार **'सत्यमेव जयते'** तथा **'अहिंसा परमोधर्मः'** आदि वचनों को उद्धृत करके महर्षि ने सत्य और अहिंसा को मानव-निर्माण के लिए अनिवार्य ठहराया। मनुष्य की परिभाषा करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि जो विचार किये विना किसी काम को न करे, उसका नाम मनुष्य है। इस प्रकार मानव-निर्माण के लिए मनुष्य का विचारशील बनना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द साम्प्रदायिक विद्वेष को मानव-निर्माण के लिए एक घातक तत्त्व समझते हैं। उन्होंने सभी सम्प्रदायों की मिथ्या बातों का खण्डन कर उनके सर्वमान्य तत्त्वों का उद्घाटन किया। इस प्रकार महर्षि के अनुसार अन्याय का विरोध, साहस, धैर्य, परोपकार, विचारशीलता, सत्य, धर्म, पक्षपातरहित बुद्धि, सबसे धर्मानुसार व्यवहार आदि गुण मानवनिर्माण के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनके विना मनुष्य, मनुष्य नहीं बनता।

---

१. आर्यसमाज के नियम।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में पुरुषार्थ-चिन्तन

महर्षि दयानन्द पुरुषार्थ को मानव-निर्माण के लिए एक सर्वप्रमुख प्रेरक तत्त्व मानते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वलिखित ग्रन्थों और वेदभाष्य के अन्तर्गत अनेकत्र इस पुरुषार्थ की चर्चा कर पुरुषार्थ के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने पुरुषार्थ की परिभाषा लिखते हुए कहा-'**पुरुषार्थ**'- अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसी को पुरुषार्थ कहते हैं।[२] समस्त सम्पन्न कर्मों का मूल पुरुषार्थ है। यदि प्राणी पुरुषार्थ ही न करे, हाथ पर हाथ धर कर बैठा रहे तो कार्य की सिद्धि कदापि संभव नहीं है। यदि कर्ता का पुरुषार्थ बिगड़ जाता है तो कर्म में सफलता आ ही नहीं सकती। कर्म की सफलता का मूल पुरुषार्थ है। सिर उठाकर किसी कार्य में सम्पृक्त होने का नाम ही पुरुषार्थ नहीं है। अपितु जो वस्तु हमें प्राप्त नहीं है, उसकी इच्छा करनी है, जो हमें जो प्राप्त हो गयी है, उसकी रक्षा करनी है। यही नहीं, अपितु जिसकी हम रक्षा कर रहे हैं। उसको बढ़ाना भी है, तथा उस बढ़ाये हुए पदार्थ को '**सर्वजन हिताय**' और '**सर्वजन सुखाय**' प्रयोग करने का नाम पुरुषार्थ है। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने पुरुषार्थ के चार भेद दिखाते हुए लिखा है।

पुरुषार्थ के भेद

१.जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी। २.प्राप्त वस्तु का अच्छी प्रकार रक्षण करना। ३.रक्षित को बढ़ाना और ४.बढ़े हुए पदार्थों को सत्य विद्या की उन्नति में तथा सबके हित में खर्च करना है। (इन चार प्रकार के कर्मों को ही पुरुषार्थ कहते हैं।[३]

महर्षि दयानन्द ने पुरुषार्थ से ही लक्ष्मी की प्राप्ति दर्शायी है। हे मनुष्यो! पुरुषार्थ से लक्ष्मी और उससे अन्न आदि संचित करके तथा महान् सुख प्राप्त करके आप लोग सबकी रक्षा करें।[४] यही कारण है कि महर्षि दयानन्द ने पुरुषार्थ को मानवनिर्माण के लिए एक ऐसा सफलता का सूत्र माना है, जिससे व्यक्ति कम आयु का होने पर भी बड़ी आयु वाले पुरुषों द्वारा सम्मानीय बनता है। अत: महर्षि ने लिखा है 'हे मनुष्यो! जिस पुरुषार्थ से विद्वान् होकर युवा भी वृद्ध हो जाते हैं, उसे तुम निरन्तर संचित करो।[५]

---

२. आर्योद्देश्यरत्नमाला - ५५ क्रमांक पर५६ क्रमांक पर एवं स्वमन्तव्यमन्तव्यप्रकाशः - २५ क्रमांक पर

३. आर्योद्देश्यरत्नमाला - ५६ क्रमांक पर

४. ऋग्वेद - ५. ४९. ५ का दयानंदकृत का भावार्थ.

५. हे मनुष्याः ''येन पुरुषार्थेन विद्वांसो भूत्वा युवानोऽपि वृद्धा जायन्ते तं सततं संचिनुत'' - ऋ० - ६?४४?३ का भावार्थ

संस्कार और यज्ञ

मानव जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य को आरम्भ करने के लिए वैदिक ऋषियों ने १६ संस्कारों एवं यज्ञों की योजना बनायी और महर्षि ने इनके द्वारा मानवनिर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है। सचमुच वैदिक संस्कृति में मानव का सारा जीवन ही यज्ञमय है। उसके जीवन का आरम्भ जातकर्म संस्कार से होता है और जीवन की परिसमाप्ति अन्त्येष्टि संस्कार पर होती है। मध्य में नामकरण, निष्क्रमण, अन्न प्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ एवं संन्यास संस्कार होते हैं। प्रत्येक संस्कार के नाम से स्पष्ट है कि ये संस्कार मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक उन्नति की कामना के लिए हैं। यज्ञ के तीन अर्थ हैं- देवपूजा, संगतिकरण और दान। परमात्मा और विद्वान् की पूजा करना देवपूजा है। विद्वानों का संग ही संगतिकरण है। दान से अभिप्राय विद्यादान से है।

मनुष्य को अपने जीवन में पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान प्रतिदिन ही करना होता है। ब्रह्मचारी को ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ तथा गृहस्थी को पितृयज्ञ और अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ (पाँचों) करने का विधान है। यज्ञ का प्रतीक अग्नि सदा उसके साथ रहता है। इन सबके अतिरिक्त मनुष्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यज्ञ अध्यात्म साधना है। मनुष्य की आत्मा यजमान है। मन उसका ब्रह्मा है।[६] यज्ञ केवल एक धार्मिक कृत्य ही नहीं है, वरन् परोपकार का एक उपाय है। जो मनुष्य यज्ञ करके शोषण और निष्ठुर रहते हैं, वे महा अज्ञानी और पापी हैं।

आश्रम-व्यवस्था और शिक्षा प्रणाली

आश्रम-व्यवस्था मानवनिर्माण का एक अत्यन्त उपादेय उपाय है। आश्रम चार हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम में ही शिक्षा प्रणाली भी अन्तर्भूत हो जाती है। मानवनिर्माण की दृष्टि से आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्त्व सर्वाधिक है, क्योंकि इसी काल में व्यक्ति का समग्र शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास होता है। यदि देखा जाये तो सम्पूर्ण आश्रम प्रणाली में व्यक्ति के जीवन में भोग और त्याग का अद्भुत विधान है। व्यक्ति ब्रह्मचर्य काल में धर्म (जिसका एक अङ्ग विद्या है), गृहस्थ में अर्थ और काम तथा वानप्रस्थ और संन्यास में मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है। तभी मानवनिर्माण की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा की परिभाषा में अज्ञान को दग्ध करने के साथ उपलब्ध ज्ञान के अनुसार आचरण करने पर बल दिया है। जिसमें विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियता की बढ़ती होवे और अविद्या आदि दोष छूटे उसी को शिक्षा कहते हैं। साथ ही महर्षि ने व्यावहारिक शिक्षा पर भी बल दिया है। आचार्य ने कहा है कि वह भोजन, बैठने, उठने, बोलने-चलने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करे।[७] इस प्रकार

---

६. गोपथ उ० - ५.४

७. यजु० - ४०. १४

महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली मनुष्य का शरीर पुष्ट, मस्तिष्क, उर्वरक तथा आत्मा विशाल बनाती है एवं मानवनिर्माण हेतु एक प्रेरक तत्त्व सिद्ध होती है

जागरूकता जीवन का अमूल्य धन

महर्षि दयानन्द ने मानवनिर्माण के लिए जागरूकता को भी एक अहम् तत्त्व माना है। उनके अनुसार वैदिक संस्कृति का जीवन सतत जागरूक जीवन है। उसमें प्रमाद का कोई स्थान नहीं है। आलस्य और तन्द्रा में पड़े रहना और तामसिकता में आनन्द लेना मानव की गरिमा के अनुरूप नहीं है।[८] जागरूकता ही मनुष्य के जीवन का एक अमूल्य धन है। जो मनुष्य जगाकर यज्ञ कार्य में तत्पर करता है, इसी को देवजन चाहते हैं। देवजन सोने वाले से प्रीति नहीं करते। देवजन स्वयं अतन्द्रालु होते हैं, अतः वे तन्द्रालु प्रमादी को दण्डित करते हैं।[९] जो जागता है उसी से ऋचाएँ प्यार करती हैं, जो जागता है उसी से सोम प्यार करते हैं, जो जागता है उसी का सोमप्रभु सखा बनता है।

प्रगति मानव-निर्माण की अविरल धारा

वेदों में कहा है कि मानव शरीर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण बहुमूल्य है। जीवन के मूल्यवान क्षणों को यदि हमने आलस्य, प्रमाद और तन्द्रा में व्यतीत कर दिया, तो हमसे अधिक अभागा और कौन होगा। हमें तो त्वरित गति से प्रगति करनी है। इसीलिए वेद मनुष्य को उद्‌बोधन दे रहा है-

'हे पुरुष! ध्यान रख, तेरी उन्नति हो अवनति नहीं। तुझे मैं जीवन और बल वेद रहा हूँ। तू इस अमृतमय, सुखदगामी शरीर-रथ पर आरूढ़ हो और दीर्घजीवी होता हुआ ज्ञानचर्चा कर।'[१०]

अथर्ववेद में कहा गया है कि - हे मनुष्य तू आध्यात्मिक उन्नति कर, भौतिक उन्नति कर, आर्थिक उन्नति कर, इसी से ही तेरा पूर्ण निर्माण संभव है।[११]

सत्यता मानव-निर्माण का पाथेय

महर्षि ने कहा है कि सत्य की नींव पर ही मानवनिर्माण का भवन खड़ा है। सत्य में मन, वचन और कर्म तीनों का सत्य समाविष्ट है, क्योंकि मनुष्य जैसा मन में विचार करता है, वैसा ही वाणी में बोलता है और

---

८. ऋ० ८.२.१८

९. ऋ० ५.४४.१४

१०. अथर्व० ८.१.६ उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवांतु ते दक्षततिं कृणोमि। आ हि रोहेममममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदसि॥

११. अथर्व० २.११.५

जैसा वाणी से बोलता है, वैसा ही कर्म करता है यह भूमि सत्य पर ही अवलम्बित है। **'सत्येनोत्तभिता भूमिः'**।[१२] अत एव वैदिक साधक सत्य का व्रत धारण करता है। हे व्रतपति अग्नि! मैं व्रत करूँगा, उसे मैं पूर्ण कर सकूँ वह सफल हो! मेरा व्रत है कि मैं असत्य को त्यागकर हमेशा सत्य को प्राप्त होता रहूँ।'[१३] महर्षि की अनुभूति है कि सत्य की ही विजय होती है। अनृत की नहीं -**'सत्यमेव जयते नानृतम्'**[१४] सत्य ही सच्चा तप है। इसी तप की कसौटी में कसकर मानव जीवन का निर्माण खरा उतरता है।

मानवनिर्माण का महत्त्वपूर्ण अङ्ग: आध्यात्मिकता

आध्यात्मिकता मानव जीवन के निर्माण हेतु एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। मनुष्य को आध्यात्मिकता का पिपासु होना चाहिए। इसके विना उसका निर्माण असंभव है। मानव का लक्ष्य है कि वह तमस् से ऊपर उठकर आत्मा की उत्तर ज्योति का दर्शन करते हुए अन्त में परमात्मा रूपी सूर्य का साक्षात्कार करे।[१५] आध्यात्मिकता ही वह तत्त्व है जो मनुष्य के लिए सत्य, अहिंसा, शांति, पवित्रता तथा ज्ञान का सच्चा मार्ग प्रशस्त करती है और मानवनिर्माण के लिए प्रेरक तत्त्व बनती है। महर्षि दयानन्द ने कहा है कि एक वैदिक साधक के लिए आदित्य वर्ण प्रभु का दर्शन एक सुखद अनुभूति है। वैदिक साधक कह रहा है -

'मैंने इस महान् आदित्यवर्ण प्रभु को जान लिया है, अनुभव कर लिया है, जो तमस् से परे है, उसी को जानकर, उसी की अनुभूति पाकर, मनुष्य मृत्यु को पार करता है।[१६]'

निष्पापता मानव जीवन के निर्माण की प्रक्रिया

निष्पापता अर्थात् जीवन में पाप का कोई स्थान नहीं होना ही मानवनिर्माण की प्रक्रिया है। पापों से मुक्त रहने के लिए वेदों में शतशः प्रार्थनाएँ मिलती हैं। एक वैदिक साधक पाप भरे जीवन से मुक्त होने के लिए अपनी आतुरता प्रकट करता हुआ कह रहा है। 'अग्नि से, वनस्पतियों से, औषधियों से, लताओं से, इन्द्र से, बृहस्पति से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें। 'दिन से, रात्रि से, सूर्य चन्द्रमा से, सब आदित्यों से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें।' 'वायु, अन्तरिक्ष तथा सभी दिशायें हमें पाप से छुटकारा दिलायें'[१७] इस प्रकार वास्तव में निष्पाप जीवन ही मानवनिर्माण का एक सच्चा मार्ग प्रशस्त करता है।

---

१२. ऋ० १०.८५.१
१३. यजु० - १. ५
१४. मु.उप. - ३.१.६
१५. ऋ० १.५०.१०
१६. यजु० - ३१. १८
१७. अथर्व० ११.६

मानवनिर्माण के अमूल्य तत्त्व

सर्वप्रथम उपर्युक्त अमूल्य तत्त्वों में माधुर्य और सौहार्द्र का नाम प्रमुखता से आता है। किसी भी मनुष्य में जीवन के निर्माण को समुचित बनाने के लिए माधुर्य और सौहार्द्र का होना अत्यन्त अनिवार्य है। वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन मधुमय और सौहार्द्रमय बने। एक वैदिक स्तोता की हमेशा यही कामना रहती है कि मैं वाणी से मधमय ही बोलूं, मैं शहद के मसन मीठा हो जाऊँ[१८] वह अपने दैनिक व्यवहार में माधुर्य और सौहार्द्रता लाना चाहता है। अत एव वैदिक स्तोता माधुर्य और सौहार्द्र की याचना करता हुआ कहता है कि 'अपनों से मेरा माधुर्य और सौहार्द्र हो, अपरिचितों से सौहार्द्र हो, हे देवो! तुम मेरे जीवन में मधुरता और सौहार्द्रता की भावना को केन्द्रित करा दो'।[१९]

दूसरे, तेजस्विता और यशस्वी जीवन भी मानवनिर्माण को पूर्णता प्रदान करता है। मनुष्य को हमेशा तेज और यश के प्रतीक अग्नि और सूर्य को आदर्श बनाकर सदा अपने सम्मुख रखना चहिए। अथर्ववेद में कहा गया है कि जैसे सूर्य यशस्वी है, अग्नि यशस्वी है, चन्द्रमा यशस्वी है, वैसे ही अपने जीवन में मनुष्य को सब भूतों में यशस्वी बनने की सदैव कामना करनी चाहिए।[२०]

तीसरे शान्ति मानव जीवन के निर्माण के लिए परमधाम है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह और अशान्ति का वातावरण वेदों को प्रिय नहीं है। सत्य है किं यदि मनुष्य अपने जीवन में नैतिक एवं शाश्वत मूल्यों का सदैव अनुसरण करता है तो उसे चारों तरफ शान्तिमय वातावरण ही दिखलाई देगा और वह हमेशा अपने जीवन में शान्तिरूपी रस का पान कर सकेगा। लेकिन यदि वह इनको अपने जीवन का आधार नहीं बनाता है तो उसको अशान्ति का ही सामना करना होगा। इसलिये मनुष्य को अपने जीवन में नैतिक एवं शाश्वत मूल्यों, धारणाओं तथा तथ्यों पर ही अडिग रहना चाहिए। तभी वह शान्ति जो उसके जीवन का अमिट रस है, उसका पान करके अपने जीवन के निर्माण को पूर्णता प्रदान कर सकता है, अन्यथा नहीं।

यम नियमों का विधान

अन्ततः मानवनिर्माण हेतु महर्षि दयानन्द ने मनुष्य को पाँच यम नियमों अर्थात् सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के पालन करने के निर्देश दिया है। इन सभी यम नियमों में धर्म के प्रायः सभी लक्षण समाविष्ट हैं तथा इनके द्वारा मनुष्य इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने इनके पालन पर अत्यन्त बल दिया है।[२१]

---

१८. अथर्व० ३४.३
१९. अथर्व० ७.५४.१
२०. अथर्व० ६.३९.३
२१.अथर्व० २.९३

नि:संदेह मानवनिर्माण के लिये किये गए प्रयत्न आर्यसमाज के लिए गौरव की बात है, किन्तु आज यह स्वीकार करने में हमें थोड़ी सी भी दुविधा नहीं है कि आर्यसमाज के इन प्रयत्नों से जिस प्रकार के मनुष्यों का जितनी मात्रा में निर्माण होना चाहिए था, वह नहीं हो सका है। उसका कारण यह है कि आज समग्र विश्व में भौतिकता और नास्तिकता की आँधी चल रही है। उसमें आर्यसमाज के नियम एवं सिद्धान्त तो अडिग हैं, पर उसके व्यावहारिक रूप में कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। यही कारण है कि मानवनिर्माण का कार्य जिस गति से होना चाहिए था, वह नहीं हो सका है। अत: आज आवश्यकता है कि हम इस दिशा में अपने संकल्पों और प्रयत्नों को और अधिक तीव्रता प्रदान करें, तभी मानवनिर्माण का कार्य पूर्णतया संभव हो सकेगा।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०२१२-२१९)

मध्य गंगाघाटी एवं विन्ध्य क्षेत्र के नवीन पाषाणकालीन मृद्भाण्ड

दीपक कुमार राय

मध्य गंगा घाटी का क्षेत्र भारत का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक क्षेत्र है। जिसका विस्तार २४°३० रु--२७°५० रु उत्तरी अक्षांश एवं ८१°४७ रु-८७°५० रु पूर्वी देशांतर है। लगभग १४३२६० वर्ग किमी० तक इसका विस्तार है। इस क्षेत्र की लम्बाई लगभग ६०० किमी. पूर्व से पश्चिम एवं ३३० किमी. उत्तर से दक्षिण इसकी चौड़ाई है।[१]

मध्य गंगा घाटी के जितने भी पुरास्थल नवीन पाषाणं काल से सम्बन्धित हैं उनका सूक्ष्म एवं सम्यक् विश्लेषण करने पर अनेक तथ्य दृष्टिगोचर हुए हैं। मृद्भाण्डों के आधार पर इन पुरास्थलों में आपस में कुछ समानता है एवं साथ ही साथ कुछ क्षेत्रीय लक्षण भी हैं। मृद्भाण्डों के प्रकार एवं उनके निर्माण में विकास (परिवर्तन) भी दृष्टिगोचर होता है। अध्ययनोपरान्त इस चरण से प्राप्त विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्ड के पात्र-प्रकार, निर्माण की तकनीक, उनके ऊपर किये गए अलङ्करण, सतहोपचार इत्यादि के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

चिरांद (२५° ४८ उत्तरी अक्षांश, ८४° ४५ पूर्वी देशान्तर) से लाल मृद्भाण्ड, मार्जित लाल मृद्भाण्ड, धूसर मृद्भाण्ड एवं कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड की प्राप्ति हुई है। यहाँ से प्राप्त टोंटीदार घड़ा, नुकीले आधार वाला घड़ा, नालीदार ओष्ठयुक्त कटोरा, कलछुल, घुंडीदार पात्र,[२] जग, सपाद कटोरा, तीन पैर वाला सच्छिद्र पात्र आदि ऐसे पात्र प्रकार के उदाहरण हैं, जो विन्ध्य क्षेत्र के नवीन पाषाणकालीन स्तर से प्राप्त नहीं हुए हैं। यहाँ से एक कोखदार हाँडी की प्राप्ति हुयी है, जो किसी अन्य पुरास्थल से नहीं प्राप्त हुयी है। एक छोटे-छोटे चार पैर वाला कटोरा भी प्राप्त हुआ है जो अन्य स्थानों से आख्यायित नहीं है। विन्ध्य घाटी के पुरास्थल से कुछ ऐसे कटोरे प्राप्त हुए हैं जिसमें टोंटी बनाया गया था। जबकि चिरांद से कुछ ऐसे घड़े प्राप्त हुए हैं, जिसमें टोंटी बनाया गया था अर्थात् विन्ध्य क्षेत्र में टोंटी युक्त कटोरे बनाये गए थे, जबकि चिरांद में टोंटीयुक्त कटोरे एवं घड़े दोनों बनाए गये थे। दोनों क्षेत्रों के पुरास्थलों से प्राप्त पात्रों पर खांचा एवं रज्जू छाप अलंकरण (**Rope and notch desing**) प्राप्त हुए हैं। परन्तु चिरांद के पात्रों पर पकाने के पश्चात् खुरच कर **(Scratch)** अलंक़रण किया गया है जो विन्ध्य घाटी में अनुपलब्ध है। चिरांद के धूसर मृद्भाण्ड पर गेरू रंग से चित्रण किया गया है। इस चित्रण में रैखिक, कट्टमकट्टा, संकेन्द्रीय वृत्त, अर्द्धवृत्त, आड़ी तिरछी रेखाएँ हैं।[३] इस प्रकार की विशेषता

---

१. सिंह. रामलोचन. १९७१. इण्डिया-ए रीजनल ज्योग्राफी. वाराणसी। पृष्ठ - १८३-१८४

२. इण्डियन आर्कियोलोजिकल रिव्यू. १९६८-६९ : ५-६ एवं इण्डिन अर्कियोजिकल रिव्यू. १९७१-७२ : ६-७

३. वर्मा. बी.एस.. एक्स्कवेशन्स एट चिरांद : न्यू लाइट ऑन दी इण्डियन न्यूलिथिक कल्चर कॉम्प्लेक्स. पुरातत्व. बुलेटिन ऑफ दी इण्डियन आर्कियोलोजिकल सोसाइटी. दिल्ली वॉ ४. १९७०-७१. पृ. २१ मिश्रा. विनीता. १९७९.

चिरांद, सेनुवार, ताराडीह, मनेर, दक्षिण भारत के कुछ नीवन पाषाण कालीन पुरास्थल में पायी गयी हैं। परन्तु विन्ध्य घाटी के किसी पुरास्थल जैसे कोल्डिहवा, महगड़ा, पचोह, इन्दारी, टोकवा से इस प्रकार के अलंकरण प्राप्त नहीं हुए हैं। चिरांद में मृद्भाण्ड बनाने हेतु प्रयुक्त मिट्टी में अबरख एवं क्वार्टज के चूर्ण मिलाए गये थे, जबकि विन्ध्य क्षेत्र में मृद्भाण्ड बनाने हेतु मिट्टी में इस प्रकार का मिश्रण नहीं किया गया था। यहाँ से पेयरिंग तकनीक विधि के उपयोग का वर्णन किया गया है।[४] यद्यपि अन्य पुरास्थलों से भी इस तकनीक के साक्ष्य प्राप्त हुये होंगे, परन्तु कहीं से भी आख्यायित नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण-लोहित-मृद्भाण्ड की प्राप्ति चिरांद से भी हुयी है, परन्तु विन्ध्यक्षेत्र में इस प्रकार के मृद्भाण्ड नहीं बनते थे। चिरांद एवं विन्ध्य घाटी के नवीन पाषाणकालीन मृद्भाण्ड का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकला कि विन्ध्य की तुलना में चिरांद की मृद्भाण्ड परम्परा अत्यधिक विकसित है।

गोरखपुर जिले में आमी एवं राप्ती नदी के संगम पर सोहगौरा (२६° ३२'उत्तरी अक्षांश ८०°३२' पूर्वी देशान्तर) नामक पुरास्थल के सबसे निचले स्तर से नवीन पाषाणकालीन मृद्भाण्ड की प्राप्ति हुयी है। श्री चतुर्वेदी के अनुसार यहाँ से रज्जू छाप मृद्भाण्ड, रूक्ष सतह वाले मृद्भाण्ड एवं मार्जित लाल मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। मृद्भाण्ड के आकार-प्रकार में महगड़ा से प्राप्त एक रज्जू छाप मृद्भाण्ड के कोखदार ग्रीवा वाले जार की समानता है।[५] सोहगौरा से प्राप्त मृद्भाण्ड में प्रयुक्त मिट्टी में भूसी मिलायी गयी थी एवं पात्र कम पका था। मिट्‌टी अच्छी प्रकार गूँथी नहीं गयी थी। श्री चतुर्वेदी ने सोहगौरा के मृद्भाण्ड एवं कोल्डिहवा, महगड़ा के मृद्भाण्ड में अद्भुत समानता बतलाई है।

सेनुवार (२४°,५६ उत्तरी अक्षांश एवं ८३०,५३ पूर्वी देशान्तर) के मृद्भाण्ड न केवल नवीन पाषाण काल से लेकर ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ तक के विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों की पहचान का विश्वसनीय आधार उपलब्ध कराता है, बल्कि मध्य गंगा घाटी के मैदानी क्षेत्र में मृद्भाण्ड निर्माण की परम्परा विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों एवं विकास की जानकारी भी उपलब्ध कराता है। अन्वेषण द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि सेनुवार के प्राचीनतम वासी, जिन्होंने इस क्षेत्र में अपना निवास स्थापित किया, मृद्भाण्ड निर्माण कला में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुके थे। चाक पर गढ़े हुए पात्रों का प्राप्त होना एवं इन पात्रों को विभिन्न विधियों से पकाया जाना (खुला आँवा, बन्द आँवा, उल्टा कर पात्र को पकाने की विधि), सतहोपचार की विभिन्न विधियों का प्रयोग (लेप लगाना,

---

सिरामिक ऑफ नियोलिथिक चिरांद. जर्नल ऑफ दी बिहार पुराविद परिषद्. पटना. वोल्यूम III, पृष्ठसंख्या : १७-२४

४ मिश्रा विनीता. १९७९. सिरामिक ऑफ आर्कियोलोजिकल सोसाइटी. दिल्ली. वॉ० ४. १९७०-७१. पृ०२१.

५. चतुर्वेदी. एस. एन.. १९८५. एडवान्स ऑफ विन्ध्यन न्यूलिथिक एण्ड चैलकोलिथिक कल्वर्स टू द हिमालयन तराई. एक्स्कवेशन एण्ड एक्स्प्लोरेशन्स इन द सरयूपार रीजन ऑफ उत्तर प्रदेश. मैन एण्ड इन्वायरमेन्ट. वॉ. IX पृ. १०१-१०४.

रज्जूछाप, रूक्षीकरण क्रिया, घिसकर मार्जित, चित्रित करना इत्यादि) यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन नीवन पाषाणकालीन मानव पर्याप्त अनुभवी था। महगड़ा एवं सेनुवार से प्राप्त रज्जूछाप मृद्भाण्डों के निर्माण की तकनीक में दो अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं। (१) महगड़ा के मृद्भाण्ड हस्तनिर्मित हैं, जबकि यहाँ के मृद्भाण्ड हस्तनिर्मित एवं चाक निर्मित दोनों हैं। (२) महगड़ा में इस प्रकार के पात्र बनाने हेतु विभिन्न अवस्था के कच्छप शल्क एवं रज्जू का प्रयोग किया गया है। सेनुवार से एक भी रूक्ष सतही मृट्टी पर कालिख के चिह्न नहीं प्राप्त हुए हैं, जबकि विन्ध्य क्षेत्र से प्राप्त इस प्रकार के कुछ ठीकरों पर कालिख के चिह्न भी पाये गए हैं। इस आधार पर यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि इस प्रकार के पात्रों का प्रयोग भण्डारण एवं भोजन पकाने हेतु व्यवहृत भी होता रहा होगा। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि पात्र पतले गढ़न के नहीं मिले हैं। इसकी बनावट मध्यम एवं मोटे गढ़न की है। पात्र रूक्ष गढ़न के एवं सरन्ध्र हैं। अतः इस कारण इसका प्रयोग भोजन परोसने या इसमें रखकर भोजन करने हेतु नहीं किया जाता रहा होगा।

सेनुवार से प्राप्त कुछ ऐसे रूक्ष सतही मृद्भाण्ड की भी प्राप्ति हुई है जिसके आवठ पर लाल गेरू का लेप लगा दिया गया था। इस प्रकार के लेप का प्रमाण अन्य पुरास्थलों से अनाख्यायित हैं। इस प्रकार का लेप सजावट के उद्देश्य से किया जाता रहा होगा। महगडा कोल्डिहवा से विभिन्न अवस्था के कच्छप शल्क की प्राप्ति इस तथ्य की पुष्टि करती है।[६] जबकि सेनुवार से केवल रज्जू का ही प्रयोग किया गया है। सेनुवार से कच्छप शल्क की प्राप्ति नहीं हुयी है। इसी को आधार मानकर पाल ने इस प्रकार के मृद्भाण्ड को 'टोर्टट्वाइज शेल वेयर' की संज्ञा देना उचित समझा है।[७] काल १ अ के पात्रों क संरचना, आकार-प्रकार की आश्चर्यजनक समानता सेनुवार एवं कोल्डिहवा और महगड़ा के उत्खनन से प्राप्त मृद्भाण्डों में पायी जाती है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी एक ही संस्कृति के अङ्ग हैं।

रज्जू छाप मृद्भाण्ड, रूक्ष सतह वाले मृद्भाण्ड एवं मार्जित मृद्भाण्ड कैमूर क्षेत्र के नवपाषाण काल की विशेषताएँ है। सेनुवार के काल १ अ से कृष्ण-लोहित पात्र अत्यल्प संख्या में प्राप्त हुआ था।[८] यद्यपि इस प्रकार के पात्र अत्यल्प संख्या में हैं, परन्तु इसकी उपस्थिति उल्टा करके पात्र को पकाने की विधि का ज्ञान दर्शाता है। विन्ध्य क्षेत्र में इस प्रकार के पात्र (कृष्ण-लोहित-मृद्भाण्ड) नहीं बने थे। पात्रों को पकाने के पश्चात् उनपर लाल-गेरू रंग का चित्रण मध्य गंगा घाटी के अनेक पुरास्थलों से प्राप्त हुआ है, जो विन्ध्य घाटी में तो अनुपलब्ध है ही साथ ही साथ दक्षिण भारत के नवपाषाण कालीन संस्कृति में विद्यमान है, जिससे यह संभावना

---

६. पाल. जगन्नाथ. २००३. न्यूलिथिक कल्चर ऑफ दि बेलन वैली. पेपर प्रेज़ेन्टेड ऐट नेशलन सेमिनार ऑन दी मिडिल गंगा प्लेन्स थ्रू दी एजेज : अंडरस्टैंडिंग कल्चर्स थ्रू आर्कियोलॉजी एट ज्ञानप्रवाह. साइकलोस्टाइल कापी. पृ. १२

७ पूर्वोक्त. पृ०१२

८. सिंह. बी. पी.. अर्ली फार्मिंग ऑफ कैमूर फूट हिल्स. पुरातत्व. सं. १९, १९८८-८९. पृ. ४९ एफ. एफ.

व्यक्त की जा सकती है कि इस प्रकार के चित्रांकन की परम्परा का विस्तार दक्षिण भारत से उत्तर की ओर बिहार तक हुआ था।

सेनुवार में नव-ताम्र पाषाण काल तक मृद्भाण्ड निर्माण की मौलिक प्रकृति एक समान ही रही। पूर्ववर्ती काल के प्रमुख पात्र प्रकार जैसे मार्जित मृद्भाण्ड, रज्जू छाप मृद्भाण्ड, रूक्ष सतही मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। कृष्ण-लोहित-मृद्भाण्ड थोड़ी वृद्धि के साथ सीमित अनुपात में ही प्राप्त हुए हैं। दो कालों (नीवन पाषाण काल एवं ताम्रपाषाण काल) के संधिकाल में मृद्भाण्ड निर्माण कला में कुछ परिवर्तन एवं विकास हुआ।[९]

एक ही काल में भिन्न-भिन्न प्रकार के विशिष्ट मृद्भाण्डों का पाया जाना यह संभावना व्यक्त करता है कि क्या नवपाषाण काल का समाज भिन्न आर्थिक एवं सामाजिक समूहों में विभक्त था। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक विशेष प्रकार के पात्र का उपयोग समाज का एक विशेष वर्ग ही करता रहा होगा।

उत्खाता ने सेनुवर की एक खात से प्राप्त सामग्रियों का सांख्यिकी विधि द्वारा सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह जानकारी प्राप्त किया की काल 1 के पात्रों की संख्या सीमित थी और यह छोटे मध्यम एवं बड़े आकार के थे, जिनकी संख्या अत्यल्प है, के घड़े भिन्न आकार के कटोरे एवं तसले हैं। पहले दो प्रकार की तुलना में तसले की संख्या अत्यल्प है और मार्जित लाल मृद्भाण्ड में एक भी तसला नहीं प्राप्त हुआ है। कम संख्या में प्राप्त पात्रों में नालीदार कटोरे, ओष्ठयुक्त कटोरे, टोंटीदार पात्र और चिपटे आधार वाले पात्र हैं। यह पात्र-प्रकार पात्रों के व्यावहारिक उपयोग से जुड़ी हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेनुवार वासियों के आवश्यक कार्य इन पात्रों (घड़े, कटोरों एवं तसले) द्वारा सम्पन्न किए जाते थे। इन पात्रों का उपयोग ये विभिन्न कार्यों के लिए करते थे। इसलिए यह कहना कि किस पात्र का उपयोग किस विशेष कार्य के लिए किया जाता था (भोजन करने, भोजन परोसने, भोजन पकाने या भण्डारण के लिएं) कठिन है। प्रारूपिकी के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि छोटे एवं मध्यम आकार के मार्जित घड़े तरल पदार्थ (पानी, तेल) एवं सूखी सामग्रियों को रखने के उपयोग मे लाए जाते होंगे। इनका उपयोग भोजन पकाने में किया जाता रहा होगा पकाने हेतु प्रयुक्त पात्र के उपयोग का अनुमान इस आधार पर लगाया जाता है कि इसी प्रकार के घड़ों का उपयोग रोहतास क्षेत्र में अभी भी चावल-दाल पकाने में किया जाता है। अभी भी बड़े-बड़े पात्र घर के कोने में रखे जाते हैं और इनमें अन्न का भण्डारण किया जाता है। मध्यम आकार के कटोरे का व्यवहार तरल पदार्थ रखने या पीने में किया जाता था। घिसे पात्रों की श्रेणी के कटोरे जो (मार्जित मृद्भाण्ड) जिसका सतह चमकीला था एवं रिसाव मुक्त था, का उपयोग तरल पदार्थ को रखने में किया जाता था।

---

९. सिंह. बी. पी.. २००४ अर्ली फार्मिंग कम्यूनिटीज ऑफ दी कैमूर एक्सकवेशनस एट सेनुवार १९८६-८७-८९-९०. वॉ. I पब्लिकेशन स्कीम. जयपुर।

छोटे आकार के कटोरों जिनकी तुलना वर्तमान कटोरी से की जा सकती है, का उपयोग भोजन के समय सामग्रियों को परोसने में किया जाता था। नाली एवं टोंटीयुक्त कटोरों का व्यवहार जल परोसने में किया जाता था। इसके अतिरिक्त विशेष समारोह के अवसरों पर इनके उपयोग से इंकार नहीं किया जा सकता है। साधारण कटोरे एवं सपाद पात्र जो अत्यल्प प्राप्त हुए हैं और मार्जित मृद्भाण्ड जिन पर पकाने के पश्चात् लाल गेरू से चित्रांकन किया गया है, का बहुत ही सीमित एवं विशेष प्रयोग होता था, क्योंकि अधिक प्रयोग होने पर चित्रण का मिटना स्वाभाविक है। उत्खाता के मतानुसार इन मृद्भाण्डों का प्रयोग धार्मिक एवं तांत्रिक अनुष्ठानों में होता होगा।[१०]

काल 1 ब में विशेष उपयोग के अनुरूप पात्रों के निर्माण का विकास महत्त्वपूर्ण है। एक नए प्रकार का पात्र जो आकार में छोटा है, इस काल में प्रयोग में आया, ध्यान आकृष्ट करने वाला है। लम्बी ग्रीवा वाला पात्र आकारानुसार द्रव पदार्थ रखने के उपयोग में आता रहा होगा, न कि सूखे पदार्थ। एक लम्बी ग्रीवा के अतिरिक्त इसका छोटा मुख, गोल धड़, इसका व्यवहार घी या तेल रखने हेतु किया जाता था। इसी प्रकार छिद्र युक्त पात्र मारकोनी के सदृश पकवानों को रखने के लिए उपयोग में लाया जाता था। गहरे ओष्ठयुक्त मुख वाले **(Lipped Mouth)** पात्रों का उपयोग जल परोसने हेतु किया जाता रहा होगा।

चेचर कुतुबपुर (२४°,४५' १५' उत्तरी अक्षांश एवं ८५°,४०'३०' पूर्वी देशान्तर) के उत्खाता ने अपनी आख्या में वर्णन किया है कि नवीनपाषाण कालीन संस्कृतिक स्तर से उन्हें कृष्ण-लेपित मृद्भाण्ड के कुछ ठीकरे प्राप्त हुए हैं।[११] उनमें से कुछ ठीकरों पर पकाने के पूर्व श्वेत रंग से चित्रित प्राप्त हुआ है। सामान्यतया कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड मध्य गंगा घाटी में ताम्रपाषाणकालीन सांस्कृतिक स्तर से अथवा प्राक् उत्तरी कालीन चमकीली मृद्भाण्ड संस्कृति से प्राप्त होती है। इस प्रकार का मृद्भाण्ड नवीन पाषाणकालीन स्तर से न तो विन्ध्य क्षेत्र से प्राप्त हुआ है और न ही किसी अन्य पुरास्थल से। इस आधार पर उत्खाता ने चेचर कुतुबपुर के नवीन पाषाण कालीन संस्कृति को अन्य नवीन पाषाण कालीन संस्कृति से परवर्ती बताया है।[१२] चेचर कुतुबपुर से भी कृष्ण-लोहित-मृद्भाण्ड की प्राप्ति हुई है, जो निश्चय ही विन्ध्य क्षेत्र के नवीन पाषाण कालीन संस्कृति से परवर्ती सिद्ध करती है।

मनेर (२५°३८ रु उत्तरी अक्षांश एवं ८४°५२ रु पूर्वी देशान्तर) के उत्खाता वासुदेव नारायण ने मनेर के विषय में उत्खनन की विस्तृत आख्या नहीं प्रकाशित की है। काल प्रथम के नीचले स्तर से मार्जित धूसर मृद्भाण्ड की अपेक्षा मार्जित लाल मृद्भाण्ड ही प्राप्त हुयी जबकि क्रमशः दोनों का प्रतिशत एक समान हो गया।[१३]

---

१०. सिंह. बी. पी.. अर्ली फार्मिंग कम्यूनिटीज ऑफ कैमूर फूटहिल्स. पुरातत्व. सं. १९. १९८८-८९. पृ. १५६

११. इण्डियन आर्कियोलोजिकल रिव्यु. १९७४-७५ पृ. १७-१८

१२. अख्तर नसीम. १९९७. आर्ट एण्ड आर्कियोलॉजिकल ऑफ इस्टर्न इण्डिया, पटना म्यूजियम, पटना।

१३. नारायण. वासुदेव. १९९७. ए स्टडी ऑफ दी आर्कियोलोजिकल रिमेंस फ्रॉम नियोलिथिक टू दी मेडिएवल पीरीयड

यहाँ से कुछ ऐसे पात्र प्रकार प्राप्त हुए हैं, जो किसी अन्य पुरास्थल से आख्यायित नहीं है, जैसे बड़े आकार के अन्दर की ओर मुड़े कटोरे, लम्बी टोंटी वाला कटोरा, अधिक फैले अवठ वाला घड़ा, अवठ के भाग पर छिद्र किया हुआ घड़ा। यहाँ से घड़े, तसले, टोंटीदार हत्थायुक्त तसला, टोंटीदार कटोरा, छिद्रित जार, इत्यादि भी आख्यायित है। यहाँ से रज्जूछाप मृद्भाण्ड नहीं प्राप्त हुए हैं।

ताराडीह (२४°४२' उत्तरी अक्षांश ८५° ०' पूर्वी देशान्तर) के नवीन पाषाणकाल को दो उपकाल में विभाजित किया गया है। 1 अ एवं I ब।[१४] उत्खाता अजीत कुमार प्रसाद ने मार्जित लाल मृद्भाण्ड एवं मार्जित धूसर मृद्भाण्ड को ही आधार मानकर उपकाल अ को उपकाल 1 ब से अलग किया है। 1 अ में केवल लाल मृद्भाण्ड एवं मार्जित लाल मृद्भाण्ड की प्राप्ति हुयी है। 1 ब से मार्जित धूसर मृद्भाण्ड की प्राप्ति हुयी है। पात्रों के विषय में अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकला है कि सेनुवार, चिरांद, मनेर सदृश यहाँ के भी कुछ पात्रों पर पकाने के पश्चात् अवठ पर लाल गेरू से चित्रण किया गया था।[१५] उत्खाता ने यह संकेत दिया है कि यहाँ से रज्जू छाप मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं, परन्तु उन्होंने इसका विस्तृत विवरण नहीं दिया है।

इमलीडीह खुर्द (२६°३०' ३०' उत्तरी अक्षांश एवं ८३°१२'५' पूर्वी देशान्तर) को (काल 1) उत्खाता ने प्राक् नरहन संस्कृति की संज्ञा दी है। इस काल में केवल रज्जू छाप मृद्भाण्ड की ही प्राप्ति हुई है।[१६] प्रमुखतया ये मृद्भाण्ड हस्तनिर्मित ही हैं। रज्जू छाप मृद्भाण्ड नवीन पाषाण काल की एक विशेषता (लक्षण) है। अनेक लक्षणों में से एक लक्षण रज्जू छाप मृद्भाण्ड है। अत: किसी पुरास्थल से केवल रज्जूछाप मृद्भाण्ड की प्राप्ति के आधार उसे नवपाषाण काल की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि रज्जू छाप मृद्भाण्ड नवपाषण काल के साथ ही साथ ताम्रपाषाण काल एवं उत्तरकालीन चमकीली मृद्भाण्ड संस्कृति से भी प्राप्त हुए हैं। इसी आधार पर इमलीडीह खुर्द को कुछ विद्वानों ने नवपाषाण काल की संज्ञा देना अनुपयुक्त समझा है।

ऑफ गंगा बेसिन. बिहार. टेक्सट ऑफ ए लेक्चर डेलिवर्ड एट दी सेंटर ऑफ आर्कियोलोजिकल स्टडीज एण्ड ट्रेनिंग. इस्टर्न इंडिया कोलकाता साइक्लोस्टाइल कॉपी पेज न.१-१६

१४. प्रसाद. अजीत कुमार. १९९०. एक्सकवेशन एट ताराडीह-बोधगया. आर्कियोलॉजी एण्ड आर्ट कृष्णदेव फेलिसिटेशन वाल्यूम सम्पादित. सी.पी. सिन्हा। पृष्ठ - ६०५-६१५

१५. प्रसाद. अजीत कुमार. १९९०. एक्सकवेशन एट ताराडीह-बोधगया. आर्कियोलॉजी एण्ड आर्ट कृष्णदेव फेलिसिटेशन वाल्यूम सम्पादित. सी.पी. सिन्हा। पृष्ठ - ६०५-६१५ डिपार्टमेंट. लखनऊ।

१६. सिंह. पुरुषोत्तम. १९९३. आर्कियोलोजिकल एक्सकेवशन्स एट इमलीडीहखुर्द - १९९२. प्राग्धारा. जर्नल ऑफ दी यू. पी. आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेंट. लखनऊ।

लहुरादेवा (२६° ४६' उत्तरी अक्षांश एवं ८२° ५७' पूर्वी देशान्तर) यहाँ के काल 1 को दो उपकाल में विभाजित किया गया है। काल 1 अ एवं 1 ब।[१७] 1 अ से रज्जूछाप मृद्भाण्ड, लाल मृद्भाण्ड, मार्जित लाल मृद्भाण्ड एवं कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड की प्राप्ति हुई हैं।[१८] सम्पूर्ण मृद्भाण्ड का लगभग ५० प्रतिशत कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड है।[१९] मध्य गंगा घाटी में एकमात्र यही ऐसा पुरास्थल है, जहाँ से कच्छप शल्क की प्राप्ति हुई है। प्रमुख पात्र प्रकार कटोरा एवं घड़ा है।[२०]

काल ब में धूसर मृद्भाण्ड का आगमन हो गया है, एवं पात्रों के निर्माण तकनीक आदि में परिष्कार परिलक्षित होता है।[२१] ये सारे मृद्भाण्ड नवीन पाषाण कालीन पुरास्थलों से आख्यायित हैं। मध्य गंगा घाटी के मृद्भाण्ड परम्पराओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यह ज्ञात हुआ है कि यहाँ पर विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्ड परम्परा प्रचलन में थे, जिनमें से कुछ भारत के अन्य नव पाषाण कालीन मृद्भाण्ड परम्पराओं से समानता रखते हैं एवं साथ ही साथ इनमें कुछ क्षेत्रीय लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं। अध्ययन के पश्चात् निम्नांकित निष्कर्ष निकाले गये हैं-

(१) लाल मृद्भाण्ड, धूसर या मार्जित धूसर मृद्भाण्ड मध्य गंगा घाटी के सामान्य मृद्भाण्ड परम्परा है, जो सभी पुरास्थलों से प्राप्त हुए हैं तो भी काला मृद्भाण्ड, मार्जित लाल मृद्भाण्ड, कृष्ण-लोहित-मृद्भाण्ड, रज्जू छाप मृद्भाण्ड एवं रूक्ष सतह वाले मृद्भाण्ड केवल एक या दो पुरास्थलों से प्राप्त हुए हैं। वास्तविक रज्जू छाप मृद्भाण्ड केवल सेनुवर से प्राप्त हुए हैं एवं ताराडीह से भी आख्यायित हैं हालांकि इसके विषय में विस्तृत विवरण आख्यायित नहीं है। सेनुवर से प्राप्त रज्जू छाप मृद्भाण्ड के ठीकरे विन्ध्य क्षेत्र के रज्जू छाप मृद्भाण्ड के ठीकरे से समानता रखता है। चिरांद से केवल एक चटाई छापित ठीकरा प्राप्त हुआ है एवं यहाँ से रज्जू छाप मृद्भाण्ड नहीं मिले हैं।[२२] इसी प्रकार केवल सेनुवार से इस काल से रूक्ष सतह वाले मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं, मध्य गंगा घाटी में किसी अन्य पुरास्थल से इस प्रकार के मृद्भाण्ड नहीं प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के मृद्भाण्ड विन्ध्य क्षेत्र की मुख्य मृद्भाण्ड परम्परा हैं। इससे यह सम्भावना बनती है कि रज्जू छाप मृद्भाण्ड एवं रुक्ष सतह वाले मृद्भाण्ड जो विन्ध्य क्षेत्र के नवीन पाषाण कालीन संस्कृति की प्रमुख निर्माण परम्परा है, इनका नैरन्तर्य सेनुवार

---

१७. तिवारी. राकेश एवं अन्य. प्रिलिमिनीर रिपोर्ट ऑफ दी एक्सवकेवेशन एट लहुरादेवा. जि० संत कबीर नगर. उत्तर प्रदेश. २००१-२००२. वाइडर आर्कियोलॉजिकल इम्प्लीकेशन्स. प्राग्धारा. अंक १३. पृ. ३९

१८. पूर्वोक्त पृ.४०

१९. पूर्वोक्त पृ.४०

२०. पूर्वोक्त पृ.३९

२१. पूर्वोक्त पृ.४३

२२. सिन्हा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद. १९७०. न्युलिथिक कल्चर इन गंगेटिक वैली. पेपर प्रेजेन्टेड एट दी इन्टरनेशनल कांग्रेस ऑफ ओरियन्टलिस्ट इण्डियन आर्कियोलॉजी. १९६९-७०. पृष्ठ-३

तक मिलता है। जो भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य क्षेत्र से काफी निकट है, परन्तु जैसे-जैसे यह संस्कृति पूर्व एवं उत्तर पूर्व की ओर गई है, इन दोनों मृद्भाण्ड का प्रचलन समाप्त हो जाता है एवं सम्भवत: उसका स्थान कुछ अन्य मृद्भाण्ड परम्परा ले लेते हैं, जैसे कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड।

(२) मध्य गंगा घाटी से घड़े एवं कटोरे प्राप्त हुए हैं। परन्तु केवल चेचर कुतुबपुर एवं ताराडीह से जार प्राप्त हुए हैं। जिसका प्रयोग वे लोग किसी वस्तु का संग्रह करने में करते थे। ताराडीह से प्राप्त इस प्रकार कुछ जार पर अङ्गुष्ठ नख रज्जू छाप एवं अन्य सजावट किये गऐ थे। जिससे यह सम्भावना व्यक्त किया की जाती है कि इस पात्र का प्रयोग किसी अन्य विशेष उद्देश्य के लिए भी किया जाता रहा होगा। इसी प्रकार केवल मनेर, सेनुवार एवं ताराडीह से तसले प्राप्त हुए हैं, जिससे यह सम्भावना बनती है कि इन पुरास्थलों पर तसले का प्रयोग जार के रूप में किसी वस्तु के संग्रह किया जाता रहा होगा।

(३)यह भी एक रोचक तथ्य है कि विन्ध्य क्षेत्र से प्राप्त टोंटीदार मृद्भाण्ड लगभग सभी पुरास्थलों से प्राप्त हुए हैं इस प्रकार के मृद्भाण्ड का प्रयोग तरल पदार्थ को रखने या किसी धार्मिक या अन्य उद्देश्य के लिए किया जाता रहा होगा।

(४) चेचर कुतुबपुर के उत्खाता के अनुसार यहाँ से कुछ ऐसे ठीकरे प्राप्त हुए हैं, जिनकी तुलना परवर्ती काल के प्रसिद्ध कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड से की जा सकती है। इनमें से कुछ ठीकरों पर पकाने के पूर्व श्वेत रंग से अलंकरण किया गया था, जो सामान्यतया मध्य गंगा घाटी के ताम्रपाषाणकालीन/प्राक् उत्तरी काली चमकीली मृद्भाण्ड परम्परा की विशेषता है। ये मृद्भाण्ड प्रकार नवीन पाषाणकालीन स्तर से मध्य गंगा घाटी या विन्ध्य क्षेत्र के किसी भी पुरास्थल से नहीं प्राप्त हुए हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चेचर कुतुबपुर की नवीन पाषाण संस्कृति तुलनात्मक रूप से अन्य पुरास्थलों से परवर्ती है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०२२०-२२६)

भित्ति-चित्रों के क्रमिक ह्रास का कारण एवं सरंक्षण

डॉ० मीनाक्षी हुड्डा

भिवानी जिले के विस्तृत कलेवर को देखते हुए आभास होता है कि भिवानी एक प्रकार से भित्ति-चित्रण क्षेत्र में पर्याप्त धनाद्य रही है, लेकिन प्रागैतिहासिक काल से आज तक भित्ति-चित्रण जहाँ भी (गुफाएँ, हवेलियाँ, महल, स्मारक आदि हैं) देखने को मिलता हैं, वे स्थान प्राकृतिक और मानवीय कुकृत्यों से अब शनैः शनैः क्षतिग्रस्त होते जा रहे हैं। कदाचित् प्रकृति व मानव इन्हें कोई अत्यधिक सजा दे रहे हो।

आधुनिक तकनीक द्वारा अब विश्व भर में, दीवारों से कई कीमती कृतियाँ उखाड़ कर सरंक्षित की जाती हैं। कुछ गतिविधियाँ ऐसी होती हैं, जिनके कारण भी इन अमूल्य कृतियों को क्षति होती है, जैसे भित्ति-चित्रों की नकल के लिए उन्हें छुते हुए ट्रेस करना, उनके अध्ययनार्थ खुरचन-खोदन (माध्यम व तकनीक की जानकारी हेतु) या बेहतर सुरक्षा प्रदान करने के चक्कर में कारीगरों के हाथ गड़बड़ हो जाना, खराब हो जाना, पर्यटकों द्वारा कुरेद देना, नाम और तारीख लिख देना, स्मारक की सफेदी करते समय सफेदी करने वालों के हाथों चित्र कृतियों में क्षति होना। इस प्रकार से पुराने भित्तिचित्रों को अवारा मानव जाति और अवांछनीय व्यक्ति हमारी धरोहर को क्षति पहुँचाते हैं तथा प्राकृतिक बदलाव भी इन कृतियों को क्षरित करता है।

भित्ति-चित्रों को प्राकृतिक व मानव प्रकोप से बचाने के लिए रिस्टोरेशन ओर अवकलन सम्पूर्ण जानकारी देता है और भित्ति-चित्र के सौन्दर्य व स्वभाव पर भी पूर्ण जानकारी प्रदान करता है। रिस्टोरेशन भित्तिचित्र को लम्बा जीवन ही नहीं देता वरन् उसके टेक्स्ट और टैक्स्चर पर भी प्रभाव डालता है, साथ ही उसकी एब्सोल्युट फॉर्म को भी बताता है। भित्ति-चित्रों के नष्ट व क्षय होने के वैसे तो अनेक कारण हैं, लेकिन शोध अध्ययन दरमियान मुख्य रूप से निम्न निष्कर्ष निकले हैं-

१.भित्ति की तैयारी व रंगों के बनाने व प्रयोग करने की अकुशलता। २.सुरक्षा के उपायों की जानकारी न होना। ३.भवन के स्वामियों का अज्ञान व असावधानी।

क्षति के प्रकार

भित्ति-चित्र बन जाने के बाद समय के साथ-साथ क्षतिग्रस्त होना भी स्वाभाविक है और ये अनेक तरीकों से विकृत होजाते हैं। भिवानी के भित्ति-चित्र भी इससे अछूते नहीं है। भित्ति-चित्रों में होने वाली विकृति के भी विभिन्न घटक होते हैं अर्थात् दीवार, आधार या पलस्तर, रंग और सबसे ऊपरी सतह। इन घटकों में

अनेक प्रकार के परिवर्ततन होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि भित्ति-चित्रण पर केवल एक ही प्रकार की विकृति हो, एक ही समय पर यह अनेक तरीकों से क्षतिग्रस्त हो सकती हैं, जो प्राय: भित्ति-चित्रों पर होता है।[1]

दीवार

भित्ति-चित्रकारी का प्रथम घटक स्वयं दीवार है। यह किसी भी प्रकार से क्षतिग्रस्त होकर या कमजोर पड़कर चित्रों पर भी इसका प्रभाव डाल सकती है। लम्बे समय तक खुली पड़ी रहने से दीवार प्रकृति के थपेड़े वहन करने से कमजोर होती है।

कभी-कभी ग्रामीण क्षेत्र में ईटों को जोड़ने के लिए प्रयोग किया गया चूना-सीमेन्ट ठीक प्रकार से तैयार नहीं किया जाता और ऐसा चूना सीमेन्ट जिसमें अधिक मात्रा में सिलिका और ईंट का चूरा हो, आधार को कमजोर कर भित्ति-चित्रों को क्षतिग्रस्त कर देता है।[2] बड़वा में बोधूराम की हवेली में बना पाबुजी साँड्यों के साथ सोडा की ओर जाते हुए दीवार पर दो बड़ी-बड़ी दरारों का प्रभाव है।

पलस्तर

पलस्तर वियोजन-पलस्तर, सामग्री के चिपकाव के कारण चिपका रहता है। इन दोनों के बीच में बन्ध कभी-कभी ढ़ीला पड़ जाता है। इसमें नमी या आर्द्रता का स्थानान्तरण एक अहम् भूमिका अदा करता है। कोई भी कारण हो, यदि आधार और पलस्तर के बीच जुड़ाव हट जाता है, तो पलस्तर झड़ जायेगा। जुड़ाव खत्म होने का एक और कारण पलस्तर में उपस्थित स्तम्भक का ह्रास होना है। जब दीवार से पलस्तर हट जाता है, तो दीवार के आधार पर पलस्तर में एक अन्तराल आ जाता है। पलस्तर और दीवार के बीच में लवणों का जमाव या तीव्र गति से गर्म और ठण्डा होने से भी पलस्तर हट जाता है। दीवारों की आर्द्रता तत्त्वों में यकायक परिवर्तन, पलस्तर का दीवार से चिपकाव में कमी या पलस्तर और आधार के बीच यान्त्रिक दबाव बढ़ाना भी पलस्तर छोड़ने के कारण होते हैं।[3]

पलस्तर का गिरना

जब एक बार पलस्तर अलग हो जाता है, तो कभी-कभी यह टुकड़ों में गिर जाता है। कभी-कभी भित्ति-चित्रों के पलस्तर में यह कमी देखी जा सकती है। दीवार से अलगाव के बाद भी, पलस्तर अपनी स्वयं की आन्तरिक मजबूती की वजह से दीवार से चिपका रह सकता है। जब यह ऐसा नहीं कर पाता है, तो यह

---

१. Pathak, Rashmi, A Critical Study of materilas and Techniques of Rajasthan Murals and its Relationship to their Coservation : P. 25-26

२. Agrawal, O.P., Study of the Techinque of Indian Wall Paintings. Journal of India Museums, P. 98

३. वही. पृ० ११८

पलस्तर में जगह छोड़कर गिर सकता है। चोखानियों की हवेली व चरखी दादरी के मठ है, जिनमें यह स्थिति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

भुरभुरी सतह

कभी-कभी पलस्तर भुरभुरा और खुरदरा हो जाता है। ये विशेषतया तब होता है, जब सतह पर लवण तत्त्व उपस्थित होते हैं। लवण पलस्तर कणों के बन्धन को उसी तरह कमजोर करते हैं, जैसे वे पत्थर को करते हैं। रवा बनने पर लवण आकार में बढ़ जाते हैं तथा पलस्तर के घटकों पर दबाव डालते हैं, जिसके कारण यह टूट जाता है। इस प्रकार भित्तिचित्रों पर चूर्णवाली सतह बन जाती है। संरक्षकों के लिए इस प्रकार का क्षय एक प्रमुख चिन्ता का विषय है, क्योंकि इसके कारण प्रायः पलस्तर खत्म हो जाता है। इस चूर्ण से पलस्तर भुरभुरा हो जाता है। चोखनियों की गुरु वसिष्ठ, हनुमान् व तीसरा चित्र चक्रव्यूह चरखी दादरी के मठ में बने रास के साथ ही बड़वा की एक हवेली में बना राजसी व्यक्ति चित्र भी इस श्रेणी का उदाहरण है।

खुरदरी पलस्तर सतह

सतह के चूर्ण बनने के अतिरिक्त कभी-कभी चित्र और पलस्तर का खराब रूप उभरता है। प्रायः यह उन चित्रों में होता है जिन्हें कड़ी धूप और वर्षा का सामना करना पड़ता है। खानकियों की हवेली के बाहर वाली दीवार इस प्रकार की क्षति से प्रभावित है। उस पर भी हिरमिच में बना घोड़ा सबसे ज्यादा प्रभावित है।

रंगों की विकृति

धब्बे-भित्ति-चित्र पर अनेक प्रकार के धब्बे देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए नमी द्वारा छोड़े गए धब्बे, बारिश के पानी के धब्बे, पक्षियों की बीट, सूक्ष्म जैविक हमले और मानवीय गतिविधियों द्वारा बनाए गए धब्बे आदि।

हवा के कारण क्षरण

क्षरण प्रायः चित्र की सतह पर ही होता है। कुछ स्थानों पर, जहाँ धूल भरी हवाएँ चलती है, यह समस्या अधिक गम्भीर हो सकती है। उदाहरण के लिए भिवानी में अधिकांशतः खुली हवा में हवेलियों की बाहरी दीवारों पर भित्ति-चित्र है। रवादार हवाएँ खरोंच का काम करती है। परिणामस्वरूप चित्रकारी फीकी पड़ जाती है या उनका एकदम क्षरण हो जाता है।[४]

---

४. Butterfiled, Fiona, 1994, Reversion of Blackened Lead White on gouche Drawing - SSCR journal May, Vol-52

लवण का जमाव

सतह पर और नीचे की परत पर लवण का जमाव नमी और इसके वाष्पीकरण के कारण होता है। जमीन या कहीं से भी आने वाले जल में घुले लवण सतह पर आ जाते हैं तथा पानी वाष्प बनकर उड़ जाता है और पीछे लवण रह जाते हैं। कुछ लवण पलस्तर के मिश्रण में होते हैं या इसके विघटन से उत्पन्न हो जाते हैं। जब पूर्णतया सतह पर वाष्पीकरण होता है, तो लवण रह जाने की प्रक्रिया होती है। सतह पर सूखने के बाद लवण सफेद जमाव के रूप में दिखाई देते हैं। दूसरी ओर जब सतह पर नीचे वाष्पीकरण होता है तो छिद्रों में लवण के रवे बन जाते हैं, जो बढ़ने पर फट पड़ते हैं।

रंग का पपड़ी बनना

भित्ति-चित्र में रंग का पपड़ी बनना एक आम समस्या है। पपड़ी बनना साधारणतया टैम्परा चित्रकारी में देखा जाताा है। विभिन्न चित्रकारी परतों के चूर्ण बनने या टुकड़े बनने का सर्वाधिक आम कारण उपस्थित स्तम्भक का ह्रास होना है। प्राय: कार्बनिक प्रकृति के स्तम्भक का प्रकाश, ताप, नमी, कीट और सूक्ष्मजीवों की क्रिया द्वारा ह्रास हो सकता है।[५]

धूप या गर्मी की क्रिया द्वारा, बार-बार तापीय विस्तारण और संकुचन द्वारा स्तम्भक में चटक आ जाती है और दरार पड़ जाती है। सूर्य की पैराबैंगनी किरणों से रंग का ऑक्सीकरण होता है, जिससे अन्ततः चिपकाव और संयोग में कमी हो जाती है तथा क्रमशः पपड़ी का जमना और टूटना होता है।

रंग का घुलना

कभी-कभी वर्षा का जल सीधा चित्रों पर गिरता है, विशेषतया जब यह बाह्य दीवारों पर बने होते हैं। कभी-कभी जब छत से रिसाव होता है या टाईलें टूटी होती हैं, पानी सीधा रंग की हुई दीवारों व चित्रों पर गिरता है। ऐसी परिस्थति में भी रंग बरसाती पानी से घुल जाता है। धीरे-धीरे यह स्थिति सम्पूर्ण भित्ति-चित्र को क्षरित कर देती है। चरखी दादरी के समाधि मठ इस क्षति का सटीक उदाहरण हैं।

रंग का उड़ना

कभी-कभी चित्रकारी फीकी पड़ जाती है और दीवार पर लगे मूल रंग हल्के पड़ जाते हैं। रंग के फीका पड़ने और रंगों के बिगड़ने का प्रमुख कारण प्राकृतिक और कृत्रिम प्रकाश है। सामान्य प्रकाश में उपस्थित अल्ट्रावॉयलेट विकिरण में फोटोकैमिकल गुण होते हैं। इन विकिरणों से भित्ति-चित्रों में प्रयोग किये गए विभिन्न कार्बनिक रंजक फीके पड जाते हैं।

---

५. वहीं

जीर्णोद्धार के परवर्ती प्रभाव

अधिक सफाई के अतिरिक्त, कुछ रसायनों के लगाने से भित्तिचित्रों पर भारी प्रभाव पड़ सकते हैं। कुछ उत्पाद, जिन्हें रंग की सतह को जमाने के लिए या रंग को समृद्ध बनाने के लिये जीर्णोद्वार के दौरान लगाया जाता है, शायद रंग को प्रभावित कर सकते हैं। सन्तुलन की कमी, अधिक चमकाने या अधिक सफाई से चित्रों के सौन्दर्य, आकर्षण व कलाकार का भाव नष्ट हो जाता है।[६]

सतह का पीला पड़ना

अनेक प्रकार की मोम या अन्य सतही परतों और वार्निशों में स्वतः पीला पड़ने या काला होने की प्रवृत्ति है, जिससे चित्र का रंग खराब हो जाता है[७] जो की गई चित्रकारी और रंग विन्यास दोनों को झूठा दर्शाता है। सतह पर वार्निश लगाई जाती है, तो यह चित्र के रंगों को गहराता है। धीरे-धीरे यह रंग बदलना शुरू कर देता है, कभी पीला तो कभी भूरा बन जाता है। प्रायः चित्रण पर वार्निश की एक ताजा परत चढ़ाई जाती है। इस काम से चित्र में अस्थाई रूप से चमक आती है, लेकिन यह केवल अल्पकालीन है। वैसे भिवानी के भित्ति-चित्रों में इस प्रकार की क्षति का अभाव है।

धुँआ

अनेक चित्रित स्थल धुँआ और कालिख से ढक जाते हैं। विशेषतया जब उन स्थानों का उपयोग स्थानीय लोगों व निवास हेतु गड़रियों, ग्रामीण लोगों के अस्थाई निवास आदि द्वारा किया जाता है। वे स्वयं को ठंड से बचाने के लिए खाना पकाने और प्रकाश के लिए आग जलाते हैं। कुछ चित्रित मन्दिरों का प्रयोग नियमित प्रार्थनाओं के लिए किया जाता है। तेल के दीपक और अगरबत्तियाँ जलाई जाती हैं, जिनसे भारी मात्रा में धुँआ निकलता है। इस प्रकार से निकला हुआ धुँआ सतह पर जमा हो जाता है, जो कि चित्रों को स्पष्टतया मिटा देता है या पूर्णतया ढक देता है।[८] कुछ मामलों में तो यह कल्पना करना भी मुश्किल होता है, कि दीवार पर कोई चित्रकारी है।

पक्षी और चमगादड़

प्रायः हम देखते हैं कि पुराने पड़तल स्मारकों, मन्दिरों और हवेलियों के भीतर चमगादड़ होते हैं। छतों के नीचे उनके घोंसले होते हैं और वे दीवारों पर चित्रकारी को क्षतिग्रस्त कर देते हैं। चमगादड़ों का मल अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में भित्ति-चित्रों के लिए खतरनाक है। चित्रों पर चमगादड़ के मल के प्रभाव से

---

६. Oliver, A.C. 1988, Dawpness in buildings, Nicholas Publishing, New Yoark, P.P. 145-181

७. Agrawal, O.P. and Agrawal, Usha 1990&91, Conservation of Wall Paintings at Kusum Sarovar, Govardhan, Pragdhara No. 1, P. 176

८. अग्रवाल. ओ.पी. व रश्मि पाठक. भित्ति चित्रों की जांच और संरक्षण २००२ संदीप प्रकाशन. नई दिल्ली।

चित्रित भाग पूर्णतया गिर जाता है। उनका दूरगामी प्रभाव चमगादड़ मल और विभिन्न चित्रण सामग्री के बीच पर्यावरणीय स्थिति और रासायनिक क्रिया से सम्बन्ध है।

निर्जलीकरण

यह भी महसूस किया गया है कि अति सूखेपन के कारण दीवारों में एक प्रकार का निर्जलीकरण हो जाता है, जिससे क्षति भी हो सकती है। रञ्जक कण हल्की सी यान्त्रिक क्रिया से झड़ जाते हैं। पलस्तर, विशेषतया जिप्सम और मिट्टी तथा स्तम्भक जैसे अनेक घटक अपनी जोड़ने की शक्ति खो देते हैं और भुरभुरे बन जाते हैं।[९]

फफूँदी

फफूँदी द्वारा की गई क्षति बहुत व्यापक और गम्भीर होती है। चित्रकारी की शक्ल बदलने के अतिरिक्त, इसमें भीतर तक जाकर भीतरी परतों पर आक्रमण होता है। अनेक चित्रों पर फफूँदी द्वारा बनाए काले धब्बे देखे जा सकते हैं। विभिन्न कवकीय प्रजातियों के माइसीलिया चित्रकारी में भीतर तक घुस जाते हैं, जिससे कार्बनिक पदार्थ को क्षति पहुँचती है। इस प्रकार से उनके कारण रंग की परत उखड़ने लगती है।[१०]

बैक्टीरिया

बैक्टीरिया की वृद्धि और सीधी क्रिया से भी क्षति होती हैं। ये आक्रमण बहुत गम्भीर है, क्योंकि बैक्टीरिया से रंग का मूल रंग चला जाता है।[११] रंग चूर्ण और पूरी रंग की परत तेजी से संयोग खो देती है। यह पूरी सतह पर दानेदार अवलेप का रूप भी ले सकती है।

शैवाल

शैवाल अधिकांश उन चित्रों पर पाया जाता है, जो ९५ प्रतिशत से अधिक आर्द्रता और प्रकाश में खुली पड़ी रहती हैं। यह सतह पर हरी या काली परत के रूप में प्रतीत होती है। रंग की परत की शक्ल में परिवर्तन करने के अतिरिक्त अधिक लम्बी क्रिया से यह गम्भीर रूप से कमजोर पड़ जाएगी।

कीट

कीट पलस्तर के कार्बनिक पदार्थ को खा जाते हैं, जिससे यह भुरभुरा और चूर्ण सा बन जाता है। इससे प्रभाव के अतिरिक्त कुछ रञ्जक चींटियों के प्रिय माने जाते हैं तथा उनके द्वारा सारे रञ्जक समाप्त कर दिए

---

९. Agrawal, O.P. 1965, Painting Technique of a Kulu Mural, Studies in Museology, Vol-1, P.P. 22-25

१०. वही

११. वही

जाते हैं। दीमक भी भित्ति-चित्रों को क्षति पहुँचाती है। पलस्तर को क्षति पहुँचाने के अतिरिक्त वे चित्रित सतह और चूने के पलस्तर पर भी मिट्टी की नलियाँ बना देती है और चित्रों को पूर्णतया नष्ट कर देती हैं।

आग

यदि भित्ति-चित्र वाली इमारत में आग लग जाये, तो चित्रों को भारी क्षति हो सकती है। आग का सीधा परिणाम पलस्तर और चित्रों का जलना और टुकड़े बनकर गिरना है। यदि चित्रकारी नष्ट नहीं भी हुई, तो नीचे के चित्र आग की कालिख से ढ़क जायेंगे। चरखी दादरी वाले समाधि स्थल पर काँगड़ा प्रभावित रास चित्रों पर इसके प्रभाव स्पष्ट हैं। एक भित्ति-चित्र की प्रकृति विषम होती है तथा आग के द्वारा उत्पन्न उच्च तापमान भित्ति-चित्र के विभिन्न पदार्थों को अलग-अलग आयतनों में फैलाते हैं। विस्तार के बाद ये पदार्थ उसी सीमा तक संकुचित नहीं होते हैं, जिसके कारण दरार और क्षरण होता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भित्ति-चित्रों का अपघटन एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। किसी भी प्रकार की विकृति अन्ततः चित्रों पर झलकती ही है। अनेक प्रकार के पलस्तर होते हैं तथा वे समय के साथ बदलते हैं। रंग स्वयं एक अकेला घटक नहीं है, अनेक प्रकार के रञ्जक और बंध माध्यम होते हैं। कभी-कभी संरक्षण की दृष्टि से चित्रकारी पर वार्निश की जाती है तथा अपघटन भी इसके वातावरण, इसके रख-रखाव, इसके स्थान, मन्दिर के बाहर या अन्दर या एक आवासीय घर, पर निर्भर करता है।[१२]

१२. Geigl, Spot Test in Organic Analysis, Elservier Pub., Vol-I & II.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०२२७-२३०)

Psychology in Pre Upanisadic period

Dr. Vikram Singh
Dr. C. P. Khokhar

The earliest document not only of the Indian mind but also of the mind of the entire human race is the Vedas. Vedic literature consists of four different classes of collections viz. (I) Samhita, (2) Brahmana, (3) Aranyaka, and (4) Upanishad, which dealt with (I) hymns of prayer, benedictions, (ii) secret doctrines of forest hermits and (iv) philosophical speculations, respectively. These four classes of texts roughly corresponded to the four stages (Asramas) of life viz. Brahmacharya, Grihastha, Vanaprastha and Sannyasa. Philosophical ideas systematized in the Upanishads, were thus the product of the last stage of life, characterized by the culmination of human experience and by maturity of thought. The subject matter of pre-Upanisadic works has thus been pure theology, liturgy, religious rites, sacrifices and incantations. We should therefore not expect anything philosophical or psychological from this early literature of Indians.

A few philosophical speculations are found here and there. The pluralism and henotheism in the shape of obeisance to and a belief in a number of gods gradually gave way to monotheism according to which the universe emanated from one great being Purusa or Prajapati or Hiranyagarbha or Visvakarman and that there is chief deity superior to all the gods, who is one but named in various ways. The most important hymn in this connection is the hymn of creation and the Purusa sukta.[1] In X, 72 the world is said to have emerged from non-existent. The cosmic forces arise from the infinite. In X, 121 the universe is said to have arisen out of pre-existent matter, 'the golden egg' (Hiranyagarbha). In X, 90 (Purusa Sukta) the material out of which the universe was made is spoken of as Purusa, the body of primeval agent with 1000 heads and 1000 feet. The Purusa hymn is the oldest pantheistic literature in India. It is this 'Purusa' that becomes the soul of the Sankhya philosophy. Thus Vedic cosmology is in a nebulous form, and there is lack of clearness and consistency. There is confusion of the combination of the theory of evolution with that of creation.

Some eschatological references also are there. Yama prepares resting place for the departed.[2] The soul departs and takes to a path different from that of gods.[3] Reward

---

1. Rgveda, X, 90
2. Rgveda, X, 14, 1
3. X, 6, and IX, 41, 2

of meritorious deeds is given in heaven. An agnostic spirit also is evident in the later Vedic period, when doubt was expressed about the fundamentals of creation.[4]

But this cosmology, ontology, and eschatology lead us nowhere. It does not help us to discover any psychological principles in the Vedic literature. Hence there are only catchy references about mind, knowledge, intuition and the organs of senses.

1. Desire as the creative energy:

We read of mind as the cosmic principle of which desire is said to be the creative energy. This desire (Kama) can be compared to the elan vital of Bergson, but not to the sex of Freud. It suggests that an intelligent entity is the source of creation. This later on leads to the idea of Mahat or Buddhi in Sankhya.

2. Manas as Mind:

The word Manas is used everywhere for mind. 'Let us know each other's mind.[1] Let our mind be the same.[2] The word Chitta is used at some places almost synonymous for mind.[3] *"Arise you friends with one mind'.*[4] The moon is said to have sprung up from the mind of purusa.[5] The five senses have been mentioned freely. The types of Prana also have been mentioned at certain places.[5]

The concord hymn in Atharva Veda (III, 30) uses a number of psychological phrases e.g. shard yam, samanasyam. The word medha is used for intellect or intelligence.

3. Characteristics of mind:

The concept of mind is dealt with in some details in the Vajasaneya Samhita. There are six verses beginning from 'yajjagrato' to......................... 'tanme manah siva samkalpamastu'. These verses are freely used as prayer. The concept of mind in these verses is given as 'mind as a whole'. Roughly it corresponds to antahkarana including sense-organs and excluding soul. Some of the characteristics of mind mentioned in these verses are:

(a.) Mind goes out far (durangamam) and is the swiftest (jawistam), as it is unhampered by the limitations.' of time and space. The faculty of imagination is referred here.

(b.) Mind is intelligence (prajnanam), feeling (cetas) and resolution { dhritih). It roughly corresponds to the cognition, affection and will- the tripartite divisions of mental life.

(c.) Mind holds the past, present and future all together and is thus the unifying principle of knowledge. Mind holds the entire consciousness.

---

4. Rgveda, X, 121 and I, 24; I, 185; X, 86

5. Atharva, XI, 5, 124

(d.) Mind has a volitional phase, which leads each individual to action, as a charioteer leads the horses.

(e.) The Vedic devotee prays for mental peace and pure thoughts (siva samkalpam).

4.The significance of human mind:

The significance of human mind is further elucidated in Aitareya Aranyaka II. A comparison is made between the mind of men and that of animals.

"He says what he has known. He knows the future. He knows both the world and the non-world. He desires the experience of the other animals is confined to the object of hunger and thirst. Whatever they know, they can't speak. Nor can they see what they know. They do not know the future. They do not know the world and the non-world."

According to Aitareya Aranyaka, all reality exists in so far as it is known. The cognition is divided into the (a) knower (Prajna), (b) the intellect (Prajna) and the cognition (Prajnanam).

There are references in Satapatha Brahmana about the perception and cognition of things, and the relation of name and form with mind.[6] This Brahmana again discusses at another place[7] the self, which possesses intelligence and will. It is here that a new concept of the identity of the individual self and the universal self merges. But the doctrine lacks psychological analysis.

5.The Self and Mind:

The doctrine of self emerges in Satapatha Brahmana. It is further elucidated in Aitareya Brahmana (II, 6). It is the Self that is the object of our meditation. It is that by which one sees, hears, smells, tastes and feels. The characteristics of mind are enumerated through a number of concepts viz. awareness (Sanjna), comprehension (Ajnanam), understanding (Vijnanam), knowledge (Prajnanam), retentiveness (medha), insight (Dristi), resolution (Dhritih), opinion (mati), memory (smrti) reflection (manisa), impulse Gjito), will (Sankalpa), purpose (kratuh), life (ayush), desire (Kama), control (vasa). All these are names of mind or knowledge (Prajnam).

Aitareya Brahmana suggests that all reality is knowledge. The reality depends upon our mind. It does not, however, mean that reality has no objective existence. But it suggests that it is the self that appears as the object of knowledge I the orm of the universe as well as the subject of knowledge. A sort of idealistic pantheism was propounded at this stage, which as further elaborated in the Upanishads.

---

6. Satapatha Brahmana XI, 2, 3, 1
7. Satapatha Brahmana X, 6, 3

Thus in the pre-Upanisadic period, mind generally denotes consciousness and is used for certain powers which form ideas and decisions. Certain mental faculties have been listed, but these have no coherence or system. A vague connection of mind is sought with the self. The five senses have been mentioned, and the function of mind to control these has been referred to.

Reference:

Akshya Kumari nevi., *Quintessance of the Upanisads,* Calcutta, n.d **Bihari,** B., *Mysticism in the Upanishads,* Gorakhpur, 1940 **Besant, Annie,** *Wisdom of the Upanishads,* Benaras, 1907
Brown, G. W., *The Human Body In the Upanishads,* Jabalpur,1921. **Pandit, M.P .,** *Upanisads: Gateway of Knowledge,* Madras.
Raghunath Safaya., *Indian Psycholo.f!Y,New* Delhi. 1976.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००७ अङ्क ७ (पृ०२३१-२३५)

Water resources conservation in Vedas.

Devendra S. Malik and P.K. Bharti

Introduction:

In Vedic period (5000 B. C.), many Rishis (spiritually enlightened scientists) studied different aspects of water, and created awareness about the maintenance of water resources and availability of pure water (Khulbe, 1988).

It is a common saying that "Life is not possible without water". No body can imagine life without water. Water is our basic need even animal and plant can't survive without water. Thus life and water are inseparable faces of the same coin.

इमा आप: प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशिनी:।[8]

"Pure water is curable for all diseases, it save us from death. It's precious."

In Vedic Literature water is mainly called, as *Apha* we all know that waters is the elixir of life. All living organisms plants and animals are structurally 30-98% water. Besides being a structural component of body water is essential environmentally too. Water is the medium through which nutrients of soil underneath and above on the surface move horizontally as well as vertically water has great power of dissolving most of the inorganic components in mixture form and in the pure elemental and ionic form.[9]

Water provides a medium for interaction among different compounds water is a great nurture for plants as well as for animals water helps in conducting of energy the form of heat helps in maintaining a soothing climate, water acts as a rejuvenator and medicament it self (Rig 1.23.19).

नाप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजपामुत प्रशस्तये।

देवा भवत वाजिन:।[10]

According to Rigveda, "Water provides a medium for interaction among different compounds water is a great nurture for plants as well as for animals water helps in conducting of energy the form of heat helps in maintaining a soothing climate, water acts as a rejuvenator and medicament it self."

---

८. अथर्व०३.१२.९

९. (Bharti and Malik, 2005).

१०. ऋग्वेद १/२३/१९

Unfortunately, due to political changes, regular increase in human population, faulty planning, lack of coordination among different departments and misinterpretation of our religious heritage, our water resources have not only been diminishing but also being polluted for the last many years.

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभि स्रवन्तु नः।।[11]

"Water is precious and beneficial for our health and to provide us desires. Pure water brings happiness for us."

Underground water is one of the major water resources for domestic, agricultural and industrial uses. Pollutants are being added to the ground water and soil system through various human activities and rapid growth of industrialization, which affects the human health directly or indirectly.

Pradushana (Pollution):

Ground water is used for domestic supply, industries, and agriculture in most part of the world as it is a replenishable resource and has inherent advantage over surface water. There has been a tremendous increase in the demand of fresh water due to growth in population, advanced agriculture practices and industrial usages.[12]

In the last two decades, the rapid growth of industrialization and urbanization has created negative impacts on the environment. Due to industrial, municipal and agricultural wastes containing pesticides, insecticides, fertilizers residues and heavy metals with water; ground water has been polluted.[13]

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा।।[14]

"Don't dump the waste into river, never drain urine and other byproducts; otherwise water will be polluted, which may be harmful for living organisms."

Although many of the metals are essential components of the biological system yet some of these are potentially toxic. The detection and determination of metal ions of biological importance at ultra level in aqueous and biological material provides valuable information concerning their distribution and role in natural systems and finally related to the human health (Mohan and Sharma, 2002). Heavy metals are usually present in trace amounts in naturally waters but many of them are toxic even at very low concentration. Metals such as arsenic, lead, cadmium, nickel, mercury,

---

११. ऋ० १०/९/४

१२. Bachmat, 1994

१३. Sastry et al. 1999

१४. मनु०४.५६

chromium, cobalt, zinc and selenium are highly toxic even in minor quantity. Increasing quantity of heavy metals in our resources is currently an area of greater concern especially since a large number of industries are discharging their metal containing effluents in to fresh water with out any adequate treatment (Canter, 1987).

Sanrakshana (Conservation):

India is a rich country in natural resources. One has to realize the need and importance of water conservation. Conservation and management of water resources was advocated even in ancient times when there was not much pressure on this resource. This is evident from this verse as quoted from the Atharva Veda:

आपो यद् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।।[15]

i.e. water of river, well, pond etc, if used and managed efficiently will reduced the intensity of drought and water scarcity. Some such strategies of water conservation/management are described in his pamphlet. Water is used in everything people do; for irrigation, for industry, for power generation, for navigation, drinking, cooling, waste disposal and recreation. The demand for water is continually growing globally at an accelerated pace. The demand for water in various sectors including domestic use, irrigation, energy and industry etc, are gradually increasing day by day. The total quantum for water available on the average may be enough to meet all our demands put together. But its availability is highly irregular. It is not available in places where we want it, at times when we want it and in which we want it – hence the need for conservation.

Conservation is defined as preservation against loss of waste. Technically conservation of water implies the same meaning in a much wider perspective. Briefly stated it means putting the water resources of the country for the best beneficial use with all the technologies at our command. In other words, surface water running down to sea should be stored to the maximum extant, evaporation and other losses minimized and benefits spread with the sole criteria of maximum benefit to maximum number having due regard to the properties like drinking, irrigation, industrial use, navigation etc.

Water conservation basically aims at matching demand and supply. The strategies for water conservation may be either demand oriented or supply oriented. The strategies may vary depending upon the field of water use domestic, irrigation or industrial. Some of the supply oriented strategies such as creation of storage; long distance transfer and control of water loss through evaporation are generally common

---

१५. अथर्व०२.२३.१

to all the fields of water use, whereas the others may be applicable only to specific field.

Storage of water by construction of various water resources projects has been one of the measures of water conservation. A reference from Vrahat Sanhita (550 A.D.) as quoted below describes utility of ponds for effective storage of water.

A pond laid East to West remains water for a long time while one from North to South is spoilt invariably by the waves raised by the winds. To render it stable the walls have to be lined with timber or with stone and the adjoining soil strengthened by stamping and tramping of elephants, horses etc.[16]

The bank must be shaded by Kakubha, Veta, Amra, Plaksa, Kadamba, Nicula, Jambu, Vetasa, Nipa, Kuravaka, Tala, Ashoka, Madhuka and Bakula Trees.[17]

The scope of storage varies from region to region depending upon water availability, topographic conditions etc. Besides, cost of construction has gone fairly high. On an average the cost of creating irrigation potential by building dams and canals is as much as Rs. 40000 to Rs. 50000 per hectare. The environmental impacts of such storage also need to be examined for developing an environmentally balanced strategy.

Use of groundwater has been practiced from ancient times. Following verses as quoted from Vrahat Sanhita (550 A.D.) will make this aspect clear:

The water, which falls from the sky originally has the same colour and same taste, but assumes different colour and taste after coming down on the surface of earth and after percolation.[18]

On digging if we will get yellow frog at a depth of half Purusha, then yellow soil, then rocks, certainly then we will get ample amount of water beneath.[19]

Reference:

Bachmat, Y. (1994): Ground water as part of the water system. In Ground water contamination and control." ed. V. Zoller. Marcel Dekker, Inc, New York, pp: 1-560.

Bharti, P.K. and Malik, D.S. (2005): Significance of Rivers in Vedic literature, *Gurukula Shodha Bharti*, 4: 217-221.

Bhutiani, R. and Khanna, D.R. (2005): Water in Vedas, *Gurukula Shodha Bharti*, 3: 225-231.

Canter, L.W. (1987): Ground water quality protection. *Lewis publications*. Inc., Chelsea, MI, pp: 1-650.

---

१६. बृहत् संहिता-५४.११८

१७. बृहत् संहिता-५४.११९

१८. बृहत् संहिता-५४.२

१९. बृहत् संहिता-५४.२

Deming, H.G. (1975): Water the fundamentals of opportunity. *Oxford University Press, New York.* pp: 942.

Rao, D.S. and Govind, B.V. (1964): Hydrobiology of Tungbhadra reservoir. *Indian J. Fish,* 2(1): 321-344.

Kataria, H.C. (2000): Preliminary study on the drinking water of Piparea Township. *Poll. Res.* 19 (4): 645-649.

Khulbe, R.D. (1988): Water and aquatic resources of Kumaon Himalaya: Problems and Management. In: Management of aquatic ecosystem edited by Agrawal, V.P.; Desai, B.N. and Abidi, S.A.H., pp: 119-129.

Mohan, Devendra and Yogesh Sharma (2002): Trace metals in a few water bodies of Pali, Rajsthan. *J. Natcon.* 14 (2): 363-366.

Sastry, K.V. and Pratima Rathee (1999): Ground water quality in three villages of Rohtak district. *J. Natcon,* 11(2): 175-182.

लेखक-परिचयः

१. प्रो० (डॉ०) सत्यदेव मिश्र, पूर्व कुलपति, राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

२. डॉ. रघुवीर वेदालंकार, रामजस कॉलेज, दिल्ली.

३. डॉ. कुलदीप सिंह आर्य, अध्यक्ष संस्कत विभाग, डी०ए०वी०कॉलेज, अमृतसर

४. डॉ० उमाकान्त यादव, रीडर, संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०

५. डॉ. जितेन्द्र कुमार, प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, दयानन्द कालेज, रामगंज, अजमेर (राजस्थान)

६. डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार, रीडर श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गु०का०वि०वि० हरिद्वार.

७. डॉ० वेदपाल, रीडर संस्कृत-विभाग, जनता वैदिक कॉलेज (बड़ौत) बागपत

८. डॉ. सोमदेव शतांशु, रीडर संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

९. डॉ. विनय कुमार विद्यालंकार, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, लोहाघाट, चम्पावत

१०. डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य, रीडर दर्शन दर्शनशास्त्र-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

११. डॉ. मीनाक्षी उपाध्याय, द्वारा-प्रो. वेद प्रकाश उपाध्याय, जी-१२, सेक्टर १४, चण्डीगढ़

१२. डॉ. मंजुल गुप्ता, ३०, भू. पू. रीडर संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, दौलतराम एनक्लेव, टर्नर रोड, क्लेमेण्ट टाउन, देहरादून (उत्तराखण्ड) दूरभाष:-०१३५-२६४३४५६, ९४१२९१४३७५.

१३. डॉ. विनोद कुमार गुप्त, वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय नई टिहरी, (उत्तराखण्ड) दूरभाष: ०१३७६-२३४९६४, ९४१२३९४६०२

१४. डॉ. भगवान् दास, ज्योतिष विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

१५. डॉ. ईश्वर भारद्वाज, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

१६. डॉ. वीरेन्द्र अलंकार, रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ तथा डॉ. सुषमा अलंकार, ई-८७ परिसर, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

१७. डॉ. हरीश्वर दीक्षित, रीडर अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर (उ०प्र०) आवासः-टीचर्स कालौनी महाविद्यालय परिसर के पीछे राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर (उ०प्र०)

१८. डॉ. सत्य प्रकाश शर्मा, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, स्वामी विवेकानन्द राजकीय स्नातकोतत्तर महाविद्याल लोहाघाट, चम्पावत (उत्तराखण्ड) ९४१२९२९७९५, ०५९६५-२३४३९५

१९. डॉ. मृदुला जोशी, प्रवक्ता हिन्दी-विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार.

२०. डॉ. लेखराज शर्मा, व्याख्याता दर्शन शास्त्र, सनातन धर्म आदर्श संस्कृत महाविद्यालय डोहगी, ग्राम+पो० डोहगी, वह० बंगाणा, जिला ऊना (हिमाचल प्रदेश) १७४३०७

२१. डॉ० शिवनी विद्यालङ्कार, भारतीयम्, ज्ञानलोक कालौनी, कनखल, हरिद्वार

२२. डॉ. सीताराम नैथानी, प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग, हे० नं० ब० ग०, विश्वविद्यालय, स्वामी रामतीर्थ परिसर, बादशाहीथौल, टि० म०

२३. डॉ० सुरेन्द्र कुमार, रीडर, संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

२४. डॉ. श्रीमती उमा जैन, रीडर संस्कृत-विभाग, मुन्नालाल एण्ड जयनारायण खेमका गर्ल्स कॉलिज, सहारनपुर (उ०प्र०) निवासः-गिल कालौनी, निकट थाना सदर, सहारनपुर दूरभाषः ०१३२ २७२०६७५.

२५. डॉ. राजिन्द्रा शर्मा, हिल टॉप अपार्टमेण्ट्स ढींगू धार, संजौली, जि० शिमला (हि०प्र०)

२६. डॉ. आशारानी वर्मा, वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, नेशनल पी०जी० कालेज, भोगाँव, मैनपुरी (उ०प्र०) निवासः-द्वारा-डॉ. जे.एस. गुप्ता, सेवानिवृत्त प्रिंसिपल, अवध नगर, मैनपुरी (उ०प्र०) दूरभाषः-०५६७२-२३५३८९

२७. डॉ. हेमलता श्रीवास्तव, /२८९, गोविन्दपुर कालौनी, इलाहाबाद (उ०प्र०) ०५३२-२५४१८१६.

२८. डॉ. दीपा गुप्ता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२९. दीपक कुमार राय, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गांधी स्मारक त्रिवेणी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नरदह (आजमगढ़)

३०. श्रीमती मीनाक्षी हुड्डा, व्याख्याता, ललित कला विभाग, महर्षि दयानन्द वि०वि०, रोहतक, हरियाणा

३१. डॉ. सी. पी. खोखर, रीडर मनोविज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, तथा डॉ. विक्रम सिंह, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

३२. डॉ. देवेन्द्र मलिक, रीडर पर्यावरण-विज्ञान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. एवं पवन भारती, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, फोटो स्टेट प्रति स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही अपठनीय लेख में लिखी हुई प्रति के आधार पर लेख प्रकाशित कराना सम्भव नहीं होगा।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिन लेखों में शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, उनको प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल-शोध-भारती के लिये कम्प्यूटर से टंकण कराये गये शोध-निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके। साथ ही टंकण के समय **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत करने में सुमगता रहे।
- जो विद्वान् अपने शोधपत्र को कम्प्यूटर टाइपिंग (वाकमैन चाणक्य फोंट में) करने के उपरान्त सी.डी. बनवाकर प्रेषित करेंगे, उनके शोधनिबन्ध प्राथमिकता के आधार पर प्रकाशित किये जायेंगे।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये भेजें।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आफॅ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.,
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :- ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार- २४९[illegible] (उत्तरांचल)

मुद्रक : किरण ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : ०१३३४-२४५९७५